हिंदी-साहित्य : एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ० रतिभानु सिंह 'नाहर'

भारती भवन
पटना—१

भारती भवन
एक्जिबीशन रोड
पटना-१ द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण
१९६९

सुपरफ़ाइन प्रिंटर्स,
१-सी० बाई का बाग,
इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

मूल्य : ३·००

आमुख

इतिहास-दर्शन

प्रत्येक सभ्य देश का अपना पृथक् इतिहास होता है। बहुत दिनों तक देशों के इतिहास का अपना पृथक् दर्शन भी रहा है। मध्यकाल तक तो निश्चित रूप से इतिहास-दर्शनों में विभाजक रेखा खींची जा सकती थी। कालांतर में जीवन के मानववादी तथा मानवतावादी दृष्टिकोण ने इस विभाजक रेखा को क्रमशः क्षीण करना आरम्भ किया और इतिहास-दर्शनों की मान्यताओं में समन्वयवादी दृष्टिकोण उपस्थित होने लगा। यहाँ हमारा संबंध भारतीय इतिहास-दर्शन से ही है। अतः हम उस ओर संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं।

जहाँ तक 'इतिहास' शब्द के प्रयोग का प्रश्न है, अथर्ववेद में इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया गया है। शतपथ ब्राह्मण, जैमिनीय वृहदारण्यकोपनिषद् तथा छांदोग्योपनिषद् में भी 'इतिहास' शब्द आया है। इस समय तक इतिहास का विषय क्या था इसका बोध हमें विष्णुपुराण की टीका में श्रीधर स्वामी द्वारा उद्धृत निम्न श्लोक से हो जाता है,—

> र्षादिबहुव्याख्यान देवर्षिचरिताश्रयम्।
> इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भूतधर्मयुक्॥

महाभारतकार ने इतिहास का आदर्श बताते हुए कहा है,—

> धर्मार्थकाममोक्षणामुपदेशसमन्वितम्।
> पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥

स्पष्ट है, जीवन के सर्वांग को समेटकर हमारा इतिहास चलता रहा। भौतिकता के साथ-साथ आध्यात्मिकता भी इसके घेरे में सिमटी थी। पूर्ववृत्त इसका प्रमुख विषय रहा जो स्वयं 'इति ह आस्तेऽस्मिन्' से स्पष्ट है। कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में इन्हीं मान्यताओं के आधार पर इतिहास का लक्षण इस प्रकार निर्धारित किया था—

> पुराणमितिवृत्तमाख्यायिकोदाहरणम्।
> धर्मशास्त्रम् अर्थशास्त्रं चेतिहासः॥

इतिहास-पुराण शब्द आगे चलकर युग्मशब्द बन जाते हैं और कहीं-कहीं तो वे एक-दूसरे के पर्याय के रूप में आते हैं, पर इनमें सूक्ष्म भेद भी था जिसकी गहराई में जाने की यहाँ आवश्यकता नहीं। स्वयं पुराण युगगत प्रवृत्तियों का कथात्मक, उपदेशात्मक अथवा काव्यात्मक विवरण है।

अतः इतिहास-पुराण की यह भारतीय मान्यता इसका सबल प्रमाण है कि प्राचीन काल से ही भारतीय इतिहास-दर्शन जीवनगत घटनाओं तक ही सीमित न रह-कर युगगत प्रवृत्तियों को समेटकर चलता रहा। हमारे इतिहास का विषय मानवता के दृष्टिकोण पर धर्म का उत्थान-पतन रहा है। यहाँ व्यक्ति के स्थान पर समाज को महत्त्व दिया जाता रहा है और हम जानते हैं कि महापुरुष, चाहे राजनीतिक क्षेत्र के हों या धार्मिक अथवा साहित्यिक क्षेत्र के, अधिकांशतः ऐतिहासिक प्रवृत्तियों के निमित्तमात्र हैं। हमारे प्राचीन इतिहासग्रंथ इसी मान्यता पर आधारित हैं। इसमें संदेह नहीं कि संस्कृत में व्यक्तियों को महत्त्व देनेवाले कुछ प्रसिद्ध जीवनी-साहित्य भी उपलब्ध हैं, पर इन चरित-काव्यों एवं जीवनियों में भी घटनाओं की अपेक्षा प्रवृत्तियों की झाँकी अधिक सशक्त एवं प्रबल है।

यूनानी इतिहासकार हिरोदोतस ने 'हिस्ट्री' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया था, जिसका अर्थ खोज और अनुसंधान था। पाँचवीं शती ई०पू० के इस यूनानी इतिहासकार ने 'हिस्ट्री' के लक्षण बताते हुए सूचित किया है,—

१. यह वैज्ञानिक विद्या है, अर्थात् इसकी पद्धति आलोचनात्मक है।

२. यह एक मानवीय विद्या है, अर्थात् इसका उद्देश्य मानव के कार्य-कलापों का अध्ययन करना है।

३. यह तर्क-संगत विद्या है, अर्थात् इसके निष्कर्ष और तथ्य साक्ष्यों पर आधारित हैं।

४. यह शिक्षाप्रद विद्या है, अर्थात् इसका कार्य अतीत के आलोक में भविष्य की खोज करना है, जिससे मनुष्य का मार्ग-प्रदर्शन संभव हो सके।

प्राचीन युग में प्रायः सभी सभ्य देशों में इतिहास सिद्धांततः अनुसंधान का विषय बना रहा, पर व्यवहारतः यह घटनाप्रधान ही रहा। मध्यकालीन इतिहासकारों का एक वर्ग व्यक्तियों के इतिहास को महत्त्व देता रहा तो दूसरा युग की प्रवृत्तियों को। पर इस दूसरे वर्ग के इतिहासकारों की संख्या अत्यंत स्वल्प रही। मूलतः इतिहास की गवेषणा के दो रूप रहे हैं—१. तथ्यों का निरूपण तथा २. उनकी व्याख्या। पर ये दोनों परस्पर इतने संश्लिष्ट हैं कि इन्हें पृथक् करना कभी भी संभव न हो सका। यही कारण है कि फिशर तथा पोपर, जो व्याख्या का निषेध करते रहे, इससे पूर्णतः मुक्त न हो सके।

आधुनिक युग के प्रारंभिक चरणों तक यही द्विविध स्थिति चलती रही। किसी देश के इतिहास को घटनाप्रधान चित्रित करनेवाला इतिहासकार भी प्रवृत्तियों के मूल्यांकन से अपने को पृथक् नहीं रख सका। राजवंशों, विजेताओं, शासकों आदि की प्रशस्तियों के रचयिताओं को हम यहाँ लक्ष्य नहीं करते, पर विशुद्ध इतिहास-लेखकों ने

तथ्यों के निरूपण के साथ-साथ व्याख्याओं को भी स्थान दिया है। किसी देश का सांस्कृतिक इतिहास तो मूलतः प्रवृत्तिमूलक ही होता है, राजनीतिक इतिहास भी इससे अछूता नहीं रह पाता।

अब प्रश्न यह उठता है कि साहित्य के इतिहास के लेखन की क्या सम्भावनाएँ हो सकती हैं और इसकी दृष्टि क्या हो सकती है? अनेक पाश्चात्य आलोचकों ने साहित्य के इतिहास की निरर्थकता की बात कही है। सी० बैलेक, डब्ल्यू० पी० कर आदि अनेक विद्वान् साहित्य के इतिहास की अनुपयोगिता को स्वीकार करते हैं। पर विरोधों के होते हुए भी उन्नत साहित्य का आगे-पीछे अपना इतिहास लिखा गया। प्रारंभ में इन ग्रंथों को 'इतिहास' शब्द से विभूषित भले ही न किया गया हो, कालांतर में ये साहित्य के इतिहास के रूप में स्वीकार कर लिए गए और तब ऐसी भी रचनाएँ होने लगीं जिन्हें स्पष्टतः साहित्य का इतिहास घोषित किया गया।

विषयांतर न होकर हम हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखन के इतिहास पर दृष्टि डालते हुए रचना के आधार की ओर अर्थात् रचनाकार की दृष्टि की ओर संकेत करते हुए प्रतिपाद्य को स्पष्ट करेंगे।

हिंदी-साहित्य के इतिहास-लेखन की परंपरा एवं प्रगति

हिंदी-साहित्य का इतिहास—यदि इसे इतिहास कहा भी जाय तो—सर्वप्रथम कवि-विवरण के रूप में उपलब्ध होनेवाला फ्रेंच साहित्य में गार्सां द तासी की **'इस्त्वार द ला लितेरात्योर ऐंदुई ऐं ऐंदुस्तानी'** है जो दो भागों में क्रमशः १८३९ ई० तथा १८४६ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें उर्दू-कवियों के अतिरिक्त ७० हिंदी-कवियों की जीवनी और उनकी रचनाएँ उल्लिखित हैं। तत्पश्चात् सन् १८७३ में महेशदत्त शुक्ल का **'भाषा काव्य-संग्रह'** प्रकाशित हुआ। दस वर्षों के बाद शिवसिंह सेंगर का **'शिवसिंह सरोज'** प्रकाश में आया जिसमें कवियों की संख्या सौ तक पहुँच गई। पर उपर्युक्त तीनों इतिहासों को हम कवि-विवरण-मात्र या कविवृत्त-संग्रह भर कह सकते हैं। सन् १८८९ ई० में एक अन्य विदेशी विद्वान् जार्ज ग्रियर्सन का **'मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान'** प्रकाशित हुआ जिसमें कवियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई, पर इसकी विशिष्टता केवल इस दृष्टि से ही न होकर इस तथ्य में भी निहित है कि इसमें काल-विभाग के साथ-साथ समय-समय पर उठी हुई प्रवृत्तियों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। बाबू श्यामसुन्दरदास-कृत **'हिंदी कोविद रत्नमाला'** भी जीवनी-परक ग्रंथ के रूप में सन् १९०९ और १९१४ ई० में दो भागों में आई। इसमें आधुनिक ८० लेखकों का वृत्त-संग्रह प्रकाश में आया। इन सभी ग्रंथों को हम सरलतापूर्वक कवि-विवरण कह सकते हैं। हिंदी-साहित्य के इतिहास को वास्तविक गति प्राप्त होती है

मिश्र-बंधुओं के **'मिश्रबंधु विनोद'** से, जिसके प्रथम तीन भाग सन् १९१३ ई० में प्रकाशित हो चुके थे तथा चतुर्थ भाग २१ वर्ष के बाद प्रकाशित हुआ। इसी पुस्तक में हम साहित्य के इतिहास की अपेक्षित दृष्टि का कुछ सीमा तक निर्वाह पाते हैं। इसमें कवि-विवरण के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर भी प्रकाश डाला गया तथा कवियों का मूल्यांकन भी किया गया। पर यह भी अंततः व्यक्तिप्रधान ही रह गया है। इसी प्रकार पं० रामनरेश त्रिपाठी की **'कविता कौमुदी'**, जो सन् १९१७ में प्रकाशित हुई, ८९ कवियों का जीवन-विवरण-मात्र रही और इसके दूसरे भाग में ४९ आधुनिक लेखकों का विवरण दिया गया।

सन् १९१७ में ही एडविन ग्रीव्स का **'ए स्केच ऑफ हिंदी लिटरेचर'** प्रकाश में आया और तीन वर्ष बाद एफ० ई० के० की पुस्तक **'ए हिस्ट्री ऑफ हिंदी लिटरेचर'** का प्रकाशन हुआ। इन दोनों पुस्तकों में साहित्य की गतिविधियों का परिचय दिया गया। श्री वियोगीहरि का **'ब्रजमाधुरी सार'** पुनः पूर्वावस्था की ओर प्रत्यावर्तन के रूप में सन् १९२३ ई० में प्रकाश में आया, जिसमें ब्रजभाषा के २६ कवियों का जीवन एवं काव्य के उदाहरण दिए गए। हिंदी-साहित्य के विकास पर प्रकाश डालनेवाला प्रथम आलोचनात्मक इतिहास श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने लिखा जो **'हिंदी-साहित्य-विमर्श'** के नाम से १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का पांडित्यपूर्ण विभाजन और मूल्यांकन किया गया है तथा कवियों एवं लेखकों के साहित्यगत व्यक्तित्व पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इसके बाद श्री गंगाप्रसाद अखौरी की पुस्तक **'हिंदी के मुसलमान कवि'** (१९२६ ई०) एवं श्री गौरीशंकर द्विवेदी का **'सुकवि सरोज'** (सन् १९२७) प्रकाश में आया। ये दोनों ग्रंथ भी जीवन-चरित्र एवं उदाहरण तक ही सीमित रहे। इतिहास-लेखन में युगांतरकारी परिवर्तन लानेवाली रचना है आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का **'हिंदी-साहित्य का इतिहास'**, जिसका प्रकाशन १९२९ ई० में हुआ था। आचार्य शुक्ल ने साहित्य के इतिहास के संबंध में यह स्पष्ट घोषणा की कि "जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि चित्त-वृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है।" स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने घटना और व्याख्या दोनों को समान रूप से महत्त्व प्रदान करते हुए हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखा। इसके बाद दर्जनों पुस्तकें आईं जिनमें अधिकांश शुक्लजी की परंपरा में ही किसी न किसी रूप में व्यवस्थाप्य हैं। कुछ पुस्तकों में अंधानुकरण और कुछ पुस्तकों में आवश्यक-अनावश्यक विस्तार-मात्र रहा। कुछ पुस्तकें

प्रवृत्तियों की ओर अधिक झुकीं तो कुछ पुस्तकें ऐतिहासिक अनुसंधानों, सांस्कृतिक पर्यावरणों तथा वर्गगत या कालगत विशेषताओं को अपना लक्ष्य लेकर आईं। कुछ ऐसी रचनाएँ भी प्रकाशित हुईं, जिनमें आलोचना को ही प्राथमिक महत्त्व दिया गया।

हिंदी की प्रमुख धाराओं, विकास एवं विस्तार का निरूपण करते हुए बाबू श्यामसुन्दर दास का **'भाषा और साहित्य'** १९३० ई० में प्रकाशित हुआ। इसी समय 'हरिऔध' जी ने **'हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास'** लिखा। श्री सूर्यकांत शास्त्री का **'हिंदी-साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास'** तथा श्री 'रसाल' जी का **'हिंदी-साहित्य का इतिहास'** भी आगे-पीछे इसी समय में प्रकाशित हुआ। आधुनिक युग के इतिहास पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए श्री कृपाशंकर शुक्ल ने **'आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास'** सन् १९३४ ई० में प्रकाशित करवाया और पाँच वर्षों के बाद श्री इंद्रनाथ मदान का **'मॉडर्न हिंदी लिटरेचर'** अँगरेजी में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष पं० मोतीलाल मेनारिया का **'राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा'** प्रकाशित हुई। सांस्कृतिक पर्यावरण का नए ढंग से मूल्यांकन करनेवाली पुस्तक **'हिंदी-साहित्य की भूमिका'** (सन् १९४०) द्वारा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक बहुत बड़ी कमी की पूर्ति की। एक वर्ष बाद ब्रजरत्नदास का ग्रंथ **'खड़ीबोली हिंदी-साहित्य का इतिहास'** प्रकाशन में आया, जिसमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिंदी-साहित्य की विवेचना की गई। इसी वर्ष 'माधव' जी ने ३० संत कवियों का कालक्रमानुसार **'संत साहित्य'** में विवरण प्रस्तुत किया। प्रवृत्तियों की ओर भी संकेत किया गया, पर यह ग्रंथ आलोचनात्मक कम, भावात्मक अधिक है। आलोचनात्मक इतिहास की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के निरीक्षण में **'आधुनिक हिंदी-साहित्य'** के नाम से डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय तथा डॉ० श्रीकृष्ण लाल के ग्रंथ प्रकाश में आए, जिनमें क्रमशः १८५० ई० से १९०० ई० तक तथा १९०० ई० से १९२५ ई० तक के हिंदी-साहित्य की दिशा एवं विकास, समकालीन परिस्थितियों आदि का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया। सन् १९३८ में डॉ० रामकुमार वर्मा का ग्रंथ **'हिंदी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'** प्रकाशित हुआ, जिसमें सांस्कृतिक परिस्थितियों, प्रवृत्तियों आदि के साथ हिंदी-साहित्य के प्रथम एक हजार वर्षों का आलोचनात्मक इतिहास प्रस्तुत किया गया। इस पुस्तक में सन् ६९३ ई० से १६९३ ई० तक की गतिविधियों का विवरण दिया गया है। अभी हाल में नागरी प्रचारिणी सभा ने एक योजना बनाकर कई खंडों में हिंदी-साहित्य का इतिहास प्रकाशित करने का निश्चय किया है, जिसके कुछ खंड प्रकाशित हो चुके हैं। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही साहित्य का मूल्यांकन करने का यह प्रथम उल्लेखनीय प्रयास है।

हिंदी-साहित्य के इतिहासों का वर्गीकरण

यह वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया जा सकता है। जैसे, सामान्य दृष्टि से, विवेचन की शैली की दृष्टि से, भाषा के आधार पर, प्रवृत्तियों के आधार पर, विषयों की दृष्टि से तथा सांस्कृतिक दृष्टि से। **सामान्य दृष्टि** से हम अब तक के प्रकाशित इतिहासों को दो स्थूल विभागों में बाँट सकते हैं। प्रथम विभाग में वे ग्रंथ संमिलित हैं जिनमें कालक्रमानुसार क्रमबद्ध विवेचनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ, आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा 'हरिऔध' जी के इतिहास लिए जा सकते हैं। इस वर्ग वाले ग्रंथों में केवल सामान्य प्रवृत्तियों का उल्लेख ही संभव है, पर इनसे संपूर्ण साहित्य का स्पष्ट स्वरूप हमारे सामने उपस्थित हो जाता है। द्वितीय विभाग में हम उन ग्रंथों को ले सकते हैं, जिनमें विशेष प्रवृत्तियों एवं सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रवृत्तियों का निरूपण किया गया है। पृष्ठभूमि में कार्य करनेवाली धाराओं का भी विस्तारपूर्वक अध्ययन इन ग्रंथों में प्रस्तुत किया गया है। श्री कृष्णशंकर शुक्ल, श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, श्री श्रीकृष्णलाल आदि के इतिहास इसी कोटि में आते हैं।

विवेचन की शैली के आधार पर भी हिंदी-साहित्य से इतिहास-ग्रंथों का वर्गीकरण किया जा सकता है, जिसके चार प्रमुख उपवर्ग हो सकते हैं,—

१. रचनाकारों की जीवनी, उनके सामान्य दोष-गुण और उनकी रचनाओं के उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले कवि-विवरण-ग्रंथ। हिंदी-साहित्य के प्रारंभिक इतिहास-ग्रंथ प्रायः इसी कोटि में संमिलित किए जा सकते हैं।

२. प्रवृत्तियों आदि पर लिखे गए निबंधों के संग्रह, जैसे आचार्य नंददुलारे वाजपेयी की पुस्तक 'हिंदी-साहित्य : बीसवीं सदी' तथा सत्येंद्रजी की 'साहित्य की झाँकी'।

३. आचार्य शुक्ल की पद्धति पर लिखे गए ग्रंथ।

४. साहित्य की प्रवृत्तियों तथा उनके स्वरूप की निगमन-शैली में व्याख्या करनेवाले ग्रंथ, जिनमें पृष्ठभूमि का व्यापक और पूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करते हुए रचनाकारों की कृतियों का अध्ययन भी किया गया है। ऐसे ग्रंथों में रचनाकार के व्यक्तिगत महत्त्व पर कम, प्रत्युत धारा को महत्त्व देते हुए धाराविशेष में किसी कवि या लेखक का क्या योगदान रहा है इसपर अधिक बल दिया गया है। डॉ० वार्ष्णेय तथा डॉ० श्रीकृष्ण लाल के इतिहास इस कोटि की उत्तम रचनाएँ हैं।

भाषा के आधार पर भी हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखा गया जिनमें 'ब्रजमाधुरी सार' (श्री वियोगी हरि), 'राजस्थानी साहित्य की रूप-रेखा' (पं०

मोतीलाल मेनारिया), 'खड़ीबोली हिंदी साहित्य का इतिहास' (श्री ब्रजरत्नदास) आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रवृत्तियों के आधार पर अनेक पुस्तकें आई हैं, जिनमें श्री अनन्त मराल शास्त्री-लिखित 'रामभक्तिशाखा', ओमप्रकाश अग्रवाल-लिखित 'हिन्दी गीति-काव्य', श्री केशवनारायण-लिखित 'कृष्णकाव्य में भ्रमरगीत', श्री पीतांबरदत्त बड़थ्वाल-लिखित 'निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोयट्री' आदि का नाम लिया जा सकता है।

विषयों की दृष्टि से भी कुछ इतिहास-ग्रंथ लिखे गए; जैसे श्री शिवनारायण श्रीवास्तव का 'हिंदी उपन्यास', श्री गंगाप्रसाद पांडेय का 'आधुनिक कथा-साहित्य', श्री जगन्नाथप्रसाद शास्त्री का 'हिंदी की गद्यशैली का विकास', श्री जनार्दनस्वरूप अग्रवाल का 'हिन्दी में निवंध-साहित्य' इत्यादि।

सांस्कृतिक दृष्टि से लिखे गए ग्रंथों में हम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'हिंदी-साहित्य की भूमिका' को ही प्रमुख स्थान दे सकते हैं।

विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा जो अनुसंधान-कार्य हो रहे हैं, उनसे हिंदी-साहित्य के इतिहास पर महत्त्वपूर्ण खोजें हो रही हैं और उनसे भी हमारा ऐतिहासिक साहित्य समृद्धिशाली होता जा रहा है। यह अनुसंधान साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में हो रहा है। कवियों की प्रामाणिक जीवनियाँ, उनके ग्रंथों की प्रामाणिकता, साहित्य को प्रभावित करनेवाली शक्तियाँ एवं परिस्थितियाँ, साहित्य की विभिन्न विधाओं के उद्‌भव एवं विकास, विभिन्न शैलियों इत्यादि पर पर्याप्त कार्य हो चुका है और अब भी हो रहा है। इन अनुसंधानों से 'इतिहास' शब्द की सार्थकता बहुत कुछ सिद्ध हो सकेगी, ऐसी संभावनाएँ हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का दृष्टिकोण

प्रस्तुत पुस्तक का दृष्टिकोण मूलतः ऐतिहासिक रहा है, जिसमें सांस्कृतिक इतिहास पर बल दिया गया है। वास्तव में इतिहास की इति केवल तिथिक्रम (क्रॉनॉलोजी) तक ही सीमित नहीं है, सांस्कृतिक पर्यावरण एक लंबी अवधि या युग तक को अपनी बाँहों में आबद्ध किए रहता है। किसी देश का राजनीतिक इतिहास राजवंशों के सीमित घेरे में भले ही बाँध दिया जाय, पर उसके सांस्कृतिक इतिहास को किसी ऐसे ही घरौंदे में नहीं बिठाया जा सकता। यही कारण है कि सभ्यताओं का इतिहास लिखनेवाले पूर्ववर्ती सभ्यता के अनुदानों की ओर, जो शताब्दियों की थाती समेटकर चलते हैं, संकेत करना आवश्यक समझते हैं। नवोदित सांस्कृतिक तत्त्वों के कारणों की व्याख्या भी वहाँ अपेक्षित होती है। आशय यह कि हम तिथिक्रमानुसार साहित्य के इतिहास को ही पूर्णतः ऐतिहासिक दृष्टि से लिखा गया नहीं स्वीकार कर

सकते हैं, वास्तविक ऐतिहासिकता तो सांस्कृतिक धारा में निहित है। बस, इसी आधार पर मैंने प्रस्तुत पुस्तिका की रचना की है। साहित्य की विधाओं का भी साहित्य के इतिहास में अपना पृथक् महत्त्व है। इनके उद्भव एवं विकास भी ऐतिहासिकता के अंग हैं। अतः सांस्कृतिक पर्यावरण एवं धाराविशेष की सामान्य प्रवृत्तियों के साथ-साथ विभिन्न विधाओं के उद्भव एवं विकास का भी क्रमागत इतिहास प्रस्तुत किया गया है। सांस्कृतिक परंपराओं—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक परंपराओं के साथ-साथ साहित्यिक परंपराओं का भी परवर्ती साहित्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। अतः इन्हें भी प्रस्तुत पुस्तिका में उचित स्थान दिया गया है।

एक बात और। व्यक्तित्व के विकास में इच्छा-शक्ति का भी महत्त्व मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है। यह इसी शक्ति का प्रतिफल है कि आधुनिक भौतिकतावादी युग में भी समाज तथा साहित्य के क्षेत्र में भौतिकता के स्थान पर आध्यात्मिकता को प्रश्रय देनेवाले व्यक्तित्वों का आविर्भाव हुआ और राष्ट्रीय नवजागरण के पहलुओं के साथ-साथ मध्यकालीन धर्म-सुधार-आंदोलन की कड़ी को आगे बढ़ानेवाले धर्मसुधारकों का भी उदय होता है और उधर साहित्य में भी पौराणिक विषयों की ओर दृष्टि डालनेवाले रचनाकार आते हैं। इन सबके पीछे जो तत्त्व कार्यरत रहते हैं, उनकी ओर भी मैंने यथास्थान संकेत किया है। आशय यह कि साहित्यकार की रचना के मूल में अथवा किसी विशेष धारा में बहने के मूल में जो प्रमुख कारण होते हैं उनकी ओर भी मैंने ध्यान दिया है जिससे साहित्य के इतिहास के प्रति पूरी ईमानदारी बरती जा सके। आशा है, साहित्य के विद्यार्थियों को इससे वह दृष्टि मिल सकेगी, जिससे वे अपने साहित्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन में एक दिशा प्राप्त कर सकेंगे।

—लेखक

विषय-सूची

प्राक्कथन

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अध्ययन का महत्त्व

साहित्यकार अपने युग की उपज होता है। युग की राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्थाओं, साहित्यिक तथा धार्मिक परंपराओं का स्पष्ट प्रभाव उसकी रचनाओं पर पड़ता है। वास्तविकता यह है कि साहित्यकार के व्यक्तित्व के निर्माण में जितना उसकी इच्छा-शक्ति का हाथ होता है, उससे कहीं अधिक तत्कालीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण का।

पूर्व मध्यकालीन भारत में वीर तथा श्रृङ्गारपरक साहित्य का सर्जन, मध्यकाल के प्रारंभिक युगों में विशुद्ध भक्ति अथवा भक्ति-परक साहित्य का निर्माण, उत्तर मध्यकाल में श्रृङ्गार प्रधान कविताओं की रचना तथा आधुनिक युग में विविध ज्ञान-विज्ञान तथा विकास से संबद्ध साहित्य का निर्माण इस तथ्य का प्रोज्ज्वल प्रमाण है कि युग की परिस्थितियाँ साहित्यकार को विशेष दिशा की ओर उन्मुख करती हैं। अतः साहित्यकारों का अध्ययन करते समय उनकी परिस्थितियों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है।

ऊपर व्यक्तित्व के निर्माण में इच्छा-शक्ति के महत्त्व की ओर संकेत किया गया था। वस्तुस्थात यह है कि साहित्यकार एक अति जागरूक प्राणी होता है। वह वातावरण को तथ्यतः स्वीकार कर लेने में ही संतोष का अनुभव नहीं कर पाता है, उसकी अपनी कुछ इच्छायें होती हैं, अपनी भावनायें होती हैं। युग की परिस्थितियों का उसकी भावनाओं से मेल खाना सर्वथा आवश्यक नहीं है। जहाँ वह इस प्रकार का विरोध पाता है, वहाँ उसके सम्मुख उलझन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। अतः यह उलझन उसे एक नई दिशा के अन्वेषण के लिए प्रेरित करती है। युग की विषमताओं के प्रति उसका विद्रोह सजग हो उठता है अथवा वह इन विषमताओं में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा करता है। ऐसी ही परिस्थितियों में हम साहित्यकार को अपनी इच्छा-शक्ति से प्रभावित होते हुए देखते हैं।

इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक समीक्षा शास्त्री ऐतिहासिक एवं मनोवैज्ञानिक आलोचना को महत्त्व प्रदान करते हैं। कवि की रचना को समझने के लिए स्वयं कवि को समझना आवश्यक है, इसका समर्थन अधिकांश आधुनिक विद्वान् करते हैं। कवि को समझने का अर्थ है उसके युग तथा उसके व्यक्तित्व दोनों का सम्यक् अध्ययन करना। अतः इसके पूर्व कि हम हिन्दी के प्रमुख साहित्यकारों का अध्ययन

करें, हम पहले हिन्दी-साहित्य के चारों कालों की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन

हिन्दी-साहित्य का आरंभ कब से हुआ, इस संबंध में विद्वानों में मतभेद है। आचार्य शुक्ल ने इस संबंध में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि "प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिंदी-साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है। उस समय जैसे 'गाथा' कहने से प्राकृत का बोध होता था, वैसे ही 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्य-भाषा का पथ समझा जाता था। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिंदी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योग मार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् १०५० के लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य-रचनाओं में भी पाया जाता है।"

डा० रामकुमार वर्मा ने इस संबंध में थोड़ा भिन्न मत व्यक्त किया है और वे इसका आरंभ ५० वर्ष पूर्व से ही मानते हैं। उनके मतानुसार "हिन्दी का प्रारंभ मगही भाषा में उन सिद्धों की कविता में हुआ, जिन्होंने बौद्ध-धर्म के वज्रयान सिद्धांत का प्रचार आठवीं शताब्दी से करना आरंभ किया।"

आरंभ की अवधी की भाँति ही हिंदी के एक हजार वर्षों के इतिहास के विभिन्न युगों के नामकरण से संबद्ध भी अनेक मत हैं। कुछ लोगों ने प्रवृत्तियों के आधार पर युगों का नामकरण किया है तो कुछ ने साहित्य-विधाओं को इसका आधार बनाया है। हमें यहाँ इन मतवादों की गहराई में नहीं जाना है प्रत्युत आचार्य शुक्ल के सर्वमान्य काल-विभाजन को आधार बनाकर अपना अध्ययन आगे बढ़ाना है।

हिंदी-साहित्य के इतिहास को आचार्य शुक्ल ने निम्नलिखित चार कालों में विभक्त किया है—

(१) आदिकाल (वीरगाथा काल, संवत् १०५०-१३७५)

(२) पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् १३७५-१७००)

(३) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् १७००-१९००)

(४) आधुनिक काल (गद्यकाल, संवत् १९००)

यहाँ हम प्रत्येक काल की सामान्य परिस्थितियों प्रवृत्तियों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे—

अध्याय १

आदिकाल

आदिकाल का आरंभ हम ईसा की दसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से मानकर चलते हैं और इसका अंत चौदहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में स्वीकार करते हैं। अतः यहाँ दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक की अवस्थाओं को अध्ययन का विषय बनाया जाएगा। हमें ज्ञात है कि इस युग के प्रारंभिक दिनों में भारत पर तुर्की आक्रमण होते हैं, जिनसे यहाँ विदेशी तुर्कों का राज्य स्थापित होता है और तब हिंदी के आदिकाल के अंतिम युगों में दास तथा खिलजी वंशों के शासन का युग चलता है। आशय यह कि तुर्कों के आक्रमण से लेकर खिलजी वंश के अंत तक के युग को परिस्थितियों का सामान्य परिचय प्राप्त करना ही यहाँ हमारा लक्ष्य है। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से इस अध्ययन को दो विभागों में विभक्त करना आवश्यक है,—

(१) मुसलमानों के भारतीय आक्रमण के युग का भारत (पूर्वार्ध)

(२) दास एवं खिलजी वंश के शासनाधीन भारत (उत्तरार्ध)।

पूर्वार्ध (दसवीं से तेरहवीं शताब्दी का प्रथम चरण) : सांस्कृतिक पर्यावरण

हमारा यह अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत व्यवस्थित है,—

(१) राजनीतिक अवस्था,

(२) आर्थिक अवस्था,

(३) सामाजिक अवस्था तथा

(४) धार्मिक अवस्था।

राजनीतिक अवस्था—विचाराधीन युग में संपूर्ण देश विभिन्न राजनीतिक इकाइयों में बँट चुका था। मध्यदेश, जिसका सीधा संबंध हिंदी-साहित्य से था, विभिन्न राजपूत राज्यों में बँटा हुआ था, जिनमें कन्नौज के गहड़वाल, मालवा के परमार, गुजरात के सोलंकी, अजमेर के चौहान, उज्जैन के गुर्जर-प्रतिहार, महोबा के चन्देले आदि विशेष उल्लेखनीय थे। उधर उत्तर में हिमालय प्रदेश के राज्य—अफगानिस्तान, काश्मीर, नैपाल तथा आसाम आदि भी अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाए हुए थे। पूर्व में बंगाल के पाल तथा सेन वंश का क्रमशः शासन स्थापित रहा। दक्षिण भारत में राजपूत राज्य चालुक्य, राष्ट्रकूट, कल्याणी के परवर्ती चालुक्य, देवगिरि के यादव, वारंगल के काकतीय, द्वारसमुद्र के होयसल, पल्लव, चोल, पांड्य तथा चेरि आदि अनेक राज्यों में

पूरा भारत बँटा हुआ था। एकराट की प्राचीन भारतीय कल्पना की कोई गुंजाइश नहीं रह गई थी। इतना ही नहीं, यदि ये राजनीतिक इकाइयाँ अपनी अधीनस्थ भूमि तथा उसके निवासियों की उन्नति की चिंता करतीं तो बहुत संभव था कि देश को उस गहन अंधकार का सामना नहीं करना पड़ा होता, जो आगामी शताब्दियों में उसके सम्मुख होता है। यहाँ तो स्थिति यह थी कि इन राज्यों के शासक पड़ोसी राज्यों से युद्ध करना अपना परम-कर्त्तव्य समझते थे। साम्राज्य-विस्तार की चिंता से भी अधिक लिप्सा थी शौर्य-प्रदर्शन की। जिस भू-भाग से हमारा प्रत्यक्ष संबंध है अर्थात् सिंध तथा गंगा के मैदान का प्रदेश, वहाँ न केवल छोटे-छोटे अनेक राज्य थे प्रत्युत उनकी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता चरम सीमा पर पहुँच गई थी। अनवरत युद्धों में व्यस्त रहने के कारण इन राज्यों की आर्थिक स्थिति भी ठीक न थी। राजाओं की कला-प्रियता तथा दानशीलता—जो मंदिर, मठ तथा विद्यालयों के निर्माण के रूप में देखने को मिलती है—राज्य की आय का एक बहुत बड़ा अंश खींच लेती थी। तलवारों की झंकार तथा रणभेरियों की प्रतिध्वनियों से गूँजने वाले राजगृह एवं राजप्रासाद रंगरेलियों में भी कम सराबोर न थे। यहाँ सूर्योदय का स्वागत मारू बाजे तथा प्रत्यंचा की टंकार से होता था तो सूर्यास्त का अभिवादन नूपुरों की झंकार से।

राजनीतिक दृष्टि से हम उत्तर भारत को पूर्णतया विश्रृंखल एवं खोखला पाते हैं। यहाँ वीर राजाओं अथवा वीर सैनिकों का अभाव न था, अभाव था संगठन का। ऐसी ही स्थिति में भारत पर अरबों, तुर्कों का आक्रमण होता है। मुहम्मद बिन-कासिम के आक्रमण (७१२ ई०) की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए पिरीतगीन तथा सुबुक्तगीन (९७७-९९७ ई०) ने पश्चिमोत्तर सीमा पर आक्रमण किए थे और तब आक्रमणों का यह ताँता महमूद गजनवी तथा मुहम्मद गोरी द्वारा गतिमान किया गया। अब तक ये आक्रमणकारी पूरे पश्चिमोत्तर भारत तक अपना अधिकार प्राप्त कर चुके थे। इस ओर कोई भी ऐसा शक्तिशाली राज्य नहीं रह गया था, जिस पर तुर्की तल-वारों की नोकें नहीं गड़ चुकी थीं, अथवा जहाँ तुर्की, अरबी घोड़ों की टापें नहीं सुनाई पड़ चुकी थीं। अकेले महमूद गजनवी (९९८-१०३० ई०) ने भारत पर सत्रह बार आक्रमण किये थे। हिंदी भाषी प्रदेश पर हुए उसके आक्रमण राजनीतिक तथा आर्थिक दोनों दृष्टियों से देश के लिए घातक सिद्ध हुए। मुहम्मद गोरी (११९१-१२०५ ई०) तो देश के भीतरी भाग में घुस आया और उसने लाहौर पर अधिकार प्राप्त कर लेने के पश्चात् दिल्ली और अजमेर चौहान-नरेश पृथ्वीराज पर आक्रमण कर दिया। सफलता शत्रु को ही मिलती रही। इसके बाद तो पूरा का पूरा उत्तर-भारत रौंद डाला गया। न जाने कितने मंदिर मस्जिदों में बदल दिए गए। करोड़ों की संपत्ति लुटेरों के हाथ लगी। इतिहास के विद्यार्थी इस तथ्य से भली-भाँति अवगत हैं कि

विदेशी आक्रमणकारियों के सम्मुख शक्तिशाली राजपूतों को इसलिए भी पराजित होना पड़ा था कि उनमें पारस्परिक फूट तथा दोष की भावना बहुत अधिक थी।

राजनीतिक अशान्ति एवं विशृङ्खलता के लिए इससे बड़ा कारण क्या उपस्थित हो सकता था कि हर हिन्दू राज्य को इस बात का भय बना रहता था कि कब तुर्की घोड़ों की टापों से उड़ी हुई धूल उनके राज्य-सूर्य को ढँक दे अथवा हर हिन्दू घर तथा मन्दिर के पुजारी को यह भय बना हुआ था कि किस समय इस्लाम के प्रचारक तुर्की सैनिक उनके धन तथा धर्म से सौदा करने के लिए उपस्थित हो जाएँ।

इस प्रकार आदिकाल अर्थात् हिन्दी का वीर-गाथा काल राजनीतिक उथल-पुथल तथा अशान्तियों से ही आरम्भ होता है।

आर्थिक अवस्था—पूर्व मध्यकालीन भारत की प्रथम दो शताब्दियाँ परम्परानुसार उन्नत आर्थिक अवस्था का प्रदर्शन करती हैं। प्रजा-प्रिय राजाओं ने देश की आर्थिक उन्नति की ओर बहुत अधिक ध्यान दिया था। कृषि के विकास के लिए तो अनेक भारतीय नरेशों ने विशालकाय जलाशयों एवं नहरों की व्यवस्था की थी। वाणिज्य-व्यापार को जो विकास गुप्तयुग में प्राप्त हुआ था और हर्ष तथा पुलकेशिन ने इसमें जो अभिवृद्धि ला दी थी, वह परम्परा पूर्व-मध्ययुग की प्रारम्भिक शताब्दियों तक पूर्ववत् चलती रही। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आशातीत प्रगति देखने को मिलती है। भारत को धन-सम्पत्ति का ढिंढोरा विदेशों में पिट चुका रहता है। भारतीय व्यापारियों के बढ़े हुए व्यवसाय को देखकर विदेशी आश्चर्य-चकित हो जाया करते थे। उच्चकुल वालों की आर्थिक स्थिति तो अच्छी थी ही, सामान्य प्रजा भी आर्थिक सुख-सुविधा का अनुभव करती रही। राजाओं तथा लक्ष्मीपतियों अथवा व्यापारियों की संस्थाओं द्वारा सार्वजनिक कल्याण तथा धर्म के निमित्त जो अनुदान दिए जाते थे, वे भी आर्थिक सुख-सुविधा में अभिवृद्धि ला देते थे। निःशुल्क भोजनालयों, औषधालयों तथा सभी आवश्यक उपकरणों से सम्पन्न विश्राम-गृहों की गुप्त-कालीन परम्परा के अवशेष अब भी देखने को मिल जाते थे। अनेक दानशील राजाओं ने अपनी प्रजा की आर्थिक सुविधाओं के लिए इस प्रकार की व्यवस्था की थी।

कुछ उद्योगों में तो भारत बहुत आगे बढ़ा था और इनसे देश का अधिक हित हो रहा था। मध्य एशिया, चीन, तिब्बत, अरब आदि देशों से भारत का बहुत प्राचीन व्यापारिक सम्बन्ध था। ह्वेनसांग ने देश की आर्थिक अवस्था का जो आँखों-देखा उज्ज्वल चित्र खींचा था वह स्थिति अब भी बनी हुई थी। अधिकांश विद्वानों का यह मत है कि भारत के अपार धन ने ही पश्चिमोत्तर आक्रमणों का आह्वान किया था।

सामाजिक अवस्था—समाज और साहित्य के पारस्परिक सम्बन्ध से हम भली

भाँति अवगत हैं। बहुधा समाज अपने साहित्यकार से अपनी रुचि एवं आवश्यकता की वस्तु माँगने में समर्थ होता है पर यह तभी संभव है जब समाज सुदृढ़ एवं शक्तिशाली हो। यदि अवस्था इसके विपरीत रहती है तो समाज साहित्यकार को प्रभावित नहीं कर पाता है और तब साहित्यकार पूर्णतया अपनी रुचि एवं अपनी वैयक्तिक आवश्यकता तक ही अपनी रचना को सीमित कर देता है। विचाराधीन युग में हम भारतीय समाज की यही स्थिति पाते हैं। पूरा का पूरा हिन्दू-समाज जातियों एवं उपजातियों के अनेक टुकड़ों में विभक्त हो चुका था। अनुलोम, प्रतिलोम आदि विवाहों ने वर्ण-संकरों की जो उत्पत्ति बढ़ा दी थी उससे भी इस जातीय उपविभाजन को बहुत अधिक बल मिला था। आश्चर्य तो यह है कि अब केवल चारों वर्णों में ही ऊँच-नीच की भावना काम नहीं कर रही थी, प्रत्युत प्रथम तीन वर्णों के गोत्रों तथा प्रवरों में भी पारस्परिक ऊँच-नीच की भावना बहुत अधिक तीव्र हो उठी थी। यह परिस्थिति अधिकांशतः राजनीतिक कारणवश लाई गई थी। जिस प्रकार शासक और शासित जाति में एक भेद स्वभावतः उत्पन्न हो जाता है और श्रेष्ठता या हीनता की भावना उस जाति के अन्यान्य सदस्यों अर्थात् प्रजाओं में भी व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार राजपूत युग से ही यह प्रवृत्ति क्रियाशील हो उठती है। राजपूत-नरेश पारस्परिक ईर्ष्या एवं द्वेष के कारण अपने विरोधी राजपूत नरेश के कुल को भी हेय समझने लगे थे और उन्हीं की भाँति उनकी प्रजा भी शत्रु-देश की सजातीय प्रजा को हेय कुल का समझती थी। इसी प्रकार ब्राह्मणों में भी गोत्र के आधार पर ऊँच-नीच का भाव इतना अडिग बढ़ गया था कि वे एक-दूसरे को फूटी आँख देखना तक नहीं चाहते थे। ब्राह्मणों का स्थान समाज में ऊँचा अवश्य था, किन्तु उनकी यह श्रेष्ठता जन्मगत थी न कि अर्जित गुणों के आधार पर। राजपूतों के नीचे वैश्यों का स्थान था, जिन्हें लक्ष्मीपति के रूप में देखा जाता था। अंतिम वर्ग शूद्रों का था जिनमें कुछ स्पृश्य तथा कुछ अस्पृश्य या अछूत थे। कुछ ऐसे भी कार्य थे, जिनका संपादन करने वाले इन उपर्युक्त चारों वर्णों में से किसी में न खप सके और उन्हें पंचम वर्ण घोषित कर दिया गया। इनमें डोम, चमार, नट आदि सम्मिलित हैं। समाज का यह विघटन उसे संभवतः इतना दुर्बल न बना सका होता, जितना उसके कुछ रीति-रिवाज, रूढ़ियों, अंध-विश्वासों तथा चरित्रगत विशेषताओं ने उसे दुर्बलता की ओर तीव्रगति से बढ़ाना आरंभ कर दिया था। अंध-विश्वासों की तो यह स्थिति थी कि जैन भिक्षु तथा हिन्दू साधु इनका पिटारा अपने कंधों पर लादे गाँव-गाँव घूमकर हर व्यक्ति को अपनी यह थाती दोनों हाथों लुटाते चल रहे थे और बदले में दान-दक्षिणा प्राप्त कर रहे थे। जिस समाज में सती-प्रथा और बाल-हत्या हो, उसे हम अंध-विश्वासों से परिपूर्ण पतनोन्मुख समाज न कहकर और क्या कहेंगे? देश के एक बहुत बड़े भाग में खान-पान की

वैष्णवात्मकता समाप्त हो चुकी थी और तंत्र-मंत्र के प्रभाव ने मांस, मछली एवं मदिरा का बहुत अधिक प्रचार कर दिया था। अल्हण देवी के एक लेख से यह ज्ञात होता है कि ब्राह्मण भी मांस भक्षण करते थे, किन्तु इसका कदापि यह अर्थ नहीं कि इस युग के सभी ब्राह्मण मांसाहारी थे। जिस क्षेत्र में शाक्यमतावलंबियों की प्रधानता थी, वहीं मांस तथा मदिरा का भी जोर था।

मनोरंजन के अनेक साधन उपलब्ध थे। राजाओं तथा राजदरबारियों के मनोरंजन के साधन थे आखेट, युद्ध, नाचरंग आदि। साधारण प्रजा खेल-कूद तथा सार्वजनिक उत्सवों से अपना मन बहलाव करती थी।

राजनीतिक अशांतियों के युग में, जिनका ताँता शताब्दियों तक चलता रहा है, समाज में स्वभावतः कुछ असामाजिक तत्त्व घुस आए थे, जिनसे सामाजिक विघटन को बल मिलता था।

धार्मिक अवस्था—विचाराधीन युग धार्मिक दृष्टि से भारत के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। जैन धर्म किसी प्रकार कलेवर बदल कर जीवित था। बौद्ध धर्म प्रायः लुप्त हो चुका था, प्रगति पर था तो केवल ब्राह्मण-धर्म, जिसकी दो प्रमुख शाखाएँ—वैष्णव तथा शैव थीं। पर सम्प्रदायों का अभाव यहाँ भी न था। शैव-सम्प्रदाय की तो कुछ ऐसी विचित्र शाखाएँ-उपशाखाएँ निर्मित हो चुकी थीं, जिन्हें हम वास्तव में विशुद्ध ब्राह्मण-शिवोपासकों से पूर्णतया भिन्न या विरोधी तक मान सकते हैं। लकुलिश, कापालिक आदि सम्प्रदाय देश के कुछ भागों में अपना बहुत अधिक प्रभाव स्थापित कर रहे थे। आगे चलकर शक्ति सम्प्रदाय ने कुछ नये उप-सम्प्रदायों को प्रभावित किया या जन्म दिया। योगशास्त्र से प्रभावित गोरखनाथ का सम्प्रदाय इस युग में बहुत अधिक महत्त्व पा सका था। सिद्धों और नाथों का महत्व हम इस प्रकार आँक सकते हैं कि इस युग में देश के एक बहुत व्यापक भाग पर ८०० ई० से लेकर ११७५ ई० तक सिद्धों के पूर्वाधिकारी वज्रयानियों का बौद्धिक साम्राज्य स्थापित हो चुका था और चौरासी सिद्धों की बात देश के एक बहुत बड़े भाग पर एक चर्चा का विषय बनी हुई थी। इस संबंध में हम साहित्यिक परम्परा का विवरण प्राप्त करते समय कुछ विस्तार-पूर्वक विचार करेंगे।

वैष्णव धर्म में भक्ति तत्त्व की प्रधानता ने एक नई प्रगति ला दी थी। औप-निषदिक भक्ति महाभारत, पुराण, पांचरात्र संहिता आदि से होती हुई तथा दक्षिण भारत का पर्यटन समाप्त करती हुई आचार्यों के माध्यम से पुनः उत्तर भारत की ओर लौटती है। भक्ति-आन्दोलन के इतिहास में यह युग बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही आन्दोलन के द्वितीय सोपान का युग था। इसी समय पुराणकारों ने भक्ति-विरोधी तत्त्वों और साथ ही ब्राह्मण-विरोधी तत्त्वों का करारा उत्तर देने के लिए प्राचीन पुराणों

में यत्र-तत्र परिवर्तन एवं परिवर्धन किया था तथा इसी युग में उपनिषद् नामधारी अनेक ग्रंथों की रचना हुई थी, जिनसे ब्राह्मण-धर्म के वैष्णव सम्प्रदाय को बहुत अधिक बल मिला था। सारा हिन्दू-समाज मुख्यतः राम, कृष्ण तथा शंकर इन्हीं तीन देवताओं की आराधना में लीन था। स्वामी शंकराचार्य का आविर्भाव हो चुका था और ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान की जो दुंदुभि उन्होंने बजाई थी, उससे सम्पूर्ण भारत गुंजित हो उठा था। इनके विरोध में अनेक वैष्णव आचार्यों का भी उदय हो चुका था जिन्होंने पूर्ववर्ती आलवार भक्तों की साधना पद्धत्तियों को शास्त्रानुमोदित सिद्ध करने के लिए भाष्यों का प्रणयन किया था। कुछ आचार्यों ने बिना भाष्य-रचना के भी दक्षिण भारत से लेकर उत्तर भारत तक भक्ति-आन्दोलन को अनुप्राणित किया। रंगनाथ मुनि, यमुनाचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि का नाम यहाँ विशेष उल्लेखनीय है। (इन आचार्यों के विषय में हम अगले अध्याय में पढ़ेंगे।)

नवागत इस्लाम धर्म की स्थिति बहुत अच्छी न थी। अभी वह भारत में अपनी जड़ें जमा ही रहा था। तलवारों के साये में नमाजे हक़ अदा करनेवाले मुसलमान आक्रमणकारी बलात् धर्म-परिवर्तन का कार्य जोरों पर चला अवश्य रहे थे, पर अधिकांश युद्ध-बन्दियों ने धर्म-परिवर्तन के स्थान पर मृत्यु को ही अंगीकार करना स्वीकार किया था। हाँ, मिस्र के सूफियों के प्रति भारतवासियों की धारणा अच्छी थी और वे अपनी सादगी तथा अपने प्रेम-तत्त्व से लोगों को प्रभावित करते जा रहे थे। इसी प्रकार ख्वाजा सम्प्रदाय वाले भी इस समय पश्चिमोत्तर भारत में अपना प्रचार-कार्य कर रहे थे। पर इन दोनों इस्लामी सम्प्रदायों की बारहवीं शताब्दी के बाद से ही सफलता मिलनी आरंभ होती है। अतः इनका अध्ययन हम आगे करेंगे।

उत्तरार्द्ध (तेरहवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी का प्रथम चरण): सांस्कृतिक पर्यावरण—अब तक हमने मुसलमानों के भारतीय आक्रमण के समय के भारत की विभिन्न अवस्थाओं का परिचय प्राप्त किया है। अब हम, दास एवं खिलजी वंश द्वारा भारत पर शासन कर लेने के पश्चात् देश को विभिन्न अवस्थाओं में जो परिवर्तन उपस्थित हुए थे, उनका अध्ययन करेंगे। यह अध्ययन भी पूर्व नियोजित शीर्षकों के अन्तर्गत है।

राजनीतिक अवस्था—जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया जा चुका है, इस युग में दास तथा खिलजी वंश ने भारत पर शासन किया था। दास वंश की स्थापना मुहम्मद गोरी के दास कुतुबुद्दीन ऐबक (१२०६-१२१० ई०) ने की थी। सम्पूर्ण उत्तरी भारत अब तक मुसलमानों के अधिकार में आ चुका था और एक-एक करके सभी राजपूत राजे पराजित होते गए थे। ऐबक के बाद उसका दास इल्तुतमिश (१२१०-१२३६ ई०) सिंहासनासीन हुआ। इसके शासन-काल में राजपूतों तथा अन्य हिन्दू राज्यों ने

स्वतंत्रता के लिए एक बार फिर जोर मारा। राजस्थान के राजपूतों रणथम्भौर के गोविन्द राय, परिहार राजपूतों तथा उत्तर के यदुवंशी राजपूतों ने आजादी का बिगुल बजाया। इल्तुतमिश को इन विद्रोहियों के दमन में पूरी सफलता न मिल सकी फिर भी इनमें से कई राज्यों की स्थिति डाँवाडोल कर दी। गुजरात तथा बूँदी पर उसके आक्रमण पूर्ण विफल रहे। उधर चौहानों की शक्ति भी किसी प्रकार समाप्त न हो सकी। आशय यह कि दिल्ली सल्तनत के प्रथम वंश—दास वंश को आशातीत सैनिक सफलता नहीं मिली और राजपूत तथा अन्य हिन्दू नरेश सरलतापूर्वक अपनी स्वतंत्रता से हाथ धोने को तैयार नहीं हुए। पर इस वंश के सर्वाधिक शक्तिशाली शासक बलबन (१२६६-१२८६ ई०) को इस दिशा में पर्याप्त सफलता मिली। यद्यपि उसने कोई नया प्रदेश नहीं जीता पर भयंकर विद्रोहों की रोकथाम करके उसने दिल्ली सल्तनत की डाँवाडोल स्थिति को सँभाल लिया। इल्तुतमिश की मृत्यु के पश्चात् ही स्थिति यह हो गई थी कि भारत में तुर्कों का टिकना असम्भव-सा लग रहा था। पर उसने सारे विद्रोहों को कुचल दिया। साम्राज्य की सीमा वही पुरानी हो रही, अर्थात् पूर्व की ओर बँगाल, दक्षिण में उज्जैन तथा सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर भाग पर शासन में दृढ़ता आ चुकी थी और तुर्क संप्रभुत्व की धाक शासित प्रदेशों में पूरी तरह जम चुकी थी।

तत्पश्चात् खिलजियों का शासन आरम्भ होता है। यह वंश भारतीय इतिहास में वह प्रथम विदेशी वंश हैं, जिसने पहले-पहल पूरे भारत को विदेशियों के अधीन किया था। धुर दक्षिण का एक छोटा-सा भू-प्रदेश है जो इस शासन से स्वतंत्र रह सका था, अन्यथा इस वंश के विश्वविख्यात प्रशासक एवं विजेता अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६ ई०) ने हमारे देश की सभी राजनीतिक शक्तियों का दमन कर दिया था। अब कुछ दिनों के लिए भारतीय नरेशों को स्वतंत्रता का स्वप्न तक देखना भूल गया।

उपर्युक्त विवरण से हम सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि हिन्दी के आदिकाल का उत्तरार्द्ध भी पूर्वार्द्ध की ही भाँति राजनीतिक उथल-पुथल एवं अशांतियों से परिपूर्ण था। भारतीय नरेश अन्त तक अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं। उन्हें प्रारम्भिक युगों में कुछ सफलता भी मिलती है। पर बाद के प्रयत्न निष्फल सिद्ध होते हैं। अलाउद्दीन को गुजरात, रणथम्भौर, मेवाड़, मालवा आदि के शासकों से कड़ा लोहा लेना पड़ता है। इसी प्रकार दक्षिण के राज्यों से भी उसे साम्राज्य-विस्तार के लिए युद्ध करना पड़ता है। यह पूरा का पूरा युग युद्ध एवं रक्तपात का युग सिद्ध होता है। तलवार की नोकों से इस्लामी राज्य की सीमाएँ दूर-दूर तक खींची जा रही थीं। पूरे देश की जनता इन युद्धों से आतंकित हो उठी थी।

इन युद्धों के अतिरिक्त उसी समय एक स्थायी विपत्ति मंगोलों के बार-बार आक्रमणों द्वारा उपस्थित होती रही। दास वंश के प्रायः सभी शासक मंगोलों के भीषण

आक्रमणों से आतंकित रहे। खिलजियों को भी इन आक्रमणों का सामना करना पड़ा था। हिंसक मंगोलों ने देश की अशान्त स्थिति को और अधिक अशान्तिमय बना दिया था। यह है हमारे पूर्व मध्यकालीन भारत की एक लम्बी अवधि जिसमें हिन्दी का आदि काल पल रहा था। युद्ध, नर-संहार, लूट-मार, राजनीतिक उत्पीड़न, प्रशासन की भेदभरी नीति आदि का अनुमान हम सहज ही लगा सकते हैं। मुल्ला-मौलवियों के फतवे पर चलनेवाले (सुल्तान, अथवा उनकी न सुननेवाले भी) धर्मांध शासक अपनी प्रजा के साथ कैसा व्यवहार करते रहे होंगे। इसको भी सहज कल्पना की जा सकती है।

आर्थिक अवस्था—हिन्दी साहित्य के वीरगाथा काल के पूर्वार्द्ध की आर्थिक अवस्था का उल्लेख करते हुए यह सूचित किया गया था कि देश धन-धान्यपूर्ण था और सर्वसाधारण आर्थिक सुख-सुविधा का पूर्ण उपभोग कर रहा था। किन्तु इस स्थिति में शीघ्र ही एक आमूल परिवर्तन आता है। प्रारम्भिक लुटेरों ने दिल खोलकर राज-कोषों, मन्दिरों तथा धनिकों को लूटा था। पर बस यहीं इस लूट का अन्त नहीं हो जाता है। इन बाह्य आक्रमणों ने जिस राजनीतिक अशान्ति में प्रशासकीय विशृंखलता को जन्म दिया था, उसने देशी लुटेरों एवं पेशेवर डकैतों को भी प्रोत्साहित किया और उन्होंने भी स्थिति से लाभ उठाकर खुलेआम जनता को लूटना आरम्भ कर दिया। राजपूत तथा अन्य हिन्दू राज्यों को शत्रुओं के विरुद्ध शक्ति-संचय में ही अपना सारा धन एवं श्रम व्यय कर देना पड़ता था। खर्चीले युद्धों ने देश की आर्थिक अवस्था को बहुत बड़ा आघात पहुँचाया था। सम्भवतः इन समस्त कठिनाइयों पर भी देश विजय पा सका होता, पर सुल्तानों के बीच निजी व्यय एवं हिन्दुओं के शोषण की उनकी नीति में हिन्दू समाज की ऐसी कारुणिक दशा कर दी थी कि ऐसी दरिद्रता का सामना इसके पूर्व हिन्दू-समाज ने कभी नहीं किया था। सुल्तानों की ओर से कर वसूलने के लिए नियुक्त हिन्दू-भूमिपति (जिन्हें बर्नी ने खूत, मुकद्दम या चौधरी कहा है) पहले कुछ अच्छी अवस्था में थे और इसी प्रकार मुसलमान अमीरों तथा सरदारों की आर्थिक स्थिति भी पहले बहुत अच्छी थी, पर इन्हें भी अलाउद्दीन ने अपने बढ़े हुए सैनिक व्यय के लिए बुरी तरह चूस लिया। हिन्दुओं को तो उसने इस स्थिति पर ला दिया था कि बर्नी के शब्दों में चौधरियों, खूतों तथा मुकद्दमों के विरोध, विद्रोह, घोड़े की सवारी, अस्त्र-शस्त्र धारण, सुन्दर वस्त्र पहनना, पान खाना आदि बन्द हो गया। वे इतने आज्ञाकारी हो गए कि दीवान का एक चपरासी कस्बों के बीसों खूतों, मुकद्दमों तथा चौधरियों को एक रस्सी में बाँधकर खिराज देने के लिए मारता था। हिन्दुओं के लिए सर उठाना असम्भव था। उनके घरों में सोने-चाँदी, टंके तथा जीतल, धन-सम्पत्ति का, जो षड्यंत्र तथा विद्रोह के कारण हैं, चिह्न तक अवशेष नहीं रह गया। दरिद्रता के कारण खूतों

मुकद्दमों की स्त्रियाँ मुसलमानों के घर जाकर काम करने लगीं और मजदूरी पाने लगीं। जब हिन्दू-समाज के उच्चवर्ग की यह अवस्था थी तो फिर साधारण या निम्न-वर्ग की क्या स्थिति रही होगी, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

मुसलमान समाज शासक वर्ग का था। उच्च राजकीय पदों पर मुसलमान ही नियुक्त किए गए थे। यद्यपि उन पर सुल्तानों की कड़ी दृष्टि रहती थी, तथापि उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी थी। देश के बढ़े-चढ़े व्यापार का वास्तविक लाभ या तो सुल्तान ही उठाते रहे या फिर मुसलमान सरदार अमीर।

कुछ विदेशी लेखकों ने गुजरात तथा बंगाल को धन-धान्यपूर्ण कहा है पर इससे यह न समझना चाहिए कि सम्पूर्ण देश की सम्पूर्ण प्रजा की आर्थिक अवस्था अच्छी थी। सुल्तानों द्वारा जो भी आर्थिक सुधार किए गए थे। वे ऐसे ही थे जैसे अधिक दूध के लोभ में ग्वाला दुधारू पशु को अधिक आहार देता है। सारांश यह कि विचाराधीन युग में हिन्दू-समाज विषम आर्थिक स्थिति का सामना कर रहा था।

सामाजिक अवस्था—इस युग के पूर्वार्द्ध में समाज की जो स्थिति थी उसमें किसी प्रकार के सुधार की आशा अगली दो शताब्दियों में नहीं की जा सकती थी। क्योंकि हिन्दू नेताओं को राजनीतिक उत्पीड़ितों से ही किसी प्रकार अपना तथा हिन्दू जनता का बचाव करने की चिन्ता लगी हुई थी। फलतः सामाजिक विघटन पूर्ववत् चलता रहा। इसी युग में सामाजिक विघटन ने कुछ नई जातियों को भी जन्म दे दिया। वास्तविकता यह है कि तथाकथित शूद्र जातियों को निजारी मिशनरियों अर्थात् ख्वाजा प्रचारकों ने बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया था। हम आगे देखेंगे कि किस प्रकार इस्लामी प्रचारकों ने तलवार के साथ-साथ तदबीर से भी हिन्दुओं के धर्म-परिवर्तन की योजना सुसंगठित रूप से चलाई थी।

अन्धविश्वासों की गठरी अब और भारी हो गई थी। जादू-मंत्र, टोना, टोटका से सम्पूर्ण हिन्दू समाज ग्रस्त था। कुछ उच्च स्तर के लोग इससे वंचित अवश्य थे पर उनके चारों ओर का परिवेश पूर्णतया तिमिराच्छन्न था। ब्राह्मण देवता वारुणी छोड़कर और सभी वस्तुओं का भोग लगा सकते थे, क्षत्रिय क्षात्र धर्म के नाम पर अब कुछ आखेटमयी वीरता दिखा कर रह जाते थे, क्योंकि वे जानते थे कि तलवार चलाने से काम चलने वाला न था। उल्लेखनीय है कि इसी युग में क्षत्रियों ने बहुत बड़ी संख्या में वेश्या-वृत्ति अपनाई थी। तलवार के स्थान पर तराजू पकड़ लेने की भूल में वह राज-नीतिक कारण ही है, जिसने राजपूतों को सत्ताहीन बना दिया था और जिससे उनके पास जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं रह गया था। वैश्य किसी प्रकार व्यवसाय द्वारा जीवन-निर्वाह कर रहे थे। उनकी भी इतनी अधिक उपजातियाँ बन चुकी थीं कि अब उनकी कोई सुसंगठित श्रेणी नहीं बन पा रही थी। साधारण स्थिति यह थी कि ये

किसी प्रकार जी रहे थे। कुछ ही क्षेत्रों में इनकी स्थिति कुछ अच्छी थी। शूद्र बेचारे तो प्राय: निष्प्राण थे और उन्हें धर्म परिवर्तन से कुछ त्राण मिलता जा रहा था।

नारी-शिक्षा की ओर ध्यान देने वाला कोई नहीं रह गया था। उच्च कुलों में भी धीरे-धीरे इसका अभाव होता जा रहा था। नारी घर की चहारदीवारी तक सीमित कर दी गई थी। तुर्की सरदारों एवं सैनिकों के घोर नैतिक पतन ने भारतीय नारियों को असूर्यपश्या बना दिया।

हिन्दू-समाज की क्या स्थिति रही होगी जहाँ बलबन (१२६६-८६ ई०) जैसे शासकों का कठोर शासन रहा हो, जिन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की थी कि "खुदा की इस अनुपम देन बादशाही के प्रति वही बादशाह अपना कर्तव्य-पालन करता है जो अपना वैभव, ऐश्वर्य, प्रताप, लाव-लश्कर, कर्मचारी, राजकोष, संपत्ति आदि—जो खुदा ने उसे प्रदान किये हैं—उन सबको कुछ और काफिरों, शिर्क और बुतपरस्तों के विनाश में लगा सकें।....दीन-ए-इस्लाम के विपक्षियों का मूलोच्छेद कर दे। यदि यह सम्भव न हो तो खुदा और मुहम्मद साहब के शत्रुओं को अपमानित करे तथा उनके विश्वास और आदर का अन्त कर दे। अपने राज्य मे उनकी सुख-संपन्नता, उनके मान तथा पदों का नामोनिशान न रहने दे।" इसी प्रकार कब्र में पैर लटकाए हुए जलालुद्दीन खिलजी (१२९०-९६ ई०) भी, जो इस्लामी जगत् में अपनी हृदय-कोमलता तथा दयालुता के लिए प्रसिद्ध था, अपनी इस असहायता पर दुख प्रकट करता था कि हिन्दू अब भी जीवित थे और वे मूर्त्ति-पूजा कर रहे थे। प्रलाप करते-करते कह उठता है। हमारी बादशाही....पर थू है, लानत है, क्योंकि....(हिन्दुओं के) खून की नदियाँ नहीं बहाई जा रही हैं।" और तब अपने चचा तथा श्वसुर की इन इच्छाओं को पूर्ण करने वाला अलाउद्दीन खिलजी (१२९६-१३१६ ई०) जैसे तथाकथित शासन-सुधारकों का युग आता है जिसने "बुद्धिमानों को उन अधिनियमों तथा कानूनों को तैयार करने की आज्ञा दी जिन नियमों द्वारा हिन्दुओं को दबाया जा सके और धन-सम्पत्ति उनके घरों में न बच सके। हिन्दुओं के पास इतना धन भी न बच जाय कि वे घोड़े पर सवार हो सकें, हथियार रख सकें, अच्छे वस्त्र पहन सकें तथा सुखपूर्वक जीवन बिता सकें।" इन विवरणों का प्रस्तुतकर्ता बर्नी ही हमें आगे सूचित करता है कि सचमुच इन नियमों ने हिन्दुओं को पूर्णतया निर्धन कर दिया जैसा कि आर्थिक अवस्था का अध्ययन करते समय हमने देखा था।

मुसलमान समाज की सामान्य स्थिति भी कोई बहुत अच्छी न थी। यदि उच्च वर्ग शंका, संदेह, भ्रम, विलासिता, अनैतिकता आदि दुर्गुणों का शिकार था तो निम्नवर्ग दरिद्रता के पाश में बँधा था पर यह निम्नवर्ग नवमुस्लिमों से निर्मित हुआ था जो हिन्दुओं के शूद्र-वर्ग से आगे था।

धार्मिक अवस्था—दास एवं खिलजी कालीन भारत राजनीतिक आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि से भारतीय जनता के लिए भले ही पतनोन्मुख युग रहा हो, पर धार्मिक दृष्टि से यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण युग माना जा सकता है। यहाँ हम इसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं का संक्षेप में अध्ययन करेंगे।

अब तक भारत में हिन्दुओं के साथ-साथ मुसलमानों के धर्म-सम्प्रदायों का अस्तित्व भी सामने आ चुका रहता। हिन्दुओं के अनेक मत एवं पन्थों में कुछ नवीन परिवर्धन हो चुके रहते हैं या इसकी पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी रहती है। बौद्ध धर्म का तो पहले ही लोप हो चुका रहता है, जैन धर्म के अनेक परिवर्तित रूपों का भी निर्माण हो जाता है। सिद्धों एवं नाथों की परम्परा आगे बढ़ती रहती है और उधर नववैष्णव धर्म का प्राधान्य स्थापित होने लगता है। पर यह सब तो ऊपरी स्थिति थी। वास्तविकता यह थी कि अब न प्राचीन ब्राह्मण धर्म, न प्राचीन बौद्ध या जैन धर्म ही अपनी मौलिकता की रक्षा में समर्थ था। बाह्याडंबरों से सभी पीड़ित एवं कुत्सित हो चुके थे। केवल वैष्णव संप्रदाय को छोड़कर शेष सभी हिन्दू सम्प्रदाय गुरुओं एवं चेलों की चौकठ तक सीमित हो गए थे। धार्मिक साहित्य की ओर ध्यान देने से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह युग मौलिकता से काफी दूर चला गया था। शैव संप्रदाय के पाशुपत, कापालिक, वीर शैव, लिंगायत, लकुलिश आदि उप-संप्रदायों ने इधर-उधर पाँव फैलाना आरम्भ कर दिया था और जिसकी जिधर समाई हो सभी उधर चल पड़ा। तन्त्र-यान मंत्रयान की नौकाएँ भी पूर्वी भारत के दलदलों में फँसी रहीं। पर यह सब कुछ होते हुए भी इस युग का अपना धार्मिक महत्त्व है। कारण यह है कि इन दो शताब्दियों ने ठीक वही परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी थीं, जैसी छठीं शताब्दी ई० पू० में उत्पन्न हो गई थीं और जिनके फलस्वरूप महावीर स्वामी तथा महात्मा गौतम बुद्ध को बौद्धिक क्रांति का आह्वान करना पड़ा था। यही वह युग है, जिसमें दक्षिणी धर्माचार्यों की परम्परा आगे बढ़ती है और मध्वाचार्य, विष्णु स्वामी जैसे उद्भट आचार्यो का उदय होता है। उसी भारत में भी अनेक सुधारवादी ब्राह्मण साधु हो चुके रहते हैं। इस विषय पर हम अगले अनुच्छेद में भक्तिकाल की पृष्ठभूमि का अध्ययन करते समय पूर्ण विचार करेंगे, यहाँ केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा—यह इसी युग की धार्मिक अवस्था का प्रतिफल था कि प्राचीन भक्ति अन्दोलन को एक नई स्फूर्ति मिली और उसने पूर्ण सुधारात्मक रूप ग्रहण कर लिया। इतिहास के विद्यार्थी इस तथ्य से भली भाँति परिचित हैं कि दिल्ली के कट्टर एवं धर्मान्ध मुसलमान सुल्तानों ने केवल हिन्दुओं को ही अपनी धार्मिक असहिष्णुता का शिकार नहीं बनाया था प्रत्युत अनेक उदारवादी मुसलमान धर्मसम्प्रदायों को भी इन्होंने समान रूप से दंडित किया था। सूफियों तथा शिया मुसलमानों के प्रति इन कट्टर सुन्नी शासकों ने जो

अत्याचार किए थे उसकी इस्लामी प्रतिक्रिया कम भयंकर नहीं हुई थी। रजिया बेगम (१२३६ ई०) के शासन-काल में तो इस्माइलिया मुसलमानों ने जामा मस्जिद तक पर आक्रमण कर दिया था और जलालुद्दीन खिलजी के समय में सीदी मौला का भयंकर विद्रोह यदि सफल हो गया होता तो दिल्ली सल्तनत का तख्ता ही बदल जाता अथवा सुल्तानों को अपनी असहिष्णु धार्मिक नीति में आमूल परिवर्तन करना पड़ा होता। इधर सुल्तानों की धार्मिक असहिष्णुता से समान रूप से उत्पीड़ित हिन्दू तथा उदारवादी मुसलमान सम्प्रदाय को, इसी उत्पीड़न के कारण निकट आने का अवसर प्राप्त हुआ, जिसे इतिहास में धार्मिक समन्वय की संज्ञा दी गई है।

अब एक अन्तिम तथ्य पर विचार अपेक्षित है। यह तथ्य है सूफियों तथा निजारी मिशनरियों की धार्मिक गतिविधियाँ। सूफी संतों में मुइनुद्दीन चिश्ती (११४२-१२३६ ई०) का नाम विशेष उल्लेखनीय है; जिन्होंने चिश्ती सम्प्रदाय के अध्यक्ष के रूप में अजमेर को अपना केन्द्र बनाकर मूल मत का सरल ढङ्ग से प्रचार किया। तत्पश्चात् फरीदुद्दीन (११७३-१२६५ ई०) ने इस सम्प्रदाय को भारत में प्रचारित किया। इन्होंने मुल्तान तथा दिल्ली के बीच सतलज के निकट अपनी कुटी बनाई थी और वहीं "इनके शिष्यों" की अपार भीड़ लगी रहती थी। सूफियों के सम्बन्ध में हम अब विचारपूर्वक विचार करेंगे, यहाँ इतना कहना भी पर्याप्त होगा कि इतनी सादगी तथा इनके प्रेमतत्त्व ने हिन्दुओं को अपनी ओर आकर्षित किया था और पश्चिमोत्तर में एक बहुत बड़ी संख्या में इनके प्रभाव से धर्म-परिवर्तन हुआ था।

ख्वाजा सम्प्रदाय का पश्चिमोत्तर भारत के धार्मिक इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये निजारी धर्म-प्रचारक संभवतः बारहवीं शताब्दी से इस ओर अग्रसर होते हैं। इसी समय निजारी धर्म-प्रचारक ख्वाजा नुरुद्दीन भारत आता है। उसने गुजरात को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। यदि ख्वाजा-साक्ष्यों पर विश्वास किया जाय तो इसी नुरुद्दीन ने गुजरात की तथाकथित शूद्र जातियों को, जिनमें कुनबी, खरवा, कोरी आदि विशेष उल्लेखनीय हैं, इसलाम धर्म में दीक्षित किया था। यह सन्त काजी और मुल्लाओं की कटु आलोचनाएँ किया करता था, जिसे लोग एकाग्रचित्त होकर सुनते थे। नुरुद्दीन ने अपना हिन्दुस्तानी नाम 'सतगुरु' रख लिया था। इसके शिष्यों ने पश्चिमोत्तर तथा पश्चिम भारत में इसकी करामातों की ऐसी-ऐसी कहानियाँ गढ़ीं कि शीघ्र ही चारों ओर से हिन्दू-मुसलमान इसके दर्शनार्थ आने लगे। उसके इसी करामातों का फल था कि उसे मन्दिर-प्रवेश तक में सफलता मिल गई थी। कच्छ तथा काठियावाड़ में भी नुरुद्दीन के एक शिष्य ने निजारी सम्प्रदाय का प्रचार किया था। ततश्चात् पीर शमसुद्दीन (छोटे गुरु) का कश्मीर में आगमन होता है, जिसने सचमुच करामातों से ही इस्लाम का प्रचार करना आरम्भ किया। कहा जाता है कि दशहरा

के अवसर पर गर्वा नृत्य में लीन सैकड़ों की संख्या में हिन्दुओं पर अपने नाच-गान से शमसुद्दीन ने जैसे जादू-सा कर दिया और तब उनको इस्लाम धर्म में दीक्षित कर लिया। आज भी पंजाब में पीर शमशुद्दीन द्वारा धर्मपरिवर्तित लोग 'शमशी' नाम से प्रसिद्ध हैं। अब हम देखते हैं कि तीन प्रकार से धर्म-परिवर्तन का कार्य विचाराधीन युग में चल रहा था—(१) राजनीतिक स्तर पर बल प्रयोग द्वारा, (२) धार्मिक स्तर पर सरलता एवं प्रेम द्वारा तथा (३) निजारी मिशनरियों की करामातों द्वारा।

आदिकाल की साहित्यिक पृष्ठभूमि

किसी भी साहित्यकार को उसकी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियाँ जिस सीमा तक प्रभावित करती हैं, उससे किसी प्रकार कम प्रभाव साहित्यिक परंपराओं का नहीं पड़ता है। कभी-कभी तो ऐसी भी स्थिति देखने को मिलती है कि साहित्यक परंपरा ही प्रधान प्रभावोत्पादक तत्त्व सिद्धि होने लगती है और अन्य पर्यावरण गौण हो जाते हैं। अतः हिन्दी के वीरगाथा काल का अध्ययन उसकी साहित्यिक पृष्ठभूमि के बिना अधूरा ही रह जायेगा। यहाँ हम संक्षेप में दसवीं शताब्दी के पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य के उस अंग का अध्ययन करेंगे, जिसका प्रत्यक्ष संबंध परवर्ती हिंदी भाषी प्रदेश से था।

हिंदी के आदि काल का पूर्ववर्ती साहित्य है सिद्ध व जैन साहित्य। सिद्धों की ही बज्रयान शाखा की सहज साधना में नाथ संप्रदाय का विकास हुआ था, जिनका साहित्य हिंदी का ठीक पूर्ववर्ती साहित्य है और जिसे कुछ आलोचक प्राचीन हिंदी का ही साहित्य स्वीकार करते हैं। अतः यहाँ हम सिद्धों, जैनियों तथा नाथों के साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

सिद्ध-साहित्य—बौद्ध-धर्म प्राचीनकाल में ही हीनयान तथा महायान दो उप-विभागों में विभक्त हो चुका था। हीनयान तो अपने मूलरूप को बुरी तरह पकड़े रखने के कारण परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को न ढाल सका था, पर महायान हर प्रकार की करवटें बदलता रहा। सहजयान, वज्रयान तथा भक्तयान आदि रूपों से होता हुआ वह सिद्धों तक पहुँचता हैं। इन्हीं सिद्धों में चौरासी सिद्ध इतिहास-प्रसिद्ध हो चुके हैं जिनमें कुछ बहुत प्रसिद्ध कवि भी हुए थे। **सरहपा, शबरपा, भुसुकुपा, लुइया** आदि ऐसे सिद्ध थे जिन्होंने काव्य द्वारा अपने मक्तों का प्रतिपादन किया है। इन सिद्धों का समय आठवीं से नवीं शताब्दों के द्वितीय चरण तक ठहराया जा सकता है।

जैसा कि संकेत किया जा चुका है, वज्रयान सम्प्रदाय के तत्त्वों में तंत्र का समावेश करके अपने मत का प्रचार करना ही इन सिद्धों का मुख्य लक्ष्य था। किन्तु जहाँ तंत्रयान में मद्य तथा मैथुन का प्रवेश हो चुका था वहाँ इन कवियों ने सदाचार

एवं नैतिकता पर बल देते हुए प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन को स्वाभाविक गति देने की वकालत की है। इनकी रचना का विषय व्यापक था। शृङ्गार शान्त के साथ-साथ वीर रस को भी यहाँ स्थान दिया जाता था। इनका शांत रस एक स्वतंत्र अलौकिक रस था। जिन छंदों का इन्होंने प्रयोग किया है उनमें प्रमुख हैं चर्यागीत। दोहा तथा चौपाई जैसे लोकप्रिय छंदों में भी इन्होंने रचनाएँ की हैं। यत्र-तत्र सोरठा तथा छप्पय के उदाहरण भी मिल जाते हैं। सिद्धों के प्रमुख केन्द्र थे नालंदा एवं विक्रमशिला। अतः उनकी भाषा बिहार में बोली जाने वाली अर्धमागधी अपभ्रंश के काफी निकट की भाषा है और उसमें जनसमुदाय की बोलचाल की भाषा मगही का आभास मिलता है। कुछ आलोचकों ने इसे संध्याभाषा भी कहा है। सिद्धों की काव्य-शैली में रहस्यात्मकता की प्रधानता मिलती है।

जैन-साहित्य—धार्मिक अवस्था का अध्ययन करते समय हमने यह देखा था कि विचाराधीन युग में बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म को स्थिति काफी अच्छी थी। आठवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक जैन-साधुओं में कुछ ऐसे कवि हो चुके हैं, जिन्होंने सिद्धों की भाँति ही हिन्दी साहित्य को भाव पक्ष की दृष्टि से बहुत अधिक प्रभावित किया है। **स्वयं भूदेव, आचार्य देवसेन, माइल्ल धवल, महाकवि पुष्पदंत, धनपाल, मुनि रामसिंह, श्री अभय देव सूरि** आदि ऐसे ही जैन कवि थे जिनका इस दृष्टि से बहुत बड़ा महत्त्व है।

सिद्धों की अपेक्षा जैन-कवियों की विषय सामग्री जीवन को व्यापक भाव-भूमि को समेट कर चलती है। यहाँ जैन सिद्धान्त सामान्य शिष्टाचार, सदाचार, लौकिक प्रेमानुराग एवं व्यवहार तथा अन्यान्य लौकिक विषयों को पूरा-पूरा महत्त्व प्रदान किया गया है। आशय यह है कि जैन कवियों ने जीवन-चरित्र, पुराण, कथा साहित्य, आध्यात्मिक काव्य, दोहा एवं चर्यापद, शौर्य एवं प्रणय संबंधी मुक्तक काव्य आदि लिखकर साहित्य को लौकिक एवं अलौकिक, भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों धरातलों पर गतिमान किया। कहना न होगा कि इनके साहित्य में शांत, वीर, शृंगार आदि रसों का प्राधान्य था। जैन-कवियों ने अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है, जिनमें चतुष्पदी, चौढालिया, कवित्त, दोहा आदि प्रमुख हैं। जैन कवियों की भाषा में ही नागर अपभ्रंश का वह रूप देखने को मिलता है, जिसमें प्राचीन हिन्दी स्वरूप निहित था।

नाथ-साहित्य—जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया जा चुका है, सिद्धों की ही एक शाखा के रूप में नाथों का उदय हुआ था और इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री **गोरखनाथ** की गणना भी चौरासी सिद्धों में की गई है। गोरखनाथ, **मत्स्येन्द्रनाथ, गाहिणीनाथ, चरपटनाथ, ज्वालेन्द्रनाथ, भर्तृनाथ, गोपीचन्दनाथ** आदि प्रमुख नाथ साधु हैं। नाथों का वर्णन विषय दर्शन एवं बाह्याडम्बरों की कटु आलोचनाओं तक

सीमित है। दोहा तथा साखी इनके प्रिय छंद थे। शांत ही इनका प्रिय रस है, पर यत्र-तत्र अद्भुत शृङ्गार तथा बीभत्स की भी झलक मिल जाती है।

उक्त अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि हिन्दी के आदि काल को वीर पूजा की परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त होती है। छंद तथा शैलियाँ भी उसे बहुत कुछ यहीं से मिलती हैं। लौकिक शृंगार, रूप-चित्रण, रूप-श्रवण या वर्णन आदि की भी विद्याएँ उसे जैन-साहित्य से प्राप्त होती हैं।

यद्यपि नाथों का समय आठवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के बीच ठहरता है, पर प्राचीन नाथों की रचनाओं को भी पर्याप्त परिवर्तनों से होकर चलना पड़ा है। जिससे उनकी भाषा भी तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी की भाषा का रूप ग्रहण कर चुकी है।

वीरगाथा-काल की सामान्य प्रवृत्तियाँ

जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है, वीरगाथा-काल भारतीय इतिहास के उस युग में पल रहा था जब सम्पूर्ण उत्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँट चुका था और देश की राजनीतिक विशृंखलता से लाभ उठाकर विदेशी आक्रमणकारी अग्रसर होते जा रहे थे। स्वभावतः ऐसी स्थिति में वीरतापूर्ण काव्य का सर्जन हुआ है। पर साथ ही राजाओं की प्रशस्तियों में शृंगार का भी पुट पाया जाता है। इस युग के सभी कवि आश्रयदाता राजाओं का यशोगान करना अपना कर्तव्य समझते थे। नरपति नाल्ह ने अजमेर के चौहान-नरेश बीसलदेव का प्रेमगान 'बीसलदेव रासो' में किया। चंद बरदाई ने अपने आश्रयदाता दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज चौहान की प्रशस्ति-स्वरूप 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की। इसी प्रकार अन्य रासो नामधारी ग्रंथ भी राजाओं की प्रशंसा का ही वर्णन करते हैं। फलतः इस राज्याश्रित साहित्य की धारा कुछ विशेष ढंग की हो गई है। यहाँ हम इसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

वर्ण्य विषय—इस युग की लगभग सभी रचनाएं राजवंशों पर राजाओं तथा उनके सेनापतियों के वीरतापूर्ण कार्यों से परिपूर्ण हैं। दूसरे शब्दों में विषय ऐतिहासिक है, पर इस इतिहास में कल्पना का भी कम हाथ नहीं है। हमें इन ग्रंथों द्वारा प्रदत्त ऐतिहासिक सामग्री की प्रामाणिकता पर संदेह करने के पर्याप्त अवसर प्रदान होते हैं। तिथियाँ तो और भी संदिग्ध हैं। वर्णन पूर्णतया अतिरंजित हैं, अतिशयोक्तियों से सर्वत्र काम लिया गया है।

इस विषय-सामग्री की दूसरी विशिष्टता है, वैयक्तिकता। जिस प्रकार विचाराधीन युग के राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्रायः असंगठित या वैयक्तिक प्रयत्न किया था उसी प्रकार इनके प्रशस्तिकारों की रचना भी वैयक्तिकता से पूर्ण है। यहाँ राष्ट्रीयता की व्यापक भावभूमि का अभाव है।

वर्ण्यविषय की तीसरी विशेषता है श्रृंगारिकता। प्रायः सभी रासो ग्रंथों में नारी-सौन्दर्य का चित्रण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। राजाओं के दरबार में पलनेवाला साहित्य स्वभावतः वीर एवं श्रृंगारपूर्ण होगा, विशेषतया जहाँ युद्ध एवं भोग का वातावरण ही प्रधान हो। राजपूतों के अनेक पारस्परिक युद्ध सुन्दरियों के लिए भी हुए हैं, अतः वीरगाथा-काल में शृंगारपूर्ण रचना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। तलवार और नूपुरों की झंकार इस साहित्य में साथ-साथ सुनाई पड़ती है। युद्ध-क्षेत्रों के सजीव पर अतिरंजित वर्णन चित्रण के क्रोड़ में थे। रनिवासों के मान-मनुहार का भी निरूपण उसी भावुकता से किया गया है।

'बीसलदेव रासो' का जो अपने मूल रूप में एक प्रेमगीत है, एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें कवि ने राजा बीसलदेव एवं रानी राजमती का संयोग दिखलाया है।

'झूना कउ उलपर झूना ताव,
ठमकि ठमकि धणि मेल्हति पाइ।
मन्दिर चालिउ प्रीय कइ।
सूकउ चन्दन भरीय कचोल।
संजत करि सेजइ चडी।
तठइ सुगुणी सरिसी करइ किलोल।'

"झूना का दुपट्टा है और झूना का ही ताव है। ठमक-ठमक कर वह पैर रखती है। वह प्रियतम के मन्दिर को जा रही है। उसने श्वेत चन्दन कटोरे में भर लिया है। सज कर वह शय्या पर आ गई और वहाँ वह सदगुणवती कल्लोल करने लगी।"

इसी प्रकार वर्षा के उद्दीपन विभाव का शृंगारिक चित्रण 'पृथ्वीराज रासो' में भी है :—

'घन गरजै घरहरै पलक निस रैनि निध है।
सजल सरोवर पिक्खि हियौ ततछन घन कहै॥
जल बद्दल बरषत प्रेम पल्लहौ निरन्तर।
कोकिल सुर उच्चरै अंग फहरंत पंचसर॥
दादुरह मोर दामिनी दसय, अरि चवत्थ चातक रटय।
पावस प्रवेस बालम न चलि, विरह अगिनि तन तप घटय॥

और उधर वीरता के चित्रण भी द्रष्टव्य हैं—

चलिय वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगभगणह अंधार धूलि सूरह रण झंपइ॥
दिगभगणह अंधार आणु खुरसाणक ओल्ला।
दरमरि दमसि विपक्खि झरउ ठिल्ली महठोल्ला।'

"वीर हम्मीर के चलने से मेदिनी प्रकाशित हो उठी। दिशाओं में अंधकार छा गया। रण से सूर्य छिप गया। दिशाओं और नभ में अंधकार छा गया। हम्मीर खुरासान का ओल ले आया। विपक्षियों का दलन कर हम्मीर ने दिल्ली में विजयोल्लास निनादित किया।"

—(हम्मीर रासो)

'सनक्कै सनक्कै बहै बान भारं।
हबक्कं हबक्कै बहै सेल मेलं।
कूके कूक फूटी सुरत्तान ढालं।
बकी योग माया सुरं अप्पपानं।
बहै चट्ट पट्टं उघट्टं उल्लटं।
कुलट्टा धरै अप्प अप्पै उनट्ठं।
दडक्कं बजे सेन सेना सुघट्टं।'

—(पृथ्वीराज रासो)

रस—वीर रस की व्यंजना के लिए रति या श्रृंगार विषयक उपमाओं का जो प्रयोग यहाँ किया गया है वह स्वयं इस तथ्य की पुष्टि करता है कि वीरगाथा-काल के कवियों में उक्त दोनों रसों के प्रति विशेष मोह था। इस युग के प्रायः सभी कवि वीर तथा श्रृंगार को अपनाकर चले हैं। वीर रस में रौद्र एवं वीभत्स का वर्णन भी सम्मिलित हो गया है। बहुधा युद्ध-क्षेत्रों तथा घमासान युद्धों के चित्रण में ये दोनों रस आये हैं। और जहाँ मृत्यु एवं नर-संहार के चित्रण होंगे वहाँ करुण रस की भी योजना सम्भव हो जाती है। अभाव है तो केवल हास्य एवं शान्त का। अशान्त एवं राजनीतिक विश्रृंखलता के युग में इनकी सम्भावना भी नहीं हो सकती थी।

भाषा—वीरगाथा-काल की रचनाएँ राजस्थान की साहित्यिक भाषा डिंगल में लिखी गई हैं। वैसे तो स्वयं इस भाषा में ही वीरोचित ध्वनि है। पर कवियों की एक सामान्य प्रवृत्ति यह भी देखने को मिलती है कि वे इसे और अधिक कर्णकटु तथा ओजस्विनी बनाने की चेष्टा में रत रहते थे। शब्दों की तोड़-मरोड़ भी हो जाती थी पर कुल मिलाकर एक ऐसी ध्वन्यात्मकता की सृष्टि होती थी कि शब्दों से ही युद्ध का साकार चित्र सामने आ जाता है।

छंद—इस युग के कवियों में हम बहुधा छन्दों के चुनाव में भी एक समान प्रवृत्ति यह पाते हैं कि वे दूहा, पाघड़ी तथा कवित्तों में ही रचना करना अधिक पसन्द करते थे। इसका सबसे बड़ा कारण तो यह है कि डिंगल भाषा के ये ही प्रसिद्ध छन्द थे और दूसरे इनमें ओज का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक सफल ढंग से हो पाता था।

ग्रन्थों की संदिग्धता—अब तक हमने कवियों की सामान्य प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया था। यहीं इस तथ्य की ओर भी पाठकों का ध्यान आकृष्ट कराना आवश्यक होगा कि इस युग की रचनाओं की जो प्रतियाँ आज उपलब्ध हैं, उनकी मौलिकता पर संकेत करने के पर्याप्त अवसर हैं। इनमें कितना मूल और कितना प्रक्षिप्तांश है, यह कहना बड़ा कठिन है। अनेक कवियों का तो केवल नामोल्लेख भर मिलता है, उनकी रचनाओं का कोई पता अभी तक नहीं लगा है। इसका मुख्य कारण यह है कि जनता की रुचि को न मानने वाली प्रशस्तियाँ काल-कवलित हो गईं। पर वहीं जो रचनाएँ बहुत लोक-प्रिय हो गई थीं, उनका पूरा कलेवर ही उसके परवर्ती गायकों ने बदल दिया। जगनिक का 'आल्हखंड' इसका ज्वलन्त उदाहरण है, जिसकी भाषा आज डिंगल रह ही नहीं गई है।

अध्याय २

भक्ति-काल

हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल संवत् १३७५ से संवत् १७०० तक माना जाता है, अर्थात् सन् १३१८ ई० से लेकर सन् १६४३ ई० तक की रचनाओं को भक्तिकाल के अंतर्गत व्यवस्थाप्य माना गया है। स्वीकार किया गया है। भारतीय इतिहास में यह युग तुगलक वंश (१३२० ई०-१४१२ ई०), सैयद वंश (१४१४-१४५१ ई०), लोदी वंश (१४५१-१५२६ ई०), तथा मुगल वंश, जिनमें बाबर, (१५२६-१५३० ई०), हुमायूं (१५३०-१५५६ ई०—सूर मध्यान्तर सहित), अकबर (१५५६-१६०५ ई०) जहाँगीर (१६०५-१६२७ ई०) तथा शाहजहाँ (१६२८-१६५८ ई०) इत्यादि विभिन्न राजवंशों तथा शासकों के बहुरंगी शासन का अनुभव करता है। इसी युग में दिल्ली सुलतानों के पतनोन्मुख काल में, चौदहवीं शताब्दी में जौनपुर, बंगाल, मालवा, गुजरात, सिंध, मुलतान, कश्मीर तथा मेवाड़ आदि के स्वतंत्र राज्यों का भी उदय होता है। उधर दक्षिण में बहमनी तथा विजयनगर राज्यों की स्थापना होती है। इस प्रकार यह द्रष्टव्य है कि हिन्दी-साहित्य का भक्तिकाल विभिन्न प्रकार के राजनीतिक विघटन तथा पुनस्संगठन से युक्त है। इसमें पहले से चले आनेवाले तुर्क अफगानी सुलतानों का शासन भी सम्मिलित है। फिर राजपूतकालीन भारत की वह स्थिति भी आती है, जब अलाउद्दीन खिलजी का विशाल भारतीय साम्राज्य, जिसमें प्रायः सम्पूर्ण भारत एक ही शासन सत्ता के अधीन लाया जा चुका था, विभिन्न प्रांतीय राज्यों में विभक्त हो जाता है और तब नवीं-दसवीं शताब्दी की भाँति सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में विदेशी मुगलों द्वारा इन राजनीतिक इकाइयों के विलयन द्वारा एक विशाल साम्राज्य निर्माण की योजना कार्यान्वित होने लगती है। अतः इस सवा तीन सौ वर्षों के इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए हम निम्नलिखित दो उपविभागों में विभक्त करेंगे, —

(क) सल्तनत-कालीन भारत, तथा

(ख) मुगल-कालीन भारत।

सल्तनत-कालीन भारत के अन्तर्गत हम तुगलक, सैयद, लोदी तथा हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश से संबद्ध कुछ प्रान्तीय राज्यों के शासन-काल की विभिन्न परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे तथा मुगलकालीन भारत के अन्तर्गत बाबर, हुमायूं, शेरशाह, अकबर जहाँगीर तथा शाहजहाँ के अधीन भारत की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर विचार करेंगे।

सल्तनत कालीन भारत (१३२०-१५२६ ई० तक)

राजनीतिक अवस्था—राजनीतिक अशांति का जो ताँता दास तथा खिलजी वंश के शक्तिशाली सुलतान भी बंद नहीं कर सके थे, उसे सर्वप्रथम गयासुद्दीन तुगलक (१३२०-१३२५ ई०) ने एक बार समाप्त कर दिया। यह राजनीतिक अशांति थी। देशी राज्यों से संघर्ष, मंगोलों के आक्रमण तथा आंतरिक विद्रोह से उत्पन्न ये तीन अवस्थाएँ उत्तर-भारत के शासन के लिए कई शताब्दियों से समस्या के रूप में चली आ रही थीं, जिनसे लोक-जीवन को भी निरंतर आघात-पर-आघात सहने पड़ते थे। देशी राज्यों के संघर्ष में भी हिंदुओं का वध और विदेशी आक्रमणों में भी हिन्दुओं का कत्ल-ए-आम सामान्य-सी बात थी। गयासुद्दीन तुगलक का शासनकाल मुसलमान-कालीन भारतीय जीवन की पहली मरहम-पट्टी थी। यही वह दिन था जबसे सांस्कृतिक समन्वय तथा हिंदू-मुसलमान जातियों के स्वेच्छापूर्ण धर्म-परिवर्तन (बलपूर्वक परिवर्तन नहीं) की परिस्थितियाँ अंकुरितहीन लगती हैं। इसी समय नासिरुद्दीन, बलबन, जलालुद्दीन तथा अलाउद्दीन खिलजी जैसे हिंदू रक्त-पिपासुओं के आघातों को सहलाने वाला एक सुलतान आता है, जो दुर्भाग्यवश पाँच ही वर्षों तक शासन कर पाता है। पर इस अल्पकाल में भी उसने पूरे देश में हिंदुओं के साथ कोमल नीति का निर्धारण करते हुए यह स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि कर-वसूली की नीति निश्चित करते समय "........ उनके साथ ऐसा कठोर व्यवहार न किया जाय कि वे कृषि-कार्य त्यागने को बाध्य हो जाएँ। उनके साथ मध्यम मार्ग का अनुसरण ही सर्वथा उचित है।" वास्तविकता यह थी कि भारतीय माता से उत्पन्न यह गयासुद्दीन तुगलक हिंदुओं की विनम्रता, कोमलता तथा तुर्कों का पराक्रम, पौरुष लेकर उत्पन्न हुआ था। इसके शासन-काल की अल्प अवधि में मंदिर-विध्वंस की परंपरा कुछ दिनों के लिए स्थगित हो जाती हैं। हिंदुओं को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है और कुल मिलाकर एक ऐसे वातावरण की सृष्टि हो जाती है, जिसमें लगभग दो सौ वर्षों से कुचली जानेवाली जाति को पुनः उद्ग्रीव होने का अवसर प्राप्त हो गया। सौभाग्यवश इस औचित्यपूर्ण शासन के पश्चात् विश्व में बहुनिंदित बहुप्रशंसित सुल्तान मुहम्मद तुगलक (१३२५-१३६१ ई०) दिल्ली के तख्त पर समासीन होता है। मुसलमानों की दृष्टि में यह 'काफिर' तुर्क सुल्तान अपने समय से बहुत आगे बढ़कर स्पष्ट घोषणा कर देता है कि मुल्ला-मौलवियों, काजियों आदि के हाथ में प्रजा को सौंपकर अन्याय कर बीजारोपण करना ही है। उसने शताब्दियों से उपेक्षित हिंदुओं को भी राज-काज में उच्च-पद प्रदान किया तथा धर्म-निरपेक्षता की नीति का जोरदार समर्थन और पालन किया। वास्तव में यही पहला सुलतान था, जिसने इस्लामी जगत् के संकीर्ण राजस्व-सिद्धांत को एक जोरदार झटका देकर धर्मगत विभेद और तनाव को अप्रत्यक्ष रूप से कम कराने की सफल चेष्टा की

थी। पर इतिहास जानता है कि इसके लिए उसे भारी मूल्य चुकाना पड़ा था। किंतु तुर्क-अफगान-काल में हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों का जो समन्वय हुआ है, उसके लिए इतिहास मुहम्मद तुगलक का ऋणी है।

दुर्भाग्यवश दो सौ वर्षों के पश्चात् पच्चीस वर्ष की इस अल्पकालीन राजनीतिक सुख-सौविध्य का अंत पुनः राजनीतिक उत्पीड़न एवं अशांतियों के साथ होता है, जब दिल्ली के सिंहासन पर घोर सांप्रदायिक सुल्तान फीरोज तुगलक (१३६१-१३८८ ई०) आता है। इसने मंदिरों के विध्वंस तथा असंख्य ब्राह्मणों के नृशंस बध के पश्चात् यह घोषणा की कि जो कोई भी इस्लाम स्वीकार कर मुसलमान बन जाएगा वह जजिया (टैक्स) से मुक्त कर दिया जाएगा। और यदि हम जीवनी-लेखक अफीफ के कथनों पर विश्वास करें तो "जनता के कानों में यह सूचना पहुँची और बहुत बड़ी संख्या में हिंदू उपस्थित हो गए जिन्हें इस्लाम धर्म स्वीकार करने का सम्मान प्रदान किया गया।" इस कट्टर सुन्नी सुल्तान ने अन्य मुसलमान संप्रदाय वालों पर भी समान रूप से अत्याचार किए। पर इन इस्लामी संप्रदायों-महदवियों, मुलाहिदों तथा सूफियों के साथ घोर अत्याचार करके और साथ ही हिंदुओं को कल्पनातीत कष्ट देकर सुल्तान ने दोनों संप्रदायों को एक-दूसरे के निकट खींच लाने में अप्रत्यक्ष योग ही दिया था। मुहम्मद तुगलक की सहिष्णुता की जो लीपा-पोती फीरोज तुगलक द्वारा आरंभ हुई, वह आगे भी उसी रूप में गतिशील रही। छोटे-मोटे सुल्तानों की बातें छोड़ दें, सबसे प्रचण्ड आघात देता है सिकंदर लोदी (१४८९-१५१७ ई०), जिसने हिंदुओं के मंदिरों के विध्वंस के साथ-साथ उनके समस्त सामाजिक एवं धार्मिक कृत्यों पर प्रतिबंध लगा दिया। एक लाख हिन्दुओं की जो हत्या तैमूर ने पहले ही (१३९८ ई०) की थी, वह देश के लिए कोई नई बात नहीं थी। इसके पूर्व भी अनेक बार कत्ले-आम हो चुके थे और आगे भी अहमदशाह बहमनी (१४२२-१४३५ ई०) तथा मुहम्मदशाह तृतीय (१४६३-१४८२ ई०) ने लाखों हिंदुओं का बध करवाया था। फरिस्ता ने तो मुहम्मद-शाह बहमनी द्वारा बध किए गए हिंदुओं की संख्या ५० लाख बताई है। मुस्लिम इतिहासकारों ने उत्साह-पूर्वक हिंदुओं की लाशों के 'पहाड़' 'खलिहान' आदि का वर्णन करते हुये दुर्गन्ध से मीलों तक की भूमि का विषाक्त हो जाना चित्रित किया है। दिल्ली सुलतानों का अत्याचार द्रौपदी के चीर की भाँति बढ़ता जा रहा था और उधर इनका साम्राज्य भी सिमटता जा रहा था। परवर्ती तुगलकों के युग तक आते-आते ही यह केवल उत्तर तक सीमित रह जाता है। दक्षिण में मालवा, पूर्व में जौनपुर तथा बंगाल राज्य तथा पश्चिम में सिंध एवं गुजरात के स्वतंत्र राज्य स्थापित हो चुके थे। अब दिल्ली, सुलतानों का वह एक छत्र राज्य, बाह्य एवं आंतरिक घातों-प्रतिघातों का प्रतिदिन लक्ष्य बनता जा रहा था और उसकी आधार शिला बिल्कुल दुर्बल हो चुकी थी।

दुर्भाग्यवश हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश के एक बहुत बड़े भाग पर इन्हीं सुल्तानों का शासन बहुत दिनों तक आगे भी बना रह जाता है। हिंदी भक्ति-साहित्य के प्रमुख क्षेत्र राजस्थान तथा मध्य प्रदेश में से केवल मेवाड़ एवं जौनपुर तथा मालवा-राज्य का उत्तरी भाग ही दिल्ली की शासन-सत्ता से मुक्त थे। इनमें भी मेवाड़ को छोड़कर सर्वत्र इस्लामी राज्य ही स्थापित थे।

यह तो उत्तरी भारत की अवस्था थी। दक्षिणी भारत जो भक्ति-आंदोलन के आचार्यों का प्रमुख केन्द्र था और जहाँ से पूर्व मध्यकालीन भक्ति उत्तर की ओर आती है, बहमनी तथा विजयनगर राज्यों के अधीन था। बहमनी राज्य कट्टर मुसलमान-राज्य था; विजयनगर हिंदू पुनरुथान के प्रतीक-स्वरूप दक्षिण का एक शक्तिशाली हिंदू राज्य था, जहाँ भारतीय या विशुद्ध अर्थों में ब्राह्मण-संस्कृति को फलने-फूलने का गुप्तकालीन स्वर्ण-अवसर प्राप्त हुआ था।

यह है मध्यकालीन भारत का पूर्वार्ध, जिसमें हिंदी साहित्य का भक्ति-काल पल रहा था।

आर्थिक अवस्था—सल्तनत कालीन आर्थिक अवस्था के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व हमें इस तथ्य की ओर ध्यान देना होगा कि अलाउद्दीन खिलजी की शोषण नीति से शोषित प्रजा को विकास करने का कोई भी समुचित अवसर नहीं प्राप्त हो पाता है और दो-एक सुधारवादी सुल्तानों की अनुकम्पाओं से भी कोई विशेष लाभ नहीं मिल सका। दुर्भिक्षों का ताँता बँध जाता है और कृषकों की अवस्था उत्तरोत्तर खराब होती जाती है। वाणिज्य-व्यवसाय की दुरवस्था भी बढ़ती जाती है। राजनीतिक अशांतियों तथा प्रशासकीय शोषणों से उत्पीड़ित जनता निर्धनता की सीमा तक पहुँच जाती है। दिल्ली के अधिकांश सुल्तान अपने हितों तथा स्वार्थों तक सीमित रह जाते हैं। उन्हें प्रजा से अधिक अपने तख्त की चिंता थी। अनवरत युद्धों तथा विद्रोहों के दमन में जो व्यय हो रहा था और इस प्रकार जो राजकोष खाली होता जा रहा था उसकी आपूर्ति के लिए जजिया की जंजीर उत्तरोत्तर कड़ी होती जा रही थी। हिंदुओं के हाथ से धीरे-धीरे जागीरें भी छिनती जा रही थीं। प्रांतीय राज्यों में भी अधिकांश मुसलमान राज्य ही थे। फलतः वहाँ भी हिंदुओं के आर्थिक विकास को कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। बंगाल तथा जौनपुर राज्य ही इसके अपवाद-स्वरूप लिए जा सकते हैं। राजपूत राज्य मेवाड़ में निश्चय ही प्रजा-हितकारी कार्य किये जा रहे थे, पर उसकी भी अपनी सीमाएँ थीं। अनवरत संघर्षों में जूझने वाला राज्य अपनी प्रजा को बहुत अधिक सुख-सुविधा नहीं दे सकता था। सारांश यह है कि हिंदी भाषी प्रदेश दरिद्रता की गोद में पल रहा था। तथाकथित शूद्र जातियाँ इस अभिशाप से मुक्ति पाने के लिए बहुत बड़ी संख्या में धर्म-परिवर्तन करती चली जा रही थीं। कुछ विदेशी

इतिहासकारों ने भारत के व्यापार की प्रशंसा की है। निश्चय ही व्यापार के क्षेत्र में गुजरात आदि स्थानों ने विशेष उन्नति कर ली थी, पर पूरे देश की स्थिति ऐसी न थी। उत्तरी-भारत तो बुरी तरह आर्थिक विषमता का सामना कर रहा था। जग-मगाते राजकोषों तथा विलासमय दरबारों से साधारण जनता की आर्थिक स्थिति का अनुमान लगाना एक भारी भूल है। विदेशी व्यापार को जो प्रोत्साहन सुल्तान दे रहे थे, वह केवल अपनी विलासिता की आपूर्त्ति के लिए ही।

सामाजिक अवस्था—विचाराधीन युग की सामाजिक अवस्था भारतीय इति-हास में अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान इस दृष्टि से रखती है कि इसी युग में सर्वप्रथम हिंदू समाज के सम्मुख जातीय सम्मिश्रण एवं विजातीय समन्वय की समस्या विकट रूप धारण करके उपस्थित हुई थी। अब-तक देश में न जाने कई विदेशी जातियाँ आई थीं, प्राचीन-काल से ही उनका आगमन होता रहा है पर वे ईरानी, यूनानी, हूण, सीथि-यन, पारसी आदि जातियाँ यहाँ बस जाने के पश्चात् हिन्दू-समाज में ही हिल-मिल गई थीं। पूर्व मध्यकाल में आक्रमणकारी के रूप में अन्य विदेशियों की भाँति मुसलमान भी आते हैं और वे भी यहाँ स्थायी रूप से बस जाते हैं। आलोच्य युग तक आते-आते इनकी संख्या बहुत अधिक बढ़ जाती है। पर शताब्दियों तक साथ-साथ रह लेने के पश्चात् भी ये हिन्दू-समाज से पृथक् ही रहे; वर्तुलाकार हिन्दू-समाज में त्रिभुजाकार मुसलिम-समाज न समा सका। उल्टे हिन्दू-समाज के एक बहुत बड़े भाग को भय तथा लोभ द्वारा अपने में मिलाकर इसने हिन्दू समाज के सम्मुख कुछ नई सामाजिक सम-स्याएँ अवश्य उपस्थित कर दी थीं। इतना ही नहीं धार्मिक दबाव, राजनीतिक अत्या-चार तथा आर्थिक शोषण ने संपूर्ण हिन्दू समाज को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक ग्रन्थिल-शिशु (Complexed Child) बना कर छोड़ दिया था। सुल्तानों तथा उनके सरदारों की विलासिता सौभाग्यवश उन तक ही सीमित रह गई और दरिद्रता की दीवार ने उसे हिन्दू-समाज तक नहीं आने दिया। हिन्दू-समाज की पराधीनता और निर्धनता ने उसे नैतिक पतन से बचा लिया था और वह अपने उच्च आदर्शों से अब भी चिपका रहा। ग्रामीण क्षेत्रों तक अरबी-तुर्की घोड़ों की टापें नहीं सुन पड़ती थीं, अतः इस युग में वैदिक-काल की ग्राम-सभ्यता को इस नागरिक विकर्षण ने पुनर्जीवन का अवसर प्रदान किया।

हिन्दू-जाति ने जिन सामाजिक विभाजनों, वर्गों, उपवर्गों को पूर्वमध्यकाल में जन्म दे रखा था, उनका पारस्परिक पार्थक्य और अधिक वृहत्तर हो गया था। विश्रृं-खलता में किसी प्रकार की कमी नहीं आई थी। यह जाति देख रही थी कि उसका ही एक अंग, जिसे उसने अब तक शूद्र कहकर उपेक्षित किया था तीव्र गति से पराया

बनता जा रहा है, पर इसकी उसे कोई चिन्ता न थी, वह अपनी परंपराओं को छोड़ नहीं सकती थी, भले ही उसकी भारी-से-भारी क्षति हो जाए।

ब्राह्मण देवता अब भी हिन्दू-समाज के कर्णधार थे। उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं हुआ था। मौलवी एवं काजियों की देखा-देखी सुल्तानी सिपाहियों की नजरें बचाकर ये भी ग्रामीण क्षेत्रों में फतवे दिया करते थे। पुराणों द्वारा ब्राह्मणों के गौरव की पुनस्थापना ही इसके मूल में है। महात्मा कबीरदास को ब्राह्मणों की ठेकेदारी से जो चिढ़ थी (मुल्ला और काजियों से भी कम चिढ़ न थी) वह सकारण है। वेद-पुराण तथा धर्मशास्त्र का नाम लेकर जीने वाले पुरोहितों की संख्या भी कम न थी। इनके प्रभुत्व की झलक कबीर की उन पंक्तियों में मिलती है, जिनमें पाप-पुण्य का पांसा पलट देने तक की शक्ति की ओर संकेत किया गया है—

'पाप पुन्य के हाथे पासा, मारि जगत को कीन्ह विनासा।
ई बह्मी कुल बह्मि कहावे, ई गृह जारे ऊ गृह मारे॥

और केवल ब्राह्मण नाम से परिचय दे देने पर ही उन्हें 'पंचासन' दिया जा रहा था—

'ऐसी विधि सुर विप्र भनीजै, नाम लेत पंचासन दीजै।'

कबीर के शब्दों में ही इन ब्राह्मणों का समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान विचारणीय है—

'अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये सभा माहि अधिकाई।
इनसे दिच्छा सभकोइ मांगै, हँसि आवत मोहि भाई॥'

क्षत्रियों के हाथ से शासन-सत्ता जा चुकी थी, पर अभी छात्र-धर्म नहीं गया था। यद्यपि स्वतंत्र विद्रोह करने में राजपूत असमर्थ हो चुके थे, पर तुर्की अमीरों, सरदारों, मुल्ला तथा पदलोलुप सरदारों के विद्रोहों में इनका बहुत बड़ा हाथ था। कबीर ने क्षत्रियों को जो उपदेश दिया है, उससे केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि उनमें अब भी सामरिक एवं हिंसात्मक वृत्ति विद्यमान थी, जिसे कबीर ने सत्पथ और सदवृत्ति में परिवर्तित करने का उपदेश दिया—

छत्री करइ छत्रिया धरमा, वाके बढ़इ सवाई करमा।
छत्री सो जो कुटुम से जूझै, पाँचों मेंटि एक कै बूझै।
जीव मारि जीव प्रति पाले, देखत जनम आपनो हारे।
हालै करै निसाने घाऊ, जूझि परै तहाँ मनमथराऊ।

क्षत्रियों को वास्तव में अब इसी 'जूझने' और 'निशाना' करने का अवसर रह गया था, शत्रु रह गया था 'मनमथ'। कबीर ने ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की जिस गिरी हुई दशा का चित्रण किया है, वह अवस्था कबीर के उदय के सौ-दो-सौ वर्ष पूर्व से ही चली आ रही थी। राजपूतों के जिस वर्ग ने वणिक वृत्ति को अपनाना आरम्भ कर

दिया था, उसने विचाराधीन 'युग में, इस दिशा में और अधिक उन्नति की। शूद्रों की अवस्था अत्यन्त दयनीय थी। कबीर ने अनेक बार इस पर क्षोभ प्रकट किया है।

अब तक हिन्दू-समाज की गिरी हुई अवस्था का अध्ययन हुआ है, अब मुसलमान-समाज पर दृष्टि निक्षेपण आवश्यक है। यह समाज स्पष्टतः तीन वर्गों में विभक्त था—(क) शासक वर्ग या सर्वोच्च वर्ग, (ख) राजकर्मचारी एवं उच्च पदाधिकारी अर्थात् मध्यम वर्ग तथा (ग) निम्न वर्ग, जिसमें सैनिक तथा किसानों को लिया जा सकता है। एक चौथा वर्ग, जो हिन्दू-समाज में भी समान रूप से पाया जाता था, साधु-महात्माओं, जोगियों, फकीरों आदि का था, जो पूर्णतया धर्मोपजीवी या परोपजीवी था।

उच्च मुसलमान-वर्ग हर प्रकार की सुख-सुविधा-वैभव का उपभोग कर रहा था। यही देश का वह वर्ग था, जिसके लिए जीवन वरदान था। पर जहाँ तक मानवता का सम्बन्ध है, इस वर्ग के नब्बे प्रतिशत व्यक्ति अमानव थे। क्रूरता, हिंसात्मकता, विलासिता, अनैतिकता, मद, अहंकार ईर्ष्या-द्वेष, छल-कपट आदि वे जन्मजात गुण थे, जो इस वर्ग के हर सदस्य को पैतृक रिक्थ के रूप में प्राप्त होते थे। मध्यम वर्ग, उच्चवर्ग के अनुकरण में डूबा हुआ था। कभी-कभी तो वह सफल अभिनय कर पाता था पर कुछ चतुर सुल्तानों ने उनके नाचरंग, सामूहिक गान, नृत्य-संगीत के उत्सवों आदि पर प्रतिबन्ध लगाकर उन्हें ठिकाने पर लाने की चेष्टाएँ की थीं। निम्नवर्ग में अधिकांशतः नवमुस्लिम थे, जो पहले हिन्दुओं की तथाकथित शूद्र जाति के सदस्य थे। इन्हें इस्लाम स्वीकार कर लेने के पश्चात् थोड़ी राहत मिल गई थी। फकीरों, जोगियों तथा साधुओं का जीवन बहुत कुछ सुखमय बीत रहा था, क्योंकि ये धर्मोपजीवी थे और जहाँ दो धर्मों का संघर्ष चल रहा था, वहाँ धर्म के ठेकेदारों तथा धर्म-दूतों दोनों की स्थिति स्वभावतः अच्छी हो सकती थी।

धार्मिक अवस्था—दसवीं से तेरहवीं शताब्दी के अंतिम चरण तक की धार्मिक अवस्था का जो चित्रण प्रारंभ में किया गया है; वही विचाराधीन युग की धार्मिक अवस्थाओं का स्रोत है। इन्हीं अवस्थाओं के परिवर्तित-परिवर्धित रूप हमें चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दियों में देखने को मिलते हैं। यहाँ तत्कालीन धार्मिक विशेषताओं की ओर संक्षेप में संकेत प्रस्तूयमान है।

ब्राह्मण धर्म ने बहुदेववाद की परंपरा को आगे बढ़ाया था और जिस प्रकार अंतर्जातियों की छोटी-छोटी टुकड़ियाँ बनती जा रही थीं; उसी प्रकार महंथों की हर गद्दी तथा गुरुओं की हर ड्योढ़ी मंदिर बनकर गुरुदेवता या कुलदेवता की स्थापना करती जा रही थी। जिस प्रकार काव्यशास्त्र के आचार्यों ने एक के एक सौ और फिर सौ के हजार भेदोपभेद बनाने में ही अपने आचार्यत्व की सिद्धि मान ली थी, उसी

प्रकार विचाराधीन युग में धर्माधिकारियों ने संप्रदायों के निर्माण में होड़ लगा दी थी। पिछले अध्ययन में वैष्णव धर्म का उल्लेख हुआ है। विचाराधीन युग में उत्तर-पूर्व भारत में इस धर्म की थोड़ी प्रगति होती है। इस धर्म की विशेषता थी, राम तथा कृष्ण की उपासना।

कबीरदास को जो धर्म देखने को मिला था, उसका उल्लेख कर देना भी आवश्यक है। उन्होंने हमें सूचित किया है कि धर्म का आचार पक्ष तो विडम्बनाओं से भर गया था और तत्त्व पक्ष से सभी संप्रदाय वाले अछूते थे;—

संतों देखत जग बौराना।
साँच कहौं तो मारन धावे, झूठहि जग पतियाना॥
नेमी देखा धरमा देखा, प्रात करै अस्नाना।
आतम मारि पखानहिं पूजै, उनि मँह किछुअन ज्ञाना॥
बहुतक देखा पीर अवलिया, पढ़े कितेब कुराना।
कै मुरीद ततबीर बतावै, उनि मँह उहै जो ज्ञाना॥
आसन मारि डिंभ धरि बैठे, मन मँह बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गरब भुलाना॥
माला पहिरे टोपी पहिरे, छाप तिलक अनुमाना।
साखी सबदै गावत भूलै, आतम खबरि न जाना॥
हिंदू कहै मोहिं राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना।
आपस में दोउ लरि-लरि मूए, मरम काहु नहिं जाना।
घर-घर मंतर देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना।
गुरु सहित सीस सब बूड़े, अंत काल पछिताना॥
कहँहि कबीर सुनहु हो संतो, ई सभ भरम भुलाना।
केतिक कहौं कहा नहिं मानै, सहजै सहज समाना॥

पर इस धार्मिक विडंबना भेदौपभेद के भी कुछ ठोस कारण थे।

विभिन्न तांत्रिक साहित्य से प्रभावित एवं कुमारिल तथा शंकर से उत्प्रेरित अनेक पंथों और संप्रदाओं की पारस्परिक प्रतिस्पर्धा में पड़कर देवताओं का पद ऊँचा-नीचा होता रहा। उपासना पद्धतियों में भी उलट-फेर होते रहे। तंत्र-मंत्र और भैरवी चक्र में ब्राह्मणों ने भी बौद्धों से होड़ लगा रखी थी। भूत-प्रेत, जादू-टोना और देवी-देवताओं की बहुरंगी-उपासना का जो आविष्कार दो सौ वर्ष पूर्व हो चुका था, वह पूर्ववत् आगे बढ़ाया जा रहा था। यहीं हम दक्षिण भारत की धार्मिक अवस्था के संबंध में इतना कह देना चाहेंगे कि यहाँ हिंदू धर्म की प्राय: सभी शाखाओं को फलने-

फूलने का इसलिए अवसर मिल रहा था कि खिलजियों के बाद यहाँ प्रांतीय राज्यों की स्वतंत्रता का युद्ध छिड़ जाता है, जिससे उत्पीड़िकों का ध्यान धार्मिक अत्याचारों से हटकर राजनीतिक गतिविधियों की ओर चला जाता है। सौभाग्यवश इधर ही विजय-नगर का हिंदू राज्य स्थापित होता है, जिसमें ब्राह्मण-धर्म को फलने-फूलने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है। आलवार संतों की पवित्र भूमि 'दक्षिण-भारत' धार्मिक-सक्रियता में इसलिए भी अग्रसर रहा कि यहीं शंकर के मायावाद के विरुद्ध आवाज उठाने वालों की आवश्यकता हुई थी और हम देखते हैं कि आलवारों के ठीक बाद इसी भूमि में आचार्यों का उदय होता है जिन्होंने शास्त्रीय ढंग से प्राचीन भागवत धर्म की न केवल पुनस्थापना की, प्रत्युत देश के अन्य भागों में इसका जोरदार प्रचार भी किया। 'भक्ति-आंदोलन' शीर्षक के अन्तर्गत इन आचार्यों का अध्ययन कुछ विस्तार-पूर्वक अपेक्षित है। यहाँ केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इन्हीं आचार्यों ने प्राचीन भक्ति-आंदोलन को पुनर्जीवन प्रदान किया। बौद्ध धर्म कभी का इतिहास मात्र बन चुका था और जैन धर्म ब्राह्मण धर्म में तिरोहित होने की तैयारियाँ कर रहा था।

इस्लाम-धर्म ने विचाराधीन युग में कुछ और उन्नति की। कट्टर सुन्नियों की संख्या में तो कोई विशेष अभिवृद्धि नहीं हो पाई थी, पर सूफियों तथा ख्वाजा सम्प्रदाय वालों ने इस दिशा में प्रगति की थी। कश्मीर, पंजाब और सिन्ध में अब तक ख्वाजा सम्प्रदाय की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई थी। उनका वह नाटकीय धर्म-परिवर्तन अब भी चलता रहा। १४३० ई० में पीर सदरुद्दीन को भारत भेजा गया था, जिसने यहाँ आकर अपना नामकरण सहदेव किया। इसने अली को विष्णु का दसवाँ अवतार घोषित किया था और अली का एक मंदिर भी बनवाया था, जिसमें कीर्तन के लिए भजनों की भी रचना स्वयं सहदेव ने ही की थी। परिस्थिति पूर्णतया उसके अनु-कूल थी। फीरोज तुगलक, जिसे ऐसे धार्मिक नाटकों से चिढ़ थी, कब्र में पड़ा हुआ था और दिल्ली के तख्त पर दुर्बल सैयद सुल्तानों का शासन चल रहा था। उसके इस प्रकार के अभिनय ने हजारों हिन्दुओं को आकृष्ट किया। उधर शागिर्द पीर की करा-मातों को 'आलिफ लैला' या 'किस्सा चहार दरवेश' की भाँति बढ़ाते-चढ़ाते जा रहे थे। इसकी पुस्तक 'दशावतार' ने तो उक्त अभिनय में मंच का कार्य किया। इस प्रकार ज्ञातव्य है कि जहाँ उत्तरी भारत में अधिकांशतः कट्टर सुन्नी मुसलमान धर्मावलंबियों का प्राधान्य था, वहाँ पश्चिमोत्तर और ध्रुव उत्तर में बारहवीं शताब्दी से ही सूफियों तथा नाजिरी सम्प्रदाय वालों का प्रभाव स्थापित हो चुका था।

मुगलकालीन भारत (१५२६-१६५८ ई०)

राजनीतिक अवस्था—हमें ज्ञात है कि दिल्ली सुल्तानों के अधःपतन के पश्चात्

प्रान्तीय राज्यों का अभ्युदय तीव्र गति से होना आरम्भ हुआ था। जैसा कि पिछले पृष्ठों में संकेत किया गया है। ये राज्य बहुधा मुसलमानों द्वारा शासित थे। चूँकि इन नवोदित प्रान्तीय राज्यों अथवा नवदासता-मुक्त प्राचीन स्वतंत्र राज्यों में सभ्यता एवं संस्कृति को फलने-फूलने का पर्याप्त अवसर नहीं मिलता है। यह वास्तव में संक्रान्ति काल था, जिसमें राजनीतिक उथल-पुथल एवं सामरिक गतिविधियों को ही अधिक महत्त्व मिला था, क्योंकि अस्तित्व की रक्षा के लिए यही एक मार्ग था। फिर भी कुछ प्रांतीय शासकों ने तुर्क अफगानों की उखड़ती साँस का अनुमान लगा लिया था। और वे सुरक्षात्मक कार्यों के साथ-साथ रचनात्मक कार्यों की ओर भी निश्चिन्त होकर ध्यान दे रहे थे। यहाँ इन्हीं प्रान्तीय राज्यों के सांस्कृतिक महत्त्व का संकेत उपस्थित है।

बंगाल, जौनपुर, गुजरात, मालवा, खानदेश, दक्खिन का बहमनी वंश, बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुण्डा, बरार तथा बीदर के मुसलमानी राज्यों का इतिहास तो अधिकांशतः युद्धों एवं रक्त-रंजित विद्रोहों में डूबा हुआ है। कुछ ही राज्य इसके अपवाद-स्वरूप थे। बँगाल, जहाँ कभी सेन वंशीय राजाओं ने वैष्णव धर्म एवं साहित्य के संवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण योग दिया था, विचाराधीन युग में भी सौभाग्यवश हुसेनशाही वंश के अधीन सांस्कृतिक प्रगति कर रहा था। बोल्जले हेग महोदय ने ठीक ही लिखा है "सामन्यतया बँगाल के मुसलिम शासकों ने अपनी हिन्दू-प्रजा के प्रति धार्मिक सहिष्णुता का व्यवहार किया, किन्तु पूर्वी बंगाल में मुसलमानों की संख्या में आधिक्य से स्पष्ट है कि समय-समय पर उस प्रदेश में धर्म-परिवर्तन की लहर अवश्य आई होगी, क्योंकि बंगाल के सब मुसलमान आक्रमणकारियों की ही संतान नहीं हो सकते थे।" स्मिथ महोदय ने भी बंगाल के मुसलमान-शासकों की धार्मिक सहिष्णुता का उल्लेख किया है। हुसेनशाह (१४९३-१५१८ ई०) ने तो हिन्दू मुसलिम-समन्वय के लिए ही 'सत्यवीर' नामक सम्प्रदाय की स्थापना की थी। पिता की भाँति नुसरत शाह (१५१८-१५३२ ई०) भी धर्म-सहिष्णु था। उसने भी हिन्दुओं को हर प्रकार से राजनीतिक एवं धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान करके उन्हें मुसलमानों के समकक्ष लाकर सांस्कृतिक समन्वय को बल प्रदान किया था। जौनपुर का शर्की वंश प्रारंभ में कुछ धार्मिक कट्टरता का परिचय देता है। पर कालांतर में वह कला एवं साहित्य की अभिवृद्धि को प्रोत्साहन देने में लग जाता है जिससे स्वभावतः कट्टरता में कमी आ जाती है। गुजरात आदि से अन्त तक युद्धों में व्यस्त रह जाता है। इसी प्रकार मालवा भी युद्ध एवं विलासिता की गोद में पड़ा रह गया। पड़ोसी हिन्दू-राज्यों से इनका जो संघर्ष हो रहा था, उसने मालवा के शासकों को धर्म-असहिष्णु भी बना दिया था।

उदयपुर, उड़ीसा तथा विजयनगर यही तीन समकालीन हिन्दू राज्य थे। उदयपुर तथा हिन्दू-संस्कृति का नाम इतिहास में साथ-साथ लिया जाना चाहिए। मेवाड़ के

सिसोदिया वंश ने प्राचीन युग से लेकर मुगलों के सशक्त साम्राज्यवादी युग में भी अपनी स्वतंत्रता बनाये रखते हुए हिन्दू-धर्म एवं हिन्दू संस्कृति के गौरव की रक्षा की थी जिसका साक्षी इतिहास है। मेवाड़ के राणा हाड़ा जिस प्रकार सर्वसाधारण में स्वतंत्रता का बीजारोपण किया गया था उससे समूचे पश्चिमोत्तर भारत के हिन्दू-समाज में अपने धर्म तथा जाति के प्रति उस संकट काल में भी प्रगाढ़ मोह एवं उसकी रक्षा के लिए अदम्य उत्साह भरता जा रहा था। भागवत धर्म के इतिहास में अपना पृथक् महत्त्व रखनेवाला उड़ीसा प्रदेश बहुत दिनों तक अपनी स्थिति के कारण इसलामी प्रभाव से अछूता रहा रहा था किन्तु कालांतर में इसकी शांति भंग होती है। फिर भी अनन्तवर्मन (१०७६-११४७ ई०) द्वारा निर्मित पुरी के जगन्नाथ मंदिर में भक्तों की भीड़ पूर्ववत् लगती रही और इस्लामी अत्याचार भक्तों की श्रद्धा या भक्ति में किसी प्रकार की कमी न ला सका। पुरी एवं भुवनेश्वर के भागवत् केन्द्र हिन्दुओं को पूर्ववत् प्रेरणा देते रहे।

विजयनगर राज्य ने दक्षिण में ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान में चौदहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण से लेकर सोलहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक वही कार्य किया जो उत्तर-भारत में कभी गुप्तों ने किया था। अनेक प्रमुख आचार्य विजयनगर के नरेशों तथा मंत्रियों द्वारा प्रोत्साहित किए गए थे। इस वंश ने अनेक कुशल एवं कला-प्रेमी शासकों को जन्म दिया था। अपनी प्रजा की सुख-सुविधा का इस राज्य ने पूरा-पूरा ध्यान रखा था यद्यपि इस राज्य को अन्त तक मुसलमानी राज्य से संघर्ष करना पड़ा था और उसमें धन-जन की काफी क्षति हुई थी तथापि हिन्दू जनता को इस महा विनाश में भी जातीय गौरव की भावना ही मिलती रही। तालीकोट के निर्णायक युद्ध (१५६४ ई०) में अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा तथा बीदर के मुसलमानी राज्यों ने संगठित होकर निरंतर पाँच महीनों तक रक्तपात का जो क्रम जारी रखा था, उससे भी हिन्दू-जनता नहीं घबरा सकी थी, क्योंकि उनमें विजयनगर के संस्थापक हरिहर तथा बुक्का का खून जोश मार रहा था।

प्रान्तीय राज्यों का जो संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया गया है, उससे यह स्पष्टतः ज्ञात हो जाता है कि मुगलों के आक्रमण के पूर्व तक तुर्क अफगानों की जर्जर शक्ति को झकझोर कर खडे होने वाले राज्यों में से अधिकांश मुसलमान राज्य ही थे जिनमें धार्मिक दृष्टिकोण से कुछ ही राज्य सहिष्णु थे। हिन्दू राज्यों में ब्राह्मण धर्म में पुनरुत्थान की भावना निहित थी। उन राज्यों में प्रजा-कल्याणकारी कार्य भी किये जा रहे थे, पर युद्धों के कारण स्थानीय शान्ति एवं सुव्यवस्था में प्रायः बाधा उपस्थित हो जाया करती थी।

सन् १५२६ ई० में बाबर ने दिल्ली की जर्जर शक्ति को एक ही धक्के में धराशायी बना दिया और सूर मध्यान्तर (१५४०-१५५५ ई०) को छोड़कर पूरे मध्य-

काल में, लगभग संपूर्ण भारत पर, मुगलों का एकछत्र राज्य बना रहा। जैसा कि प्रारंभ में ही संकेत किया गया है बाबर, हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब, ये छह सम्राट मुगल वंश के छह स्तंभ थे। इनमें से हिंदी के भक्ति-काल का संबंध केवल प्रथम पाँच सम्राटों से ही रहा है। यहाँ हम इन्हीं सम्राटों के अधीन भारत पर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

मुगलों की धार्मिक नीति—बाबर को शासन करने के लिए केवल चार वर्ष मिल पाए थे, अतः उसकी किसी निश्चित नीति का अनुभव भारतीय समाज न कर सका। पर इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अनेक बार तोबा तोड़ कर शराब पीने वाला बाबर धर्मान्ध हो ही नहीं सकता था। पिता की भाँति हुमायूँ भी धर्म-सहिष्णु था, पर पैतृक धर्म के स्थान पर वह सूफ़ी-मत की ओर अधिक झुका हुआ था और उसके कार्य प्रायः सूफियाना ही होते थे। बलात्-धर्म-परिवर्तन को वह कभी भी महत्त्व नहीं देता था। इन दो मुगल-बादशाहों के पश्चात् उस महान् मुगल सम्राट् का दीर्घकालीन शासन आरंभ होता है, जो इतिहासकारों के लिए अपने धार्मिक विश्वासों को लेकर आज तक रहस्य बना हुआ है और जिसकी धार्मिकता का कुछ इतिहासकारों ने मजाक तक उड़ाया है। पर इसमें सन्देह नहीं कि अकबर की उदारता तथा उसकी कूटनीति दोनों के संमिश्रण ने प्रजा को स्वधर्मानुसार आचरण करने की छूट दिला दी थी। यही वह युग था जब लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों से राजनीति की चक्की में पीसी जाने वाली हिन्दू-जनता को एक व्यापक स्तर पर सुख-सुविधा प्रदान की गई थी और उसे राज-काज में मुसलमानों से किसी प्रकार कम महत्त्व नहीं प्रदान किया गया था। अकबर के पहले भी हमें दो-एक ऐसे नाम मिल चुके हैं, जिन्होंने अपनी हिंदू-प्रजा को पूर्ण राजनीतिक अधिकार दे रखा था, पर उनमें अकबर का नाम स्वर्णाक्षरों से लिखा जाएगा, जिसने हिन्दुओं को शासक-मुसलमान वर्ग के समकक्ष विठाया। इसी युग में एक बार फिर मन्दिरों में उपासना का घंटारव होने लगा और खुले आम राजपथों पर शंख-ध्वनियाँ सुनाई पड़ने लगीं। यही वह समय है जब हिन्दू प्रजा को यह विश्वास हो जाता है कि धार्मिकता तथा नैतिकता के क्षेत्र में वे मौर्य, गुप्त या हर्ष-कालीन हिन्दुओं के समान ही हैं। यही कारण है कि अकबर के कटु आलोचक बदायूँनी ने सजातोय शेखों की अवस्था पर आँसू बहाते हुए अकबर पर कीचड़ उछालने की इस प्रकार चेष्टा की है—

"बेचारे शेख जिन्हें हिन्दू अर्थ-सचिवों की कृपा पर छोड़ दिया गया था, अपने निर्वासन में अपनी आध्यात्मिकता को भी भूल बैठे और निवास के लिए उनके पास चूहों के बिलों को छोड़कर और कोई दूसरा स्थान नहीं रह गया था।"

बदायूँनी का उक्त कथन निश्चित रूप से प्रतिक्रियात्मक है। वास्तविकता यह

है कि अकबर ने हिन्दुओं को जो छूट दी थी, तथा हिन्दू आचार्यों को सम्मान एवं महत्त्व प्रदान करते हुए कट्टर एवं धर्मान्ध मुल्लाओं और उनके पिट्ठुओं की जो उपेक्षा की थी, उससे एक बदायूँनी तो क्या भारत के हजार-हजार बदायूँनी अकबर से असंतुष्ट होते गए थे। जौनपुर का मुल्ला मुहम्मद याजदी १५८० ई० में सम्राट् के विरुद्ध फतवा निकाल कर भी उसका कुछ न बिगाड़ सका। हाँ, कुछ मुस्लिम धार्मिक संस्थाओं की भूमि अवश्य अकबर द्वारा छिनवा ली, क्योंकि अकबर किसी भी असहिष्णु धार्मिक संस्थान को पनपने नहीं देना चाहता था। ब्राह्मण धर्म के महत्त्व का प्रचार करने के लिए ही अकबर ने 'रामायण' तथा 'महाभारत' जैसे प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद भी करवाया था। पिता की धर्म-सहिष्णुता का प्रभाव जहाँगीर पर भी पड़ा था और उसने घोर संघर्षों से जूझकर भी अकबर द्वारा स्थापित धार्मिक सहिष्णुता की नीति पर किसी प्रकार की आँच नहीं आने दी थी। इसने भी अनेक पौराणिक ग्रन्थों का फारसी अनुवाद करवाया था। जहाँगीर द्वारा महात्मा सूरदास को सम्मानित किए जाने की भी किंवदन्ती है। किन्तु हिन्दुओं के लिए यह स्वर्ण अवसर स्थायी न बन सका। ठीक उसी समय जब साम्राज्य पराकाष्ठा की सीमा पर पहुँचता है, साम्राज्याधिकारियों की धर्मान्धता भी चरम सीमा को छूने लगती है। तभी तुर्क-अफगानों के युग की जैसे पुनरावृत्ति-सी होती है और १५२६ से १६२७ ई० तक जिस सुख-सुविधा का उपभोग हिंदुओं ने किया था, उसका न केवल आगामी सौ वर्षों तक नाम-निशान तक मिट जाता है, प्रत्युत काफिरों की सुविधाओं से ईर्ष्या करनेवाले काजी तथा मुल्लाओं ने शाह-जहाँ तथा औरंगजेब पर जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जादू डाला था, उससे ये दोनों बादशाह उस सभ्य, सुसंस्कृत एवं समन्वय के युग में भी मंगोलों की प्रारम्भिक बर्बरता एवं संकीर्णता की ओर उन्मुख हो गए जिसके फलस्वरूप हिन्दुओं को घोर उत्पीड़न तथा अत्याचारों का सामना करना पड़ा। सिंहासनासीन शाहजहाँ पर पैतृक प्रभाव प्रधान था पर शीघ्र ही उस पर मुल्लाओं का रंग चढ़ने लगा और तब उस कलाप्रिय सम्राट् की सौन्दर्यानुभूति में आश्चर्य स्वरूप धार्मिक संकीर्णता का सूत्रपात हो गया। संत कबीर तथा सूफी संतों ने समन्वय की जो चेष्टाएँ की थीं, उनसे हिन्दू-मुस्लिम समाज खान-पान, रीति-रिवाज, वेश-भूषा में ही नहीं रोटी-बेटी के संबन्धों में भी निक-टता स्थापित करने को सोच रहा था किन्तु शाहजहाँ ने ऐसा आदेश निकलवाया कि ये सारे कार्य बन्द हो गए। उसने प्रलोभन ही नहीं शक्ति के द्वारा भी हिंदुओं को धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया था। आश्चर्य तो यह है कि कट्टर सुन्नी होने के कारण उसने शिया मुसलमानों को भी नहीं छोड़ा। इतना ही नहीं ईसामसीह के प्रेम का संदेश सुनानेवालों को भी इसने कई ठोकरें दीं। शाहजहाँ के प्रोत्साहन से ही बदायूँनी

के वे मुल्ला जिन्हें 'चूहे के बिलों की ही शरण रह गई थी', अब हिन्दू पंडितों तथा शिया धर्माचार्यों को अपशब्द तक कहने लगे।

आर्थिक अवस्था—संक्रांति कालीन भारत की आर्थिक अवस्था कुछ डाँवा-डोल अवश्य रही पर मुगलों का शासन स्थापित हो जाने के पश्चात् आर्थिक अवस्था में कुछ सुधार होता है। यह सुधार भी एकांगी था। आर्थिक दृष्टि से हम तत्कालीन समाज को चार भागों में बाँट सकते हैं। पहला वर्ग सम्राट् तथा उसके कुटुम्बियों का था, जो हीरे-जवाहरातों से खेला करता था, सोने-चाँदी में लोटा करता था। देश की समस्त आय का अधिकांश दरबार तथा हरम की आवश्यकताओं की पूर्त्ति में व्यय हो जाया करता था। यहाँ अत्यधिक व्ययसाध्य विलासिता का नग्न रूप देखने को मिलता था। विदेशों से ऊँचे मूल्य पर विलासिता की सामग्री मँगाई जाती थी। द्वितीय वर्ग था राज्य के उच्च पदाधिकारियों तथा मनसबदारों का। ये मनसबदार तथा उच्च पदा-धिकारी लम्बी-लम्बी तनखाहें या बड़ी-बड़ी जागीरें प्राप्त करते थे। विलासी मुगल बादशाहों के निकट रहने के कारण इन पर भी उनकी विलासिता की पूरी-पूरी छाप पड़ी थी। बड़ी-बड़ी दावतों-जलसों और नाच-रंगों में ये पानी की तरह रुपया बहाते थे। मृत्यु के पश्चात् उनकी सम्पत्ति राज्य की संपत्ति हो जाएगी इसलिये भी वे अपने जीवन-काल में ही वरदान स्वरूप आई हुई संपत्ति को दिल खोलकर भोग रहे थे। नौकरशाही का जो विस्तृत जाल बिछा हुआ था, उसमें द्वितीय श्रेणी के कर्मचारी मध्यम वर्गीय स्थिति में थे। उनकी अवस्था साधारण व्यापारियों एवं जमींदारों जैसी थी। निम्नस्तरीय राजकर्मचारी तथा साधारण जनता चतुर्थ वर्ग में सम्मिलित की जा सकती है। इनमें भी एक वर्ग की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी पर एक दूसरा वर्ग घोर निर्धनता में पड़ा हुआ था। कृषकों की अवस्था बड़ी दयनीय थी। साधारणतः हिन्दू जाति का एक बहुत बड़ा भाग घोर आर्थिक संकट एवं विपन्नता का सामना कर रहा था। दुर्भाग्यवश अकालों का ताँता बँध गया था। जिन इतिहासकारों ने मुगल बादशाहों की चमक-दमक, शान-शौकत का बहुरंगी रूप देखा है, उन्होंने इनकी साधारण प्रजा की करुण दशा भी देखी है। सौभाग्य की बात बस यही थी कि वस्तुओं का मूल्य गिरा हुआ था, इसलिए कम मजदूरी पाने वालों की भी जीविका किसी प्रकार चल जाती थी।

देश में उत्पादन कम न था, देशी एवं विदेशी व्यापार भी उन्नत अवस्था में था पर वितरण के दोष के कारण ऐसी स्थिति थी कि देश की एक बहुत बड़ी जनसंख्या गरीबी में अपने दिन काट रही थी।

सामाजिक विषमता तथा नैतिक पतन—यदि हम मध्यकालीन समाज को विलासिता, दरिद्रता तथा अनैतिकता का समन्वित मुखरित रूप कहें तो अत्युक्ति न

होगी। ऊपर हमने मुगलकालीन समाज को आर्थिक दृष्टि से चार वर्गों में विभक्त किया था पर रहन-सहन, खान-पान और जीवन-स्तर की दृष्टि से हम इसे तीन मोटे भागों में विभक्त कर सकते हैं—उच्च वर्ग जिसमें बड़े-बड़े शाही पदाधिकारी सम्मिलित थे, मध्यमवर्ग, जिसमें व्यापारी तथा निम्न श्रेणी के राजकर्मचारी सम्मिलित थे और निम्न वर्ग जिसमें उक्त दो वर्गों को छोड़कर सारा-का-सारा देश सम्मिलित था। इन तीनों स्तरों में इतना वैषम्य और वैभिन्य उपस्थित हो गया था कि सम्पूर्ण हिन्दू तथा मुसलमान समाज सामाजिक दृष्टि से एक विचित्रालय से अधिक और कुछ न था। जहाँ उच्च वर्ग अश्लील भोग-विलास, आमोद-प्रमोद, नाच-रंग, माँस-मदिरा मैथुन, द्यूत और विलासपूर्ण प्रीतिभोजों के मद में चूर था और उनका पिछलग्गू नक्काल मध्यम वर्ग इन विलासों के अभिनय में "मेकप" करने में व्यस्त था, वहीं निम्नवर्ग इन दोनों वर्गों की भूख शान्त करने में भूखों मर रहा था। धनी उत्तरोत्तर धनी होते जा रहे थे और निर्धन भिक्षाटन को जीविका का साधन बनाते चले जा रहे थे। समाज की इस दयनीय दशा का चित्रण मध्ययुगीन कवियों ने बड़े मार्मिक ढंग से किया है। स्वयं महात्मा तुलसीदास को ही दरिद्रता की किस विभीषिका का सामना करना पड़ा था, इससे हम अपरिचित नहीं हैं।

एक अन्य तथ्य की ओर भी ध्यानाकर्षण अपेक्षित है। मुगलकालीन समाज में, उच्च वर्ग में जो विलासिता आ चुकी थी, उसका प्रभाव केवल मुसलमान मनसबदारों एवं उच्च राजपदाधिकारियों पर ही नहीं पड़ा था, प्रत्युत पगड़ी बेचकर मुकुटधारी तथाकथित हिन्दू-राजाओं के सर पर भी दिल्ली की सज-धज और मुगलों की शान-शौकत का भूत सवार था। यही कारण है कि अन्तिम मुगल-काल से ही साहित्य की धारा स्वांतः सुखाय के स्थान पर स्वामिनः सुखाय और राजाओं की विलासिता की ओर उन्मुख हो जाती है।

धार्मिक अवस्था—विचाराधीन युग तक आते-आते भारत में दो ही प्रमुख धर्म रह गये थे—(१) ब्राह्मण तथा (२) इस्लाम धर्म। ब्राह्मण धर्म की वैष्णव एवं शैव दोनों शाखाएँ उन्नतशील थीं, पर वैष्णव शाखा का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था, जिसके मूल में वैष्णव आचार्यों की मूल्यवान् सेवाएँ हैं, जिन पर आगे विचार होगा। सल्तनत काल से चली आनेवाली वे चेष्टाएँ जो ब्राह्मण पुनरुत्थान के लिए भीतर-भीतर ही की जा रही थीं, अब धार्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जाने के पश्चात् खुल कर की जाने लगीं। शैव-सम्प्रदाय की वह शाखा जो वेद-सम्मत थी, शुद्धता, सदाचार एवं उच्च नैतिक आदर्शों का पालन करती हुई चल रही थी पर विकृतशक्ति सम्प्रदाय अब अपना नग्न रूप लेकर सामने आ गया था। कुछ क्षेत्रों तथा स्थितियों में तो साधु-

गिरी पेशा-सी हो गई थी। गेरुआ वस्त्र धारण कर लेना कितना सरल था यह महात्मा तुलसी से सुनिए—

मुई नारि घर सम्पति नासी।
मूड़ मुड़ाइ भये संन्यासी।।

जिन अन्धविश्वासों की बात पूर्व मध्यकाल के प्रारम्भिक युगों में की गई है, उनमें अब आश्चर्यजनक अभिवृद्धि हो चुकी थी। दरिद्रता के अभिशापों के साथ-साथ इन धार्मिक अन्धविश्वासों ने भी समाज को कुंठित कर दिया था। जादू, टोटका, झाड़-फूंक, भूत-प्रेत का प्रभाव सर्व-साधारण पर बहुत अधिक था। पीर-फकीर साधु-सन्त वेशधारी लोग समाज को बुरी तरह ठग रहे थे। हमारे अनेक कवियों ने इस परिस्थिति का चित्रण किया है। सच्चे संतों का अब भी अभाव न था पर वे बहुरुपिया नहीं बन सकते थे और इसीलिए पूजित भी नहीं हो सकते थे। बालअली जी का निम्न उद्धरण स्थिति के स्पष्टीकरण में सहायक होगा—

बनि बड़ गुरु घर-घर में डीलैं। जे गुरु मूढ़ रहैं अनबोलैं।।
केतक गुरु सिर जटा बढ़ाई। हिये पोल गाढ़ी भर छाई।।
केतक परहिं महा मठ देखी। कहैं यही गुरु सिद्ध बिसेषी।।
केतक सुन्दर रूप निहारी। कहैं मिले गुरु आप बिहारी।।
पंच अगिन में तपत निहारी। होहिं सिस्य केतक नरनारी।।
झारा फूंकी जो बहु करैं। तिनकौ हरिहि मानि उर धरैं।।
केतक गुरु म्याने चढ़ि चालैं। बस्तु न लखैं पेट को पालैं।।
केतक गुरु बहु बेष बनावहिं। वारमुखी ज्यों लोक रिझावहिं।।
माया अन्ध अमित गुरु ऐसे। सूधे साधु बहुत पुनि तैसे।।
जे निरदम्भ सकल गुन खानी। तिनकी किउ नर सुनहिं न बानी।।

बालअली का उक्त विवरण तत्कालीन भारतीय धर्म के व्यावहारिक रूप का एक जीता-जागता चित्र है। हर 'महात्मा' गुरु बनने की धुन में पागल हुआ था। ये पेशेवर गुरु साधारण लोगों को तो लूट ही रहे थे, कभी-कभी उच्च वर्गीय व्यक्तियों की आँखों में भी धूल झोंक देना इनके लिए आसान था।

पर समाज की इसी सड़न ने खाद का काम किया था और इसी कीचड़ से वे कमल खिले थे, जिन्हें हम आचार्यों, सन्तों या भक्तों के नाम से पूजते हैं। यह भी निश्चय है कि यदि इन आचार्यों ने भक्ति एवं नैतिकता का पथ नहीं दिखलाया होता और संत या भक्त कवियों ने सर्वसाधारण को उस पथ से परिचित नहीं कराया होता तो मुगलकालीन समाज जिस अधोगति की ओर उन्मुख था, उससे वह पतन के महागर्त में जा गिरा होता।

विचाराधीन युग में ब्राह्मण धर्म में कभी-कभी पारस्परिक धार्मिक असहिष्णुता का नग्न रूप भी देखने को मिल जाता है। लच्छीगिरि के नेतृत्व में शैव सम्प्रदाय वाले दसनामियों ने रामावत संप्रदाय की वैरागी शाखा पर सशस्त्र आक्रमण तक कर दिया था—

> लच्छीगिरि यक भयउ गोसाईं। प्रभुपद विमुख कंस की नाईं॥
> लै सहाय बहु यती गोसाईं। बहु बैस्नव मारेउ बरियाई॥
> शास्त्र लिये धावत जग डोलैं। मारिहिं निदरि वचन कटु बोलैं॥
> उमगे खल जिमि नदी तलावा। बैस्नव धर्महिं चहत उड़ावा॥

इसमें सन्देह नहीं कि उत्तर भारत में शैवों का प्रभाव, जिनमें औघड़, कनफटे तथा नागा भी सम्मिलित थे, बहुत अधिक बढ़ गया था और ये प्रमुख वैष्णव केन्द्रों पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया करते थे। वैष्णवों ने अपने बचाव के लिए एक सभा भी वृन्दावन में बुलाई थी और तभी से रामानन्दी सम्प्रदाय में 'अनी' तथा 'अखाड़ों' का संगठन किया गया।

इस्लाम धर्म की स्थिति अब तक काफी अच्छी हो चुकी थी। संख्या तो बढ़ ही चुकी थी, साथ ही अब उसके प्रति जन साधारण में कुछ-कुछ आदर-भाव भी आने लगा था। इसका मुख्य कारण था सूफियों का उदारवादी दृष्टिकोण तथा कुछ मुगल सम्राटों की धार्मिक सहिष्णुता।

भक्ति-आन्दोलन व वैष्णव सम्प्रदाय

भक्ति-काल को ठीक-ठीक समझने के लिए भक्ति-आन्दोलन तथा वैष्णव सम्प्रदायों का अध्ययन नितांत आवश्यक है। अतः यहाँ हम संक्षेप में इन विषयों पर विचार करेंगे।

भक्ति-आंदोलन—भारतीय धर्मों के इतिहास में भक्ति-आंदोलन का अपना एक पृथक् स्थान है। यह एक ऐसा आन्दोलन था, जिसने संपूर्ण भारत को प्रभावित किया था। अनेकानेक विशेषताओं के साथ इसकी एक प्रमुख ऐतिहासिक विशेषता यह है कि अनेक मध्यांतरों, उत्थान-पतनों एवं स्थान-परिवर्तनों के होते हुए भी यह औपनिषदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक गतिमान रहा है। चिंतन प्रधान देश भारतवर्ष में अनेक इतिहास-प्रसिद्ध धार्मिक तथा बौद्धिक क्रांतियाँ हुई हैं, पर हर प्रकार की परिस्थितियों का सामना करते हुए, सबसे समझौता एवं समन्वय करके चलनेवाला केवल एक ही धार्मिक आंदोलन है और वह है भक्ति आंदोलन। इस ऐतिहासिक महत्त्व के अतिरिक्त इसका अपना साहित्यिक महत्त्व भी है। यों तो भारत के सभी धर्मों एवं धर्म-सम्प्रदायों का अपना विशाल साहित्य है, जिसके निर्माण में धर्माचार्यों के साथ-साथ

संप्रदाय-विशेष के कवियों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, पर भक्ति-आंदोलन को अनुप्राणित करने वाला भक्ति साहित्य इन सबसे बहुत आगे बढ़ जाता है। यह साहित्य भारत की प्रायः सभी भाषाओं में लिखा गया है। भाषाओं के अतिरिक्त बोलियों में भी इस साहित्य की रचना की गई है। विलक्षणता तो यह है कि विरोधी तथा भिन्न सम्प्रदाय वालों ने भी इस साहित्य के निर्माण में अपना योगदान दिया है। जन-साधारण को प्रभावित करने की दृष्टि से भी भक्ति आन्दोलन का अपना महत्त्व है। ऋग्वैदिक कर्मवाद, औपनिषदिक ज्ञानवाद तथा बौद्ध व्यवहारवाद को एक साथ समेट कर चलते हुए भी अपना उल्लेखनीय प्रेम-तत्त्व लेकर अग्रसर होनेवाला भक्ति-आंदोलन स्वभावतः हर युग एवं हर परिस्थिति के लिए सदा उपादेय सिद्ध होता रहा है।

भक्ति के उदय के सम्बन्ध में विद्वानों के मतभेदों की गहराई में न जाकर हम सरलता-पूर्वक यह स्वीकार कर सकते हैं कि इस साधना-पद्धति का विकास औपनिषदिक युग में हुआ था। जिस समय यज्ञीय कर्मकांडों के प्रति सर्व-साधारण में असन्तोष की भावना उठ रही थी, उसी समय वृष्णि वंशीय कृष्ण ने भागवत धर्म के नाम से इस रागात्मक धर्म-साधना का प्रचार किया था और उनके वंशवालों ने ही इसे सम्प्रदाय का रूप दिया था। पूर्णतः प्रेम एवं अहिंसा पर आधारित यह धर्म-साधना-पद्धति उस समय लोगों का ध्यान आकृष्ट करने में सफल सिद्ध हुई। सौभाग्यवश इसे वसु उपरिचर जैसे महाभारतीय नरेशों का सहयोग प्राप्त हुआ। जिसने राज्याश्रय प्रदान करके उस प्राचीन युग में भक्ति सम्प्रदाय को, जो उस समय पांचरात्र नाम से अभिहित किया जाता था, दूर-दूर तक प्रचारित किया। तभी इसे कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थ प्रणेताओं का भी सहयोग प्राप्त हुआ, जिनमें नारद, शांडिल्य तथा वैम्शपायन नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

भक्ति का स्वरूप—ईश्वर में अत्यन्त अनुरक्ति को ही भक्ति कहा गया है। 'शांडिल्य-भक्ति-सूत्र' में कहा गया है—

'सा परानुरक्तिरीश्वरे'

इसकी परिभाषा **'सा त्वस्मिन् परम-प्रेम-रूपा'** कह कर भी 'नारदभक्तिसूत्र' में की गई है। 'भागवत' में भक्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

'स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे
अहैतुक्यप्रतिहता यथाऽऽत्मा संप्रसीदति।'

भागवत ने स्पष्ट घोषणा की है कि 'उस वृत्ति को भक्ति कहते हैं, जिससे सांसारिक विषयों का ज्ञान प्रदान करनेवाली इंद्रियों की स्वाभाविक वृत्ति निष्काम भाव से भगवान् में लग जाए।'

परवर्ती शास्त्र-प्रणेता तथा धर्माचार्यों ने भक्ति की व्याख्या उपर्युक्त आधार-शिला पर ही की है।

मानवी वृत्तियों के अनुसार 'भागवत' में भक्ति के चार भेद गिनाये गए हैं—

१. सात्विकी भक्ति, जिसमें मुक्ति की कामना रहती है ।

२. राजसी भक्ति जिसमें धन-कुटुम्ब की कामना रहती है ।

३. तामसी भक्ति जिसमें दूसरे के अहित तथा शत्रुओं के विनाश की कामना रहती है तथा—

४. निर्गुण-भक्ति जिसमें कोई कामना (मुक्ति तक की कामना) नहीं रहती है ।

'भागवत' के पूर्व 'गीता' में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से अपने चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया है—

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !
आर्त्तो जिज्ञासुरार्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥'

यहाँ यह भी सूचित किया गया है कि इन चारों प्रकार के भक्तों में सर्वोत्तम ज्ञानी भक्त, उससे हेय जिज्ञासु, जिज्ञासु से हेय आर्त तथा सबसे हेय अर्थार्थी भक्त होता है ।

भगवान का स्वरूप—भगवान् के निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों का महत्त्व भागवत धर्म के आदि ग्रंथ 'गीता' में स्थापित किया जा चुका था । पर यहीं यह भी सूचित किया गया है कि सगुण भक्ति विशेष महत्त्वपूर्ण इसलिए है कि यह सर्वसाधारण द्वारा साध्य है जबकि निर्गुण भक्ति केवल ज्ञानी पुरुषों के लिए ही है । 'भागवतपुराण' से प्रभावित होकर भगवान के सगुण रूप में आगे चलकर रसिकता का सूत्रपात होता है ।

भक्ति-साधना—धर्म साधना को सरलतम बनाने का लक्ष्य प्रारम्भ से ही भागवत सम्प्रदाय के प्रचारकों में रहा है । सम्प्रदाय के प्राचीनतम ग्रंथ 'गीता' में इस सरलता को यहाँ तक पहुँचा दिया गया है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥'

आगे चलकर नवधा-भक्ति अर्थात् भक्ति-साधना की नौ विधियों की योजना 'भागवत पुराण' में की गई—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'

'भागवत पुराण' ने नवधा भक्ति की व्यवस्था बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से की है । इनमें से प्रथम तीन—श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण विश्वास-वृत्ति के सहायक हैं । श्रद्धा एवं विश्वास की स्थापना के पश्चात् दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन आदि भावों की योजना स्वतः संभव हो जाती है । भगवान् के रूप से भी साधक प्रभावित होता है,

अतः इसकी व्यवस्था भी भागवतकार ने पाद-सेवन, अर्चन तथा वंदन भक्ति द्वारा कर दी, जिससे भक्त भगवान के विग्रह या अवतारों की आराधना कर सके। कहना न होगा कि ब्राह्मण-धर्म में अवतारों की कल्पना भागवत-संप्रदाय के उदय के साथ ही होती है। भक्तों को ही भगवान् विष्णु के अवतारों की आवश्यकता भी थी।

भगवान् विष्णु का कृष्णावतार रूप अत्यन्त चित्ताकर्षक दिखाया गया है। फलतः इस मोहिनी तथा सर्वशक्तिमान् रूप के प्रति अनेक प्रकार की आसक्तियों का उदय संभव है। भगवान् कृष्ण पर यशोदा-नन्द, ग्वाल-बाल, गोपिकायें, पशु-पची, लता-कुंज, स्वर्गलोक की देवियाँ सभी आसक्त हैं और भिन्न-भिन्न भावों से उन्हें पूजती हैं। भागवतकार ने इस व्यापक आसक्ति का इतना सफल और सुन्दर चित्रण दसवें स्कंध में किया है कि परवर्ती आचार्यों को इस आधार पर अनेक प्रकार की आसक्तियों की कल्पना करनी पड़ी है। 'नारद-भक्ति-सूत्र' में ग्यारह आसक्तियों का विधान किया गया है—

१. गुणमहात्म्यासक्ति,   २. रूपासक्ति,   ३. पूजासक्ति
४. स्मरणासक्ति,   ५. दास्यासक्ति,   ६. सख्यासक्ति
७. कांतासक्ति,   ८. वात्सल्यासक्ति,   ९. आत्मनिवेदनासक्ति,
१०. तन्मयतासक्ति तथा   ११. परमविरहासक्ति।

आत्मनिवेदन या समर्पण इन सभी आसक्तियों की पराकाष्ठा है।

वैष्णव सम्प्रदायः आलवार भक्त—पौराणिक युग तक भागवत संप्रदाय उत्तर भारत में सुन्दर ढंग से फलता-फूलता रहा और मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व तक यह निरंतर गतिशील रहा किन्तु आगे चलकर स्थिति में परिवर्तन आता है। वैष्णव धर्म उत्तर भारत से स्थानान्तरित होकर दक्षिण भारत में सक्रिय होता है जहाँ उसे अनेक राजवंशों का प्रश्रय प्रदान हो जाता है। वैष्णव धर्म की इसी गतिशीलता को लक्ष्य करके अपनी भविष्यवाणी-शैली में भागवतकार ने घोषित किया था कि विष्णु के परम भक्त दक्षिण भारत में ताम्रपर्णी, कृतमाला (वेगी), पयस्विनी, (पलर), कावेरी तथा महानदी के तटों पर उत्पन्न होंगे। हमें ज्ञात है कि इन्हीं स्थानों में आलवार भक्तों का उदय हुआ था, जो अपनी भक्ति के लिए भारत के धार्मिक इतिहास में अमर हैं। आलवार वैष्णव भक्तों के इसी बाहुल्य को देखते हुए ही संभवतः 'श्रीमद्भागवतमाहात्म्य' में यह घोषणा की गई—

'उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता॥'

दक्षिण भारत में आलवार भक्तों की परंपरा की तिथि बहुत प्राचीन मानी गई है और इस परंपरा को हम किसी पूर्ववर्ती लोक-चिंतन-धारा की विकसित अवस्था के रूप में स्वीकार करते हुए इसका समय प्रथम शताब्दी ई० ठहरा सकते हैं। आलवार शब्द का अर्थ है मग्न। अपनी स्वाभाविक सरलता, मृदुलता तथा विनम्रता के लिए आलवार भक्त विख्यात थे। ये भगवान् की भक्ति से संबद्ध पद गाया करते थे। इन्हीं आलवार भक्तों में कुछ प्रसिद्ध कवि भी हो चुके हैं जिनमें निम्नलिखित नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. पोयगै आलवार, २. भूतत्तालवार, ३. पेआलवार
४. तिरुमलिसई आलवार, ५. नम्म आलवार, ६. मधुर कवि आलवार
७. कुलशेखर आलवार, ८. पेरी आलवार, ९. आंडाल आलवार
१०. तोडरडिप्पोड़ी आलवार, ११. तिरप्पन आलवार तथा तिरुमंगई आलवार।

ये आलवार भक्त भगवान् के स्वरूप के संबंध में पूर्णतया 'गीता' तथा 'भागवत' से प्रभावित थे। इनमें प्रायः सभी विद्वान् थे, पर बुद्धि-पक्ष की अपेक्षा हृदय-पक्ष को ही ये अधिक महत्त्व प्रदान करते थे। शरणागति या प्रपत्ति ही आलवारों की भक्ति की आधार-शिला थी और भगवत्कृपा पर आश्रित रहकर भगवान् का नामस्मरण तथा ध्यान करना ही इन आलवारों के लिए भगवत्प्राप्ति का एक मात्र साधन था। कुछ आलवारों ने राधा-भाव को भी अपनाया था अर्थात् भगवान् को अपना स्वामी या पति स्वीकार किया था। राधा-भाव की उपासना का प्रचार दक्षिण में नाम आलवार (शठ कोप) ने किया था जिसे आंडाल आलवार से पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया था। आंडाल ने श्री रंगनाथजी का पति रूप में वरण किया था और वह उनके विरह में पागल हो जाया करती थी। विरहासक्ति की चरमावस्था का बोध हमें आंडाल से ही होने लगता है और आत्मसमर्पण की भावना की पराकाष्ठा का परिचय भी यहीं से मिलने लगता है।

अब कुछ प्रमुख आचार्यों के मतों पर विचार अपेक्षित हैं। इन आचार्यों का युग आलवारों के बाद ही पड़ता है। यहाँ हम केवल उन्हीं आचार्यों के मतों पर विचार करेंगे, जिनका संबंध हिन्दी-भक्ति-साहित्य से है। कुछ स्थितियों में तो यह संबंध प्रत्यक्ष है पर कुछ में अप्रत्यक्ष।

इसके पूर्व कि हम आचार्यों तथा उनके दार्शनिक मतवादों पर विचार करें, हम यह सूचित कर देना चाहेंगे कि वैष्णव आचार्यों को शुद्धाद्वैतवाद, द्वैतवाद, भेदाभेदवाद आदि अनेक मतवादों की स्थापना की आवश्यकता इसलिए पड़ गई थी कि स्वामी शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखकर पहले ही निर्गुण ब्रह्म की स्थापना करते हुए भक्तों से उनका सगुण ब्रह्म छीन लिया था। शंकर के मायावाद एवं 'अहंब्रह्मास्मि' के भाव ने स्थिति ऐसी ला दी थी कि सगुण भक्ति की कोई गुंजाइश नहीं रह गई थी।

शंकर ने जीव और ब्रह्म की एकता प्रमाणित कर दी थी और जीव को ब्रह्म का ही आभास या प्रतिबिंब सिद्ध कर दिया था। तब जब जीव ब्रह्म के समान ही नित्य, स्वतंत्र और स्वप्रकाश हो गया तो भला भक्ति के लिए गुंजाइश कहाँ रह जाती है। बस इसी लिए हमारे वैष्णव आचार्यों को भी शंकराचार्य के दार्शनिक स्रोतों के माध्यम अर्थात् ब्रह्मसूत्रों पर ही भाष्य लिखकर मायावाद का खंडन तथा सगुण ब्रह्म की स्थापना करनी पड़ी थी।

रामानुजाचार्य एवं विशिष्टाद्वैतवाद—विशिष्टाद्वैतवाद के संस्थापक रामानुज (ग्यारहवीं शती) का मत इस प्रकार था—

उन्होंने (१) चित् (जीव), (२) अचित् (जगत्) तथा (३) ईश्वर इन तीन पदार्थों का अस्तित्व स्वीकार किया है। चित् या जीव को शरीर, मन, प्राण, बुद्धि आदि से पूर्णतया विलक्षण पदार्थ कहा है। रामानुज ने इसे आनन्दस्वरूप, नित्य, अणु, अचिंत्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय स्वीकार किया है। जीव अपने समस्त कार्यों के लिए ईश्वर पर आश्रित है। यही उसका गुण है जिसे 'शेषत्व' अर्थात् अधीनत्व कहते हैं और ईश्वर कहलाता है 'शेषी'। दोनों में देह-देही का संबंध है। इसे स्फुलिंग तथा अग्नि के संबंध से भी व्यक्त किया जा सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानुज ने शंकराचार्य के मत का खंडन करते हुए जीव एवं ब्रह्म की पृथक् सत्ता स्थापित कर दी, साथ ही इस पृथक्ता में भी देह-देही संबंध स्थापित कर दिया। इतना ही नहीं 'अहं ब्रह्मास्मि' के ठीक विपरीत इन्होंने जीव को अणु (क्षुद्र) तथा इसके विपरीत ब्रह्म को विभु (महान्) कहा है। बस यहीं से स्थिति संभल जाती है और भक्ति के लिए पुनः आधार मिलने लगता है।

अचित् अर्थात् जगत् को रामानुज ने ज्ञानशून्य तथा विकारस्पद बताया है। अचित् के तीन भेद किए गए हैं—

(१) शुद्ध सत्त्व, (२) मिश्र सत्त्व तथा (३) सत्त्व-शून्य। हमें ज्ञात है कि शंकर ने जगत् को मिथ्या एवं मायामय घोषित किया था, किंतु अचित् या जगत् को रामानुज ने न तो मिथ्या ही कहा है और न तुच्छ ही। शंकर के मायावाद का खंडन करते हुए जोरदार शब्दों में कहा कि जब जगत् ब्रह्म से ही उत्पन्न होता है तो वह मिथ्या कैसे हो सकता है और दूसरी बात यह है कि केवल मायामय हो जाने से ही तो मिथ्या नहीं हो जाएगा। यही नहीं, जब माया ब्रह्म की शक्ति है तो उसका आश्रय ब्रह्म ही है और तब ऐसी स्थिति में माया भला अनिर्वचनीय तुच्छ पदार्थ कैसे हुई, जैसा कि शंकर ने प्रचारित किया था। इस प्रकार शंकर ने जो मायावाद का प्रचार करके भक्ति के संबल को झकझोर दिया था, उसका खंडन रामानुज ने सफलतापूर्वक कर दिया, साथ ही उनका जगदास्तित्ववाद सूचानुकूल है।

ईश्वर को रामानुज ने चित् और अचित् का नियमन-कर्त्ता तथा उन्हें कार्य में प्रवृत्त करने वाला बताया है। यह समस्त सृष्टि का निमित्त कारण होते हुए भी उपादान कारण है। सृष्टि और संहृति ईश्वर की लीला है। ईश्वर और चित्-अचित् (जीव-जगत्) का सम्बन्ध रामानुज ने 'अपृथक्' कहा है। यह ठीक वैसा ही है जैसा आत्मा और शरीर के बीच है। जिस प्रकार आत्मा शरीर का आश्रय-नियमन-कर्त्ता तथा उसे कार्य में प्रवृत्त करने वाला है, उसी प्रकार ईश्वर भी चित्-अचित् का आश्रय, नियमन-कर्त्ता तथा उसे कार्य में प्रवृत्त करने वाला है। ईश्वर नियामक है, अतः वह 'विशेष्य' हुआ, चित्-अचित् नियम्य है, अतः वह 'विशेषण' है। 'विशेष्य' की पृथक् सत्ता तो सिद्ध है पर 'विशेषण' सदा 'विशेष्य' के साथ संबद्ध है, अतः उसकी पृथक् सत्ता नहीं है। इस प्रकार चित्-अचित् और ईश्वर की इन त्रिविध पदार्थों को स्वीकार करते हुए भी रामानुज अद्वैत को मानते हैं। विशिष्टता यह है कि वे इन त्रिविध तत्त्वों का विशेषण-विशेष्य (अंगांगी) सम्बन्ध स्वीकार करते हैं और विशेषणों से युक्त विशेष्य की एकता स्थापित करते हैं। बस इसीलिए इनका मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

रामानुज ने ब्रह्म के सगुण रूप की स्थापना करके, साथ ही अद्वैत की भी मान्यता बनाए हुए, सगुणोपासकों के लिए सगुण ब्रह्म के अवतारों की बात संहिताओं के आधार पर कही है। भक्तों पर अनुग्रह करने के अभिप्राय से सगुण ब्रह्म पाँच रूप धारण करता है। ये पाँच रूप हैं—१. पर, २. व्यूह, ३ विभव, ४. अन्तर्यामी तथा ५. अर्चावतार।

अब तक हमने विशिष्टाद्वैतवाद के साध्य पक्ष पर विचार किया है। अब संक्षेप में इसके साधन पक्ष पर दृष्टि डालेंगे।

रामानुज ने भक्ति को ही मुक्ति का एक-मात्र साधन घोषित किया है। भक्ति की स्थिति उनके मतानुसार इस प्रकार है—

जीव तथा भगवान का 'शेषशेविभाव' (दास-स्वामिभाव) है। ऐसी दशा में जीव का परम कर्त्तव्य है भगवान तथा भगवद्-भक्तों की सेवा अहैतुक भाव से एकनिष्ठ होकर करना। किन्तु भगवान की प्राप्ति के लिए उनकी कृपा आवश्यक है और इस कृपा का साधन है 'प्रपत्ति' या शरणागति-भाव। इस भाव से महत्त्वपूर्ण वस्तु है श्री या लक्ष्मी की अनुकम्पा। श्री सम्प्रदाय नामकरण स्वयं इसका प्रमाण है कि रामानुज-मत में श्री या लक्ष्मी का बहुत बड़ा महत्त्व है। इस सम्प्रदाय में गुरु को भी बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है, क्योंकि बिना गुरु के भक्ति-सम्बन्धी आवश्यक गुणों की उपलब्धि सम्भव नहीं है। जिस प्रकार रामानुज ने शंकर के अद्वैत को अपनी विशिष्टता के चौकठे में बाँधकर उसे समुचित महत्त्व प्रदान किया है उसी प्रकार उन्होंने

भक्ति के साथ-साथ धर्म-साधना की पूर्व प्रचलित पद्धतियों, कर्ममार्ग तथा ज्ञान मार्ग को भी इसमें सम्मलित कर लिया है। उन्होंने कर्म द्वारा पहले हृदय की शुद्धि बताई है और तब उसका ज्ञान की ओर अग्रसर होना सूचित किया है। भक्ति योग की प्राप्ति के लिए रामानुज ने निम्नलिखित सात साधनों का उल्लेख किया है—

१. पवित्र भोजन, २. सदाचार, ३. अनवरत अभ्यास, ४. पंचमहायज्ञों का संपादन, ५. सत्य दया, अहिंसा, ६. आशावादिता तथा ७. अहंकार का परित्याग।

श्रीसम्प्रदाय की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने शूद्रों के लिए भी भक्ति का द्वार खोल दिया था। इस सम्प्रदाय में विष्णु तथा नारायण नामों की ही प्रधानता है, यहाँ राम-कृष्ण आदि नामों का महत्त्व नहीं है, राधा और गोपाल कृष्ण का तो कहीं उल्लेख ही नहीं है।

निम्बार्काचार्य तथा भेदाभेदवाद—सनक सम्प्रदाय के संस्थापक निम्बार्काचार्य का समय बारहवीं शताब्दी का प्रथम चरण माना जाता है। इनका दार्शनिक मतवाद भेदाभेद के नाम से विख्यात है पर ये सम्भवतः इसके संस्थापक न होकर प्रचारक मात्र थे।

भेदाभेदवाद में भी रामानुज की भाँति चित, अचित तथा ईश्वर को स्वीकार किया गया है। यहाँ जीव को ज्ञान-स्वरूप तथा ईश्वराधीन माना गया है। इसे ज्ञानाश्रय भी कहा गया है किन्तु प्रकृति-रूपिणी माया से आवृत्त होने के कारण जीव का स्वाभाविक गुण क्षीण हो जाता है जिसकी पुनः प्राप्ति के लिए भगवद् कृपा आवश्यक है। निम्बार्क ने जीव के भेदोपभेदों का उल्लेख भी किया है। अचित या जगत को उन्होंने चेतनाहीन माना है तथा इसके तीन भेद किया है—१. प्राकृत, २. अप्राकृत तथा ३. काल।

ईश्वर के सगुण रूप को ही निम्बार्क मत में महत्त्व दिया गया है। उसे सार्वभौमिक माना गया है और साथ ही प्राकृत दोषों से रहित कहा गया है। वह कल्याण गुणों से युक्त है। निम्बार्क मत में ब्रह्म के चार रूप स्वीकार किए गए हैं—

१. पर-अमूर्त्त रूप अर्थात् परम अक्षर तत्त्व,

२. अपर अमूर्त्त रूप अर्थात् सर्वदृष्टा तथा सर्व-शक्तियों का उद्भव,

३. पर-मूर्त्त अर्थात् हिरण्यगर्भ एवं सभी व्यक्त रूपों का मूल स्रोत तथा

४. अपरमूर्त्त अर्थात् जीव-रूप, जिससे इन्द्रिय जगत् की अनुभूति होती है। निम्बार्क ने ब्रह्म तथा जीव का भेदाभेद दिखाया है।

निम्बार्क मत का साधन पक्ष रामानुज मत से पर्याप्त साम्य रखता है। इस मत में भी प्रपत्ति या शरणागति भाव को महत्त्व दिया गया है और साथ ही भगवान् के अनुग्रह को भी आवश्यक स्वीकार किया गया है। इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी

विशेषता यह है कि इसमें कृष्ण को ही सर्वोच्च आराध्य देव स्वीकार किया गया है। जिनकी प्राप्ति का एक-मात्र साधन भक्ति को ही सिद्ध किया गया है। निम्बार्काचार्य ने कृष्ण-भक्ति को निम्नलिखित पाँच भावों में व्यक्त किया है—

१. शान्त, २. दास्य, ३. सख्य, ४. वात्सल्य, तथा ५ उज्ज्वल या माधुर्य।

निम्बार्क मत की सबसे बड़ी विशेषता है राधा की उपासना। निम्बार्काचार्य ही प्रथम आचार्य हैं, जिन्होंने पूर्व मध्यकाल में सर्वप्रथम राधा को शास्त्रीय आधार देकर कृष्ण-भक्ति को सर्वोपरि उठाते हुए उसमें राधा का प्राधान्य स्थापित किया। सर्वेश्वर कृष्ण की भाँति राधा को सर्वेश्वरी घोषित किया गया है। उन्हें कृष्ण के वामांग में सुशोभित दिखाते हुए सभी कामनाओं को पूर्ण करनेवाली कहा गया है। यदि निम्बार्क स्वामी ने अपने 'दशश्लोकी' में राधा को महत्त्व प्रदान करने वाला निम्न श्लोक नहीं लिखा होता तो परवर्ती युग में राधा को आधार मानकर विकसित होनेवाले अनेक राधा-प्रधान वैष्णव सम्प्रदायों का उदय भी नहीं हो सका होता। 'दशश्लोकी' का श्लोक इस प्रकार है,—

'अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदाम्
विराजमानामनु-रूपसौभगाम् ।
सखीसहस्त्रैः परिसेवितां सदा,
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥

मध्वाचार्य तथा द्वैतवाद—शंकराचार्य के अद्वैतवाद के मूल पर कुठाराघात करनेवाले आचार्यों में, आचार्य आनंदतीर्थ या मध्व का नाम विशेष महत्त्वपूर्ण है। वास्तव में पूर्ववर्ती आचार्यों ने शंकर के मायावाद के खंडन के लिए जो भी चेष्टायें की थीं, उनकी पूर्ण सफलता के लिए मध्वाचार्य की अपेक्षा थी। अधिकांश विद्वान् इनका समय बारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण स्वीकार करते हैं। इन्होंने अनेक भाष्यों की रचना करके वैष्णव संप्रदाय का बहुत बड़ा कल्याण किया है।

मध्वाचार्य ने बड़े ही साहस के साथ शास्त्रीय आधार पर ब्रह्म और जीव का द्वैतभाव स्थापित किया है। इन्होंने ही सर्वप्रथम ब्रह्म को निराकार सिद्ध करनेवालों को करारा उत्तर दिया है। इनके सिद्धान्तों की कुछ मोटी-मोटी बातों पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जाएगा।

शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या घोषित किया था, किन्तु मध्वाचार्य ने यह प्रमाण प्रस्तुत किया कि वेद के अनुसार ईश्वर 'सत्य संकल्प' है अर्थात् उसका संकल्प सत्य है। ऐसी स्थिति में हम उसके सत्य संकल्प द्वारा विरचित जगत् को मिथ्या कैसे कह सकते हैं। आचार्य ने जीव को स्वभावतः अल्पज्ञान संपन्न तथा अल्पशक्ति युक्त स्वीकार करते हुए उसे हरि का अनुचर कहा है। यहाँ यह भी सूचित किया गया है कि

जीव स्वत: कार्य करने में समर्थ नहीं है, प्रत्युत उसके लिए उसे भगवान का आश्रय लेना पड़ता है। जीव के तीन भेद—१. मुक्तियोग्य, २. नित्य संसारी, तथा ३. तमोयोग्य—क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा अधम, किए गए हैं। इनमें से अंतिम दो प्रकार के जीवों की कभी भी मुक्ति नहीं होती है। मध्वाचार्य ने विष्णु या हरि को ही सर्वोच्च आराध्यदेव स्वीकार किया है जो उत्पत्ति, स्थिति, सहार, नियमन, आवरण, बोधन, बंधन तथा मोक्ष आदि आठ प्रकार के कार्यों का कर्त्ता है। श्रीहरि की माया रूपिणी शक्ति हैं—लक्ष्मी। लक्ष्मी ही जीवों को भगवान् विष्णु की कृपा प्रदान करती है।

मध्वाचार्य का सर्वाधिक प्रसिद्ध सिद्धांत है 'तत्वतोभेदः' अर्थात् जीव-जगत् तथा ईश्वर का परस्पर भेद। यह भेद पाँच प्रकार का बताया गया है—

१. ईश्वर का जीव से भेद,
२. ईश्वर का जड़ से भेद,
३. जीव का जड़ से भेद,
४. जीव - जीव का भेद तथा
५. जड़ - जड़ का भेद।

अब तक हमने ब्रह्म संप्रदाय के तत्त्व पक्ष पर विचार किया है, अब इसके आचार-पक्ष पर दृष्टिपात करेंगे।

मध्वमत में उपासना के दो प्रकार बताए गए है—शास्त्राभ्यास तथा ध्यान। मुक्ति का सर्वोत्तम साधन 'अमत्या' या दोषरहित भक्ति है और आचार्य के मतानुसार सबसे बड़ा दोष स्वार्थ की भावना है। अतः मध्वाचार्य ने निष्काम-भक्ति को प्रधानता दी है।

वल्लभाचार्य तथा शुद्धाद्वैतवाद—रुद्र-सम्प्रदाय के संस्थापक वल्लभाचार्य का आविर्भाव भक्ति-आंदोलन को एक नई दिशा देने के अर्थ में अपना पृथक् महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। आचार्य का समय पंद्रहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जाता है। ये रहनेवाले तो दक्षिण के थे, पर काशी में ही इनके पिता लक्ष्मण भट्ट सपरिवार रहा करते थे।

आचार्य का महत्त्व कई दृष्टियों से है। सर्वप्रथम हम इनके शुद्धाद्वैतवाद पर विचार करेंगे।

शंकर के मायावाद का खंडन करने के लिए वल्लाभाचार्य ने सर्वप्रथम माया पर ही कुठाराघात किया। शंकराचार्य ने माया संबंधों से युक्त ब्रह्म को ही जगत् का कारण स्वीकार किया था, किन्तु वल्लभाचार्य ने जोरदार शब्दों में घोषित किया—

'मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारण-रूपं हि शुद्धब्रह्म न मायिकम्॥'

अर्थात् माया सम्बन्ध से रहित शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का कर्त्ता है। ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों को आचार्य ने स्वीकार किया है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं।

वल्लभाचार्य की साधनापुष्टि मार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। पुष्टि मार्ग में भगवान् के प्रादुर्भावों पर अवतारों का उद्देश्य जीवों को निरपेक्ष मुक्ति-दान स्वीकार किया गया है। बात यह है कि पुष्टि मार्ग के लिए अवतारों का यही उद्देश्य आवश्यक था, क्योंकि इसमें भगवान् का अनुग्रह ही सब कुछ है। भगवान् के इस अनुग्रह को भी आचार्य ने उनकी सर्ग-विसर्ग लीलाओं की भाँति ही एक लीला माना है। शुद्धद्वैतवाद में जीव को भगवान् की रमण करने की इच्छा का प्रतिफल कहा गया है कि जब भगवान् को रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है तो वे अपने आनन्द आदि गुणों को तिरोहित करके जीव रूप ग्रहण कर लेते हैं। जगत् के सम्बन्ध में आचार्य का मत है कि जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण परब्रह्म है। वे निर्गुण सच्चिदानन्द को ही अविकृत भाव से जगद् रूप में परिणत हो जाना मानते हैं। और जगत् को इन्होंने ईश्वर तथा जीव की भाँति ही नित्य घोषित किया है।

यह तो रहा आचार्य का साध्य पक्ष। अब हम इनके साधन-पक्ष या पुष्टि मार्ग पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

वल्लभाचार्य ने धर्म-साधना को तीन पद्धतियों का उल्लेख किया है—

१. पुष्टि-मार्ग, २. प्रवाह-मार्ग तथा ३. मर्यादा-मार्ग।

इन तीनों में पुष्टि-मार्ग या भक्ति-मार्ग सर्वोच्च है। जैसा कि प्रारंभ में ही संकेत किया गया है, पुष्टि या अनुग्रह को आचार्य ने भगवान् की सृष्टि-लीला की भाँति ही एक लीला स्वीकार किया है और विलास की इच्छा का ही नाम लीला कहा है। आचार्य ने किसी भी भाव से भगवान् का भजन करने का उपदेश दिया है और साथ ही उसी भगवान् की अनुकंपा पर ही केवल भरोसा करने को कहा है। नवधा भक्ति को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने भगवत सेवा की ही एकमात्र उपादेयता स्वीकार की है। सेवा तीन प्रकार की बताई गई है—तनुजा, वित्तजा तथा मानसी अर्थात् तन, धन और मन से सेवा। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि आचार्य ने अपना मार्ग सभी वर्गों एवं वर्णों के लिए खोल दिया था। यही कारण है कि उन्होंने भक्त की क्षमता-नुसार सेवा (तन, धन या मन से सेवा) का विधान किया था। इनमें भी आचार्य ने 'कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता' कह कर सर्वसुलभ मानसी सेवा को सर्वोत्तम घोषित किया है। पुष्टिमार्ग में इस सेवा से भी अधिक महत्त्वपूर्ण विरह-भाव है। उन्होंने सूचित किया है कि जब तक विरह-भाव नहीं जगेगा और साधक भगवान् के लिए विरहाकुल नहीं हो जाएगा तब तक नैसर्गिकी कृपा की आशा नहीं की जा

सकती है। सांसारिक मायामोह से विरक्त होकर केवल भगवान् कृष्ण से ही प्रेम करना भक्ति का बहुत बड़ा साधन है।

स्वामी रामानंद तथा रामावत संप्रदाय—विभिन्न पुराणों, संस्कृत के कवियों तथा शठकोप आलवार की प्रेरणा से विष्णु के रामावतार की उपासना पहले ही से प्रचलित हो चुकी थी। स्वामी हर्यानंद तथा उनके शिष्य राघवानंद ने इस संप्रदाय को आगे बढ़ाया था और तब राघवानंद के शिष्य स्वामी रामानंद ने इसे एक लोकप्रिय संप्रदाय का रूप देने की चेष्टा की।

स्वामी रामानंद प्रयाग के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनकी तिथि पंद्रहवीं शताब्दी के तृतीय चरण के आस-पास मानी जा सकती है। रामावत संप्रदाय की सुदृढ़ स्थापना में स्वामी रामानंद ने उतना ही श्रम किया है जितना अद्वैतवादी शंकर का विरोध करके द्वैतवादी वैष्णव आचार्यों ने विभिन्न वैष्णव संप्रदाय की स्थापना में किया था। गुरु राघवानंद से पंचगंगा घाट, काशी में दीक्षा लेने के पश्चात् रामानंद ने गुरु के आदेशानुसार रामावत संप्रदाय का व्यापक प्रचार आरंभ किया। इनके गुरु रामानुजाचार्य के श्री संप्रदाय में सम्मिलित थे और इन्होंने ही श्रीसंप्रदाय में राम के महत्त्व को बढ़ाया था पर इस संप्रदाय में तब भी लक्ष्मीनारायण की पूजा की प्रधानता थी। राम की उपासना को प्रमुखता प्रदान कराने का श्रेय स्वामी रामानंद को ही है। रामानंद के सम्मुख दो समस्याएँ थीं—वैष्णव आचार के निर्वाह का प्रश्न तथा रामोपासना के व्यापक प्रचार के साथ-साथ इसकी सैद्धांतिक स्थापना का प्रश्न। स्वामी रामानंद के गुरु को भी वैष्णव आचार में सहिष्णुता अपनाने के कारण ही आचार्य-पीठ एवं मातृभूमि द्रविड़ देश से हट कर उत्तर भारत को अपना कार्य-क्षेत्र बनाना पड़ा था। घटना यों घटी थी—अपने गुरु हर्यानंद जी के आदेश से ये उत्तर भारत में राम-भक्ति का प्रसार करने गए थे और अयोध्या, काशी आदि प्रमुख धार्मिक केन्द्रों के भ्रमण के पश्चात् जब ये पुनः दक्षिण वापस आए तो आचार्य हर्यानंद का गोलोकवास हो चुका था और गद्दी पर गुरुभाई बैठे हुए थे जो यह जानते थे कि राघवानंद छुआछूत तथा आचार संबंधी अन्य वैष्णव मान्यताओं में ढिलाई बरतते हैं। अतः 'पंगत' के समय इन्हें साधु-मंडली से पृथक् बैठाया गया था। इसी पृष्ठभूमि में हम स्वामी रामानंद के सिद्धांतों पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

जैसा कि प्रारंभ में ही कहा गया है, रामावत संप्रदाय श्रीसंप्रदाय से ही उद्भूत है, अतः श्रीसंप्रदाय के विशिष्टाद्वैत दर्शन तथा प्रपत्ति-सिद्धांत को ही यहाँ अपना लिया है और रामानंद को अपना कोई पृथक् दार्शनिक मत स्थापित करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। विशिष्टाद्वैत दर्शन के तत्त्वों को ही केवल नए ढंग से भगवान्

राम तक केंद्रित कर दिया गया। रामानंद जी ने ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, स्पृश्य-अस्पृश्य सबके लिए भगवान् राम का द्वार खोल दिया। युग की परिस्थिति कुछ ऐसी विषमतापूर्ण थी कि इसमें ऐसे ही सिद्धांतों की आवश्यकता थी।

स्वामी रामानंद ने विशिष्टाद्वैतवाद के तीनों तत्त्वों—चित्, अचित् तथा ईश्वर को स्वीकार करते हुए चित् तथा अचित् से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर को ही 'चिद्चिद् विशिष्ट' माना है। ईश्वर को वे जगत् का कारण तथा कार्य मानते हैं। कारण ईश्वर तथा कार्य ईश्वर क्रमशः स्थूल तथा सूक्ष्म रूप में विद्यमान है, किंतु दोनों दशाओं में वह एक ही रहता है, उसके स्वरूप का व्याघात नहीं होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानंद ने विशिष्टाद्वैतवाद को पूरी स्वीकृति देते हुए रामावत संप्रदाय के सिद्धांतों की स्थापना की थी। हाँ, जहाँ श्री वैष्णव मत में द्वादशाक्षर मंत्र की प्रधानता थी वहाँ स्वामी रामानंद ने षडाक्षर मंत्र—श्री 'रांरामायनमः' की व्यवस्था कर दी जो रामावत संप्रदाय का मूल मंत्र है। रामानंद ने राम के साथ-साथ लक्ष्मण तथा सीता को भी इस उपासना-पद्धति में दार्शनिक ढंग से सम्मिलित कर लिया था, क्योंकि इन्होंने इन तीनों को उस चिद्चिद् विशिष्ट तत्वमय का बाह्य विग्रह स्वीकार किया है। सीता प्रकृति स्थानीय, लक्ष्मण जीवस्थानीय तथा भगवान राम ईश्वर तत्त्व माने गए हैं। वे ही परम प्राप्य हैं, ये चेतनों के भी चेतन संसार के पालक, गुणों के सागर, सख्य तथा प्रभु हैं। इनकी प्राप्ति से ही मुक्ति संभव है और प्राप्ति का एकमात्र साधन है भक्ति। भगवान् राम में नित्य निरंतर स्मरणपूर्वक परम अनुराग ही भक्ति है। भक्ति उत्पन्न होने के लिए स्वामी रामानंद ने निम्नलिखित साधनों का उल्लेख किया है—

१. विवेक (दुष्टाहार तथा सात्त्विक आहार का विवेचन),
२. विमोक (काम में अनासक्ति),
३. अभ्यास (भगवान् राम का सतत शीलन),
४. क्रिया (पंच महायज्ञों का अनुष्ठान),
५. कल्याण (सत्य, आर्जव, दान-दया आदि),
६. अनवसाद (उत्साह) तथा
७. अनुद्धर्ष (सांसारिक हर्षों से अनासक्त)।

सौभाग्यवश स्वामी रामानंद के शिष्य भी ऐसे मिले, जो अपने गुरु के उद्देश्य की पूर्ति में पूर्णतः सफल हुए। उनके इन शिष्यों ने गुरु द्वारा नियोजित मार्ग को, जिसमें हिंदू-मुसलमान, निर्गुण-सगुण सबको विकास की प्रेरणा प्राप्त हो सकती थी, लगभग उसी रूप में आगे बढ़ाया। 'भक्तमाल' में रामानंद के शिष्यों का नाम इस प्रकार दिया हुआ है—

१. अनंत, २. सुखानंद, ३. सुरसुरानंद, ४. नरहर्यानंद, ५. भावानंद, ६. पीपा, ७. कबीर, ८. सेन, ९. धना, १०. रैदास, ११. पद्मावती तथा १२. सुरसुरी;

पर स्वामी रामानंद जी के उक्त १२ शिष्यों के परिश्रम के पश्चात् भी रामोपासना को संभवतः वह महत्त्व न प्राप्त हो सका होता और कृष्णोपासना की भाँति रामोपासना में लाख रसिकता भर कर भी इसे वे जनप्रिय नहीं बना सके होते यदि नरहर्यानंद जी के शिष्य महात्मा तुलसीदास का आविर्भाव नहीं हुआ होता। कारण यह था कि उक्त शिष्यों में समर्थ कबीर तो निर्गुण में उलझे थे और रहस्यात्मक ढंग से 'राम की बहुरिया' बन रहे थे तथा शेष गुरु की योग-साधना-समावेश की नीति को आगे बढ़ाने में अधिक सचेष्ट थे। विशुद्ध रामोपासना के प्रचार की ओर इनका ध्यान विशेष उल्लेखनीय न था।

सूफी सम्प्रदाय

जिस प्रकार हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध भारतीय धर्म-साधना पद्धत्तियों से रहा है, उसी प्रकार यह एक विदेशी धर्म-साधना से भी संबद्ध रही है। यह है सूफी मतवाद।

सूफियों का उद्‌गम-स्थान मिस्र है। कालान्तर में इन्होंने अपने मत का प्रचार आरम्भ किया और तेरहवीं शताब्दी तक तो इनके पाँच प्रमुख केन्द्र—ईरान, मेसोपोटामिया, सीरिया, उत्तरी अफ्रीका तथा भारत हो गये थे। भारत में प्रथम ऐतिहासिक सन्त मुइनुद्दीन चिश्ती, ११९२ ई० में, आक्रमणकारी मुहम्मद गोरी के साथ आया था और उसने अजमेर को अपना निवास-स्थान बनाया था। इसकी शिष्य-परम्परा में बाख्तियार काकी, शेख फरीदुद्दीन शकरगंज, निजामुद्दीन औलिया, अलाउद्दीन, अहमद सबर, शेख सलीम आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

जैसा कि हम देख चुके हैं, सूफी सन्तों को अपने अधिकांश जीवन में कट्टर मुसलमान धर्मावलम्बियों के संघर्ष का सामना करना पड़ा था। सल्तनत युग में तो इनका विरोध हुआ ही था, मुगल युग के भी कुछ शासक इनके विरोधी थे। हाँ, राजकुमार दाराशिकोह सुप्रसिद्ध सूफी सन्त हो चुका था। निजामुद्दीन औलिया अमीर खुसरो का तथा शेख सलीम अकबर का पीर था।

सूफियों के सैद्धान्तिक पक्षों तथा 'शरीयत', 'मारिफत', 'हकीकत' आदि की गहराई में न जाकर हम केवल इतना कहना चाहेंगे कि इस सम्प्रदाय में वैष्णवधर्म की भाँति ऐकांतिक प्रेम को ही महत्त्व दिया गया है। सन्त इब्राहीम अधम (नवीं शती का अन्तिम चरण) कहा करते थे—

"एक हृदय में दो प्रेम नहीं पल सकते हैं—ईश्वर प्रेम और जगत् प्रेम।"

"किसी राज्य पर अधिकार करने से कहीं सुन्दर है आत्मा पर अधिकार करना

प्रसिद्ध सूफी सन्त लतीफ का कथन था—

"जब मूल तत्त्व एक है और माशूक एक है तब मनुष्य व्यर्थ ही साधनों को लेकर क्यों झगड़ता है।"

इसी प्रकार शाह बिस्तरी (१२५०-१३२० ई०) कहा करते थे—

"जब मैं-तू का झगड़ा मिट जाएगा तो फिर मस्जिद, सिन-आजगागर (यहूदी पूजा-स्थली) और मन्दिर सभी एक हो जाएँगे।....तुम 'अनलहक' की घोषणा करने वाले मंसूर जैसे सूफी प्राणियों को ले सकते हो, ईश्वर के प्रेम-मद में छके हुए तुम उसी भाव से उसकी प्रार्थना और वन्दना कर सकते हो, एक वृक्ष भी कहता है मैं ईश्वर हूँ। और जब एक वृक्ष अपने को ईश्वर घोषित कर सकता है तो फिर धर्मनिष्ठ मनुष्य क्यों नहीं कह सकता। 'हम' 'तू' और 'वह' सब एक ही हैं, क्योंकि उस इकाई में व्यक्ति का कोई विभेद नहीं।"

आशय यह कि सूफियों की साधना पूर्णतया प्रेममार्गी थी और वहाँ भी विरह-गीतों द्वारा उस अदृश्य अलौकिक ब्रह्म को प्राप्त करने की चेष्टा उसी प्रकार की जा रही थी जैसी चेष्टा हमारे वैष्णव आचार्यों ने की थी। अन्तर यह था कि वहाँ निराकार ब्रह्म के प्रति ये चेष्टाएँ की जाती थीं जबकि वैष्णव सम्प्रदाय ने निर्गुण की अपेक्षा सगुण को महत्त्व प्रदान किया था। यहाँ निर्गुण ब्रह्म भक्तों के लिए सगुण रूप धारण कर चुका था।

हिन्दी भक्ति साहित्य की धाराएँ :

हिन्दी भक्ति साहित्य की निम्नलिखित धाराएँ हैं—

१. निर्गुण भक्ति-धारा तथा २. सगुण भक्ति-धारा। निर्गुण भक्ति-धारा भी दो रूपों में पाई जाती हैं—(क) सन्तमार्गी या ज्ञानमार्गी शाखा तथा (ख) सूफी या प्रेममार्गी शाखा! इसी प्रकार सगुण भक्ति भी (क) राम मार्गी या (ख) कृष्ण-मार्गी है।

यहाँ हम उक्त धाराओं की प्रमुख प्रवृत्तियों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करेंगे।
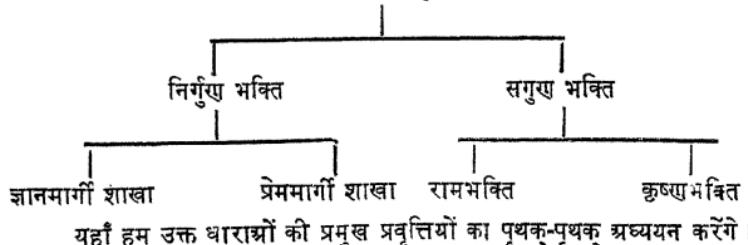
ज्ञानमार्गी शाखा

ज्ञानमार्गी शाखा के सन्तों के साहित्य का सूत्रपात हिन्दी में सन्त कबीरदास से होता है जिनका आविर्भाव-काल चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना जाता है। 'सन्त शब्द का साधारण अर्थ होता है बुद्धिमान, पवित्रात्मा अथवा परोपकारी व्यक्ति। 'सन्त' शब्द 'सत्' शब्द का ही एक रूप है। अतः इसका अर्थ 'अस्तित्व का बोधक' भी है और इस प्रकार यह 'सत्य' का भी पर्यायवाची है। ऐसी अवस्था में सत्य पर पूरी आस्था रखनेवालों को ही संत कहा जाएगा और तब जब सत्य की अनुभूति साधक को हो जाती है तो वह स्वभावतः सम्पूर्ण विश्व को एक ही सत्ता का प्रतिरूप समझते हुए जाति, धर्म या वर्णगत सभी भेदों को भेद कर उस गहराई पर पहुँच जाता है जहाँ—

जमतैं उलटि भया है राम।
दुख बिसरया सुख किया विश्राम॥
बैरी उलटि भया है मीता।
साषत उलटि सजन भये चीता॥
'कहै कबीर सुख सहज समाऊँ।
आप न डरूँ न और डराऊँ॥

मत—

संत मत के सम्बन्ध में, प्रारम्भ में ही यह कह देना आवश्यक है कि सत्य विशुद्ध रूप में अनुभूति की वस्तु है। यहाँ न तो पोथी पढ़ने से काम चल सकता है और न कोरे गुरु-उपदेश से ही। यहाँ तो अनुभव की आवश्यकता पड़ती है। अनुभव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से त्रिपक्षीय होता है, ठीक वैसा ही जैसे एक त्रिभुज की तीन भुजाएं होती हैं और तीनों में से किसी एक के अभाव में त्रिभुज का निर्माण सम्भव ही नहीं है। ये तीन अनुभव हैं—१. ज्ञानात्मक, २. भावात्मक तथा ३. क्रियात्मक। गुरु तथा ग्रंथों द्वारा सर्वप्रथम ज्ञानार्जन होता है, तब उसके प्रति संवेदनशीलता या भावात्मकता जाग्रत होती है और अन्त में तदनुसार कार्य के लिए साधक तत्पर होता है। ठीक यही स्थिति हम संतों की पाते हैं। इसी पृष्ठभूमि में संतों के मत का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे।

संतों को दार्शनिक गुत्थियों से कोई प्रयोजन न था। उन्हें न तो तत्त्व मीमांसा के लिए भटकना था और न आचार-मीमांसा की गहराई में जाना था। वे तो अनुभव जनित सीधी-सादी बात कभी सरल ढंग से और कभी मौज में आकर उलट-पुलट कर कह देते थे। पर वे अपने सिद्धांतों पर दृढ़ रहते थे, पारिभाषिक शब्दावली भले ही दाएँ-बाएँ घूम जाती हो। उदाहरणार्थ एक ही परम तत्त्व को वे कभी राम तो

कभी रहीम कहते हैं। इसे ही कभी ब्रह्म तो कभी खुदा की संज्ञा दे देते हैं। 'निर्वाण' कहकर भी वे इसका संकेत कर देते हैं। इतना ही नहीं इसके अनेक नामों में से केवल 'नाम' भी इसका एक नाम है और यही 'सत' भी है। दोनों को मिला कर 'संत नाम' भी इसी परम तत्त्व का सूचक बन जाता है। जैसा कि प्रारम्भ में ही कहा गया है, संत मत में अनुभव को महत्त्व दिया गया है। अतः 'सत' को परम तत्त्व का बोध और 'नाम' को निजी अनुभव में आया हुआ अंश स्वीकार करते हुए संतों ने 'नाम' को अपने मनमें बहुत अधिक महत्त्व प्रदान किया है तथा नाम-स्मरण को अपनी साधना का केन्द्र बनाया है। पर यह नामस्मरण सगुणोंपासकों के 'नामस्मरण' से पूर्णतया भिन्न है। इस नामस्मरण के लिए संन्यास या वैराग की कोई आवश्यकता नहीं है और न दैनिक गृहस्थ-कार्यों में से ही इसके लिए कोई अलग से समय निकालना पड़ता है। संत मत में तो सांसारिक काम-काज और साधना साथ-साथ चलती है। वे तो हर पल, हर क्षण उस परमतत्त्व का अनुभव करते रहते हैं। उनका अजपाजप अविरल अबाध गति से चलता रहता है। पर यहीं उन्हें अपने जीवन में काया-पलट करना पड़ता है, क्योंकि इसके बिना दोनों कार्य साथ-साथ नहीं चल सकते। फलतः वे स्मरण को ठीक 'स्मृति' के अर्थ में ग्रहण कर लेते हैं और तभी यह साधना सहज हो जाती है। तब उन्हें मन में गुनने या उँगली पर गिनने की किसी सजग चेष्टा की आवश्यकता नहीं रह जाती है। हाथ अपने ढंग से सांसारिक काम-काज करता रहता है और मन सत्यान्वेषण में लीन रहता है। यही है संतों की सहज साधना। संतमत में जगत्, जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध भी यहाँ द्रष्टव्य है। उनके मतानुसार 'सबद' सृष्टि का आदि कारण है और सारा संसार इसी 'सबद' से आबद्ध है। इसी का प्रतिरूप हममें भी है। अतः जो ब्रह्मांड में व्याप्त है, वही हमारे पिण्ड अर्थात् शरीर में भी है। 'सबद' के अनाद संगीत की तान को 'सुरति' एवं ताल व लय को 'निरति' कहा गया है। 'सुरति' उस परम तत्त्व का ही जीवात्मा रूप है, जो हममें स्थित है और इसी सुरति-निरति में बँध कर असीम परमात्मा भी स्वयं को प्रकट करता है। सन्तों के आचार या साधना-पक्ष के सम्बन्ध में केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि यह 'सुरति' का 'सबद' के साथ योग कर देने में ही निहित है। 'सुरति-सबद-योग' से ही संतमत में परमतत्त्व की अनुभूति का होना माना गया है। पर इस क्रिया का तभी मूल्य है जब यह अविरल-अबाध गति से होती रहे। इसी तन्मयता तथा तल्लीनता से 'सुरति' एक स्रोत की भाँति 'सबद' की ओर स्वतः स्वाभाविक ढंग से प्रवाहित होती रहती है, जिससे साधक, साध्य से समरसता स्थापित करते हुए, सदा उससे मिला-जुला-सा रहता है। यही है उसकी तदाकारता की स्थिति। ऐसी स्थिति आ जाने पर अर्थात् 'सत्' और साधक के रूप में संत का भाव ग्रहण कर लेता है और चूँकि 'सत्' स्वयं विश्व का मूल तथा

कल्याणमय है इसलिए शंका के जीवन का भी काया-पलट हो जाता है और वह भी विश्व कल्याणमय बन जाता है। यहीं संतों के सहज का भी एक दूसरा रहस्य छिपा हुआ है। जब 'सत्' के साथ तदाकारता स्थापित हो जाती है तो फिर नामस्मरण-साधना स्वतः चलती रहती है। बस इसीलिए इसे 'अजपाजप' कहते हैं। इसके लिए किसी विशेष प्रयास-पूर्ण समाधि की भी आवश्यकता नहीं, प्रत्युत सहज समाधि ही पर्याप्त है। संत-साहित्य का अवलोकन करते समय हमें यौगिक तथ्यों एवं क्रियाओं के सूचक अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं, जैसे—'कुण्डलिनी योग', 'अष्टांग योग', 'इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना' नाड़ियाँ, 'यम-नियम-आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि' आदि। किन्तु संतों के इन शब्दों का ठीक वही अर्थ नहीं है, जो योगियों के यहाँ है। संत इन शब्दों का उल्लेख मात्र करते हैं, वे इनके विस्तार में नहीं जाते। वास्तव में इन शब्दों को उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि से सत्यान्वेषण और सामाजिक दृष्टि से नैतिकता की ओर उन्मुख कर दिया है यहाँ हम आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी का तत्संबन्धी मत उद्धृत करना चाहेंगे—

"निर्गुण भक्ति-मार्ग की आरम्भिक अवस्था ज्ञान की कथनी वाले मार्गों की परम्परा का ही अंतिम रूप रही होगी....। वस्तुतः इनकी साखियाँ आठ योगांगों के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं। इन उपदेशों में ज्ञान-प्रवण नैतिक स्वर ही प्रधान है, योग-सम्बन्धी स्वर गौण है। इसी ज्ञान-प्रवण नैतिकता प्रधान योग-मार्ग के खेत में भक्ति का बीज पड़ने से जो मनोहर लता उत्पन्न हुई, उसी का नाम निर्गुण भक्ति मार्ग है।"

सन्तों की भक्ति—'गीता' तथा उपनिषदों की प्राचीनतम भक्ति को छोड़कर परवर्ती भक्ति का आधार सगुण ब्रह्म ही रहा है। वैष्णव आचार्यों ने सगुण ब्रह्म की स्थापना के लिए ही अनेक भाष्यों की रचना की थी। ऐसी अवस्था में भक्ति और सगुण ब्रह्म का अपृथक् सम्बन्ध प्रायः सर्वमान्य था, पर सन्तों के उदय के साथ-साथ मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन में एक नवीन तत्त्व का समावेश होता है। वह है भक्ति के लिए निर्गुण ब्रह्म का चयन। निर्गुण और निराकार के प्रति सन्तों ने जो भक्ति-भाव दिखाया उसे पंडितों ने 'अभेद भक्ति' की संज्ञा ठीक ही दी है। केवल 'निर्गुण भक्ति' कहने से संतों की भक्ति-भावना का केवल एकांगी बोध ही होता है, क्योंकि इनका 'सत्' जितना निर्गुण है, उतना ही सगुण भी। ब्रह्म को सगुण रूप की प्रतीति हमें संतों के उन कथनों से होती है जहाँ वे इसे सर्वव्यापक बताते हुए इसके साथ अपना गुरु-शिष्य, स्वामि-सेवक, पति-पत्नी, सखा-सखी-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं, हमें संत-साहित्य में यह भी देखने को मिलता है कि जब इनका निर्गुण ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं होता है तो वे विरहावस्था का भी अनुभव करते है। स्वयं भगवान् भी प्रेम की ज्वाल

में जल रहे हैं। सन्तों को भक्ति को समझने में संत नामदेव का निम्न पद अधिक सहायक होगा,—

'जैसी भूषे प्रीति अनाज, त्रिषावंत जलसेती काज।
जैसी मूढ़ कुटुंब पराइण, ऐसी नमि प्रीति नराइण।।
जैसी परपुरषारत नारी, लोभी नर धन का हितकारी।
कामी पुरुष कामनी पियारी, ऐसी प्रीति मुरारी।।
जैसी प्रीति वारिक अरु माता, ऐसा हरिसेंती मनुराता।
प्रणवै नामदेउ लागी प्रीति, गोविन्द बसै हमारे चीति'।।

संतों की भक्ति की कठिनता की ओर संकेत करते हुए हम कबीर का निम्न मत उद्धृत करना चाहेंगे, जिसमें कबीर ने दिखाया है कि यह मार्ग कितना कठिन है—

'कबीर निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध।
सीस उतारि पग तल धरै, तब निकरि प्रेम का स्वाद।।'

संतों को भी अन्य भक्तों की भाँति मुक्ति नहीं चाहिए वे तो भगवान को अपने से पृथक् मानते ही नहीं हैं, तब मुक्ति कैसी, बैकुण्ठ कैसा ?

संत-परम्परा

जिन संतों ने हिन्दी में अपने मतों का प्रचार किया है। उनकी परम्परा संत नामदेव एवं संत कबीर से प्रारम्भ होती है। प्रारंभिक युग में इन दो प्रमुख संतों के अतिरिक्त सेन, पीपा, रैदास आदि के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं, जिनका उल्लेख हम स्वामी रामानन्द के शिष्यों के साथ कर चुके हैं। मध्ययुग में तो संतों की बाढ़-सी आ जाती है और तभी सम्प्रदाय-निर्माण तथा धार्मिक दलबन्दी के कटु आलोचक संत भी अपने-अपने सम्प्रदायों का निर्माण करने लगते हैं। मध्ययुगीन संतों में गुरु नानक, दादू दयाल, मलूकदास तथा इस युग के उत्तरार्ध में रज्जब, सुन्दरदास (छोटे), गरीबदास, दरियादास, चरनदास आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। लगभग तीन सौ वर्षों के भीतर ही संतों के अनेक सम्प्रदाय निर्मित हो गए। नीचे की तालिका से इन सम्प्रदायों तथा निर्माताओं का बोध हो जाएगा—

सम्प्रदाय	संस्थापक	समय (सन् ई०)
नानक पंथ	गुरु नानक	१४६९-१५३८
दादू पंथ	दादू दयाल	१५५३-१६०३
बावरी पंथ	बावरी साहिबा	१७ वीं शती
निरंजनी पंथ	हरिदास	,, ,,
मलूक पंथ	मलूकदास	१५७४-१६८२

बाबा लाली मत	बाबा लाल	१५६०-१६५५
धामी संप्रदाय	प्राणनाथ	१६१८-१६६४
धरनीश्वरी संप्रदाय	धरनी दास	१८ वीं शती
दरियादासी संप्रदाय	दरिया दास (बिहार)	१७१३-१७८०
दरिया पंथ	मारवाड़ी दरिया साहब	१६७६-१७५८
शिवनारायणी संप्रदाय	शिवनारायण	१८ वीं शती
चरणदासी संप्रदाय	चरणदास	१७०३-१७८२
गरीब पंथ	गरीबदास (रोहतक)	१७१७-१७७८
रामसनेही संप्रदाय	रामचरण	१७२१-१७७३
पानप पंथ	पानपदास	१८ वीं शती

संत-साहित्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि—संतों की धार्मिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते समय हमने ज्ञात किया था कि विभिन्न वैष्णव आचार्यों की चेष्टाओं से संपूर्ण भारत में धर्म-सुधार-आन्दोलन की एक ऐसी ही लहर उठ चुकी थी, जैसी छठीं शताब्दी ई० पू० में उठी थी। पर हमारे संत कवियों को काव्य-रचना के लिए इन स्रोतों के अतिरिक्त भी एक साहित्यिक प्रेरणा-स्रोत है और वह है सिद्धों तथा नाथों का साहित्य। इनमें भी सिद्धों का साहित्य अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ था, क्योंकि नाथों को भी अनेक तत्व यहीं से प्राप्त हुए थे। हमारे संत कवियों ने सूफियों तथा भक्तों से और चाहे जो कुछ भी लिया हो, उनके वे तत्त्व, जो उन्हें अपने युग के कवियों से बिल्कुल पृथक् स्थान दिलवाते हैं और जो उन्हें सुधारक तथा कथित ज्ञानी भक्त की कोटि में बिठाते हैं, निश्चय ही अपभ्रंश या देशज भाषा की देन है। सरहपा, स्वयंभूदेव, भूसुकुपा, लुइपा, विरुपा, कंडपा, गोरक्षपा, देवसेन, तिलोपा, पुष्पदन्त, शांतिपा, रामसिंह आदि के सिद्धान्तों को सबल ब्राह्मण-धर्म के सम्मुख भले ही स्थायित्व न प्राप्त हो सका हो पर सर्वसाधारण की भाषा में कही गई इनकी अनेक बातें जनसाधारण में प्रचलित रहीं। जिस समय सामंतों तथा समाज के शिक्षित-वर्ग के लिए संस्कृत कवि अपनी कोमल-कांत-पदावलियों की रचना कर रहे थे उस समय (आठवीं से तेरहवीं शताब्दी तक) इन्हीं कवियों ने बोलचाल की भाषा में जनता के लिए साहित्य-सर्जन किया था जो बहुत ही सशक्त और प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ था। सिद्धों एवं नाथों के इसी साहित्य की कुछ धार्मिक व लौकिक मान्यताओं को और कुछ अर्थों में काव्य-शैलियों को हमारे संत कवियों ने अपनाया था। इनके कुछ तत्त्वों को तो संतों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। उदाहरणार्थ पाखंड खण्डन को लिया जा सकता है। सरहपा ने ब्राह्मण-धर्म के ठेकेदारों तथा उनके धर्म-ग्रंथों की जो खिल्ली उड़ाई थी वह यहाँ द्रष्टव्य है—

बह्मणहि म जाणन्त हि भेऊ। एवइ पढ़िअउ ए चउबेऊ ॥
भटिय पाणि कुसलई पढ़न्त। घरहीं बइसी अग्गि हुठान्त ॥
कज्जे बिरहबू हुआवह होमे। अक्खि डहाविअ कडुएं धूयें।'

इसी प्रकार कण्हपा ने भी वेद-पुराण के अध्ययन के खोखलेपन का उल्लेख किया था—

'आगम बेअ पुराणे पंडिअ माण बहन्ति।
पक्क सिरीफले अलिय जिमि बाहेरीअ भमन्ति ॥'

गोरखनाथ ने भी 'छाड़ौ तंत मंत वेदंत' कह कर वेदों की अवहेलना की थी और वेदों तथा ब्राह्मणों का मजाक उड़ाते हुए कहा था—

'कुम्हरा के घरि हाड़ी आछै, अहिरा के घरि साँड़ी।
बभना के घरि राड़ी आछै, राड़ी, साँड़ी, हाँड़ी ॥'

ग्यारहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते स्थिति यहाँ तक पहुँच गई थी कि राम सिंह मुनि ने पंडितों तथा उनके ज्ञान को थोथा सिद्ध करते हुए इतना तक घोषित किया था कि—

'पंडिय पंडिय पंडिया, कणु छंडिवि तुस कंडिया।
अत्थे गंथे तुट्ठोसि, परमत्थुण जाणहि मूठोसि ॥
बहुयइं पठियइं मूढपर, तालु सुक्कइ जेण।
एक्कुजि अक्खरु तं पठहु, सिवपुरि गम्मइ जेण ॥
छह दंसण धंधइ पडिय, मणहं ण फिटि्टयभंति।
एक्कु देउ छह भेउ किउ, तेण ण मोक्खहं जंति ॥'

इधर हमारे संत कवियों का स्वर भी जैसा कि हम जानते हैं, ठीक ऐसा ही है। कबीर, दादू, नानक आदि ने शास्त्रों के पठन-पाठन को अमहत्त्वपूर्ण बताया है। ब्राह्मणों के पीछे तो हमारे संत हाथ धोकर पड़े हुए थे। सिद्धों ने ब्राह्मण कर्म-कांडों की भी कम निंदा नहीं की है। सरहपा ने यहाँ तक कहा कि—

'जो जसु जेण होइ संतुट्ठो।
मोक्ख कि लब्भइ झाण पविट्ठो ॥
किन्तह दीवें किं तहं णेवेज्जे।
किन्तहं किज्जइ मंतह सेब्बे ॥
किन्तह तित्थ तपोवण जाई।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी नहाई ॥'

यही वह साहित्यिक प्रेरणा-स्रोत है जहाँ से हमारे संत कवि अधिकांश भावों को ग्रहण करते हैं। इसमें वे नवोदित सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं को भी सम्मिलित कर लेते हैं और इस प्रकार उनकी विषय-सामग्री के एक पक्ष का निर्माण होता है।

संत साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ

संत साहित्य कुछ विशेष सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों को लेकर लिखा गया था। प्रायः सभी संतों के उद्देश्य समान थे। विषय सामग्री के साथ-साथ रचना-शैली भी समान थी। यहाँ हम उनकी इन्हीं सामान्य प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालेंगे।

१. प्रायः सभी संत मानवतावादी थे। अतः उन्होंने सम्प्रदायिकता से ऊपर उठकर मानवता के उच्च धरातल पर पहुँचाने के उद्देश्य से धार्मिक भेद-भाव, संकीर्णता, असहिष्णुता आदि की कटु निंदा की है। सांस्कृतिक समन्वय की भावना से भी उत्प्रेरित होकर इन संतों में हिंदू-मुसलमान दोनों की दुर्बलताओं पर कुठाराघात करने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

२. इन संतों की एक दूसरी विशेषता है उदारता, परोपकार तथा अन्यान्य मानवीय गुणों का प्रचार तथा अमानवीय एवं अनैतिकता से संबद्ध दुर्गुणों का बहिष्कार। यह केवल हाड़-मांस एवं प्राण-युक्त व्यक्ति को ही मनुष्य नहीं मानते थे, प्रत्युत मानव कहलाने के लिए ये हृदय में दया-धर्म की अनिवार्यता पर बल देते थे। सभी संत ज्ञान तथा धार्मिक सिद्धियों आदि को तब तक तुच्छ समझते थे जब तक कोई सच्चे अर्थ में मानव न हो।

३. उनके इसी मानववाद की पराकाष्ठा हमें तथाकथित शुद्रों तथा दलितों के प्रति व्यक्त उनके उद्‌गारों में देखने को मिलती है, जहाँ वे एक ही कुम्भकार की चाक पर एक ही मिट्टी से निर्मित ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-शूद्र का उल्लेख करते हुए सबको समान धर्म-गुण सम्पन्न सिद्ध करते हैं।

४. चरम मानवतावादी संतों की एक अन्य सामान्य प्रवृत्ति है उनकी अहिंसा-वादिता (दया) को महत्त्व देनेवाला स्वभावतः अहिंसावादी होगा और हमारे संत कवि साक्षात् दया की प्रतिमूर्ति थे। पर इनकी अहिंसा जैनियों की उन चरम अहिंसावादिता से भिन्न है, जहाँ किसी को कटु वाक्य से भी दुःखी नहीं किया जाता था।

५. पाखण्ड-खण्डन संतों का एक प्रिय विषय रहा है। प्रायः सभी संतों ने शास्त्रों तथा शास्त्र-प्रणेताओं का उपहास किया है। तथाकथित 'ज्ञानमार्गी' संतों का ज्ञान-कोष, धर्म-ग्रंथों तथा शास्त्रों के प्रति उनका निरादर भाव हमें आश्चर्य में नहीं डालता है, क्योंकि ये स्वयं इनसे दूर थे। गुरुओं द्वारा सुना-सुनाया ज्ञान इनका सम्बल था, जिसमें इन्होंने अपनी अनुभूति द्वारा कुछ अभिवृद्धि कर ली थी। वेद-पुराण, कुरान आदि का नाम बार-बार लेकर ये ज्ञाताओं—पंडितों तथा मौलवियों को ज्ञानशून्य कहा

करते थे। यहीं वे धर्म-ग्रंथों के आचार-पक्ष का भी मजाक उड़ाते हुए पाए जाते हैं। इनका स्वर सिद्धों से भी तीखा हो उठा है और भाषा भी कम चिढ़ानेवाली नहीं है। डाँट-फटकार की यह प्रवृत्ति प्रायः सभी संतों में पाई जाती है।

६. उपदेशात्मकता तो जैसे संतों की अपनी विरासत है। हर संत कवि एक धर्मोपदेशक अथवा समाज-सुधारक की प्रवृत्ति लेकर काव्य-रचना करता है।

७. सिद्धात-निरूपण की भावना भी प्रायः सभी संत-कवियों में पाई जाती है। यहाँ एक विशेष उल्लेखनीय तत्त्व यह है कि जहाँ प्रारम्भिक संतों में सिद्धांत-निरूपण के प्रति विशेष आग्रह नहीं रहता है वहाँ उत्तर मध्ययुगीन संतों के साहित्य में जिन्हें सम्प्रदाय-निर्माण की चिन्ता लग जाती है, केवल सिद्धान्तों से सम्बद्ध तुकबन्दियाँ ही देखने को मिलती हैं। जो संत पहले स्वयं कोरी दार्शनिकता अर्थात् मीमांसा से संबद्ध ब्राह्मण-ग्रन्थों का उपहास किया करते थे, उनकी ही परम्परा के परवर्ती संत अब स्वयं दार्शनिक अथवा अर्घ-दार्शनिक ग्रन्थों के निर्माण में लग जाते हैं। परवर्ती संतों में यह प्रवृत्ति हम समान रूप से पाते हैं।

८. भक्ति की भावना सभी सन्त कवियों में समान रूप से पाई जाती है और इनकी भक्ति भी कुछ ऐसी है जिसमें सूफियों का प्रेम-तत्त्व तथा विशुद्ध वैष्णवों की कान्ता-भक्ति का समन्वय देखने को मिलता है।

९. भाषा की दृष्टि से भी संतों में अद्वितीय समानता देखने को मिलती है। ये भाषा की बनावट की ओर न जाकर भाव प्रसारण तथा प्रवहण की ओर अधिक ध्यान देते रहे। सीधी-सादी बात को साधारण बोल-चाल की भाषा में व्यक्त कर देना सभी सन्तों का मुख्य लक्ष्य रहा है। यहाँ अलंकारों की कोई आवश्यकता न थी और किसी प्रकार की रचनागत कृत्रिमताओं की उपयोगिता न थी।

१०. रस की दृष्टि से सम्पूर्ण सन्त काव्य शांत रस प्रधान हैं और ईश्वर की भक्ति की प्रधानता के कारण निर्वेद ही इसका स्वार्थी भाव है। कभी-कभी रहस्यवाद के अन्तर्गत आत्मा के विरह-वर्णन के कारण वियोग-शृंगार भी देखने को मिल जाता है। इस प्रकार संत-साहित्य मे शांत एवं वियोग शृंगार की ही प्रधानता देखने को मिलती है। कहीं-कहीं गौण रूप से अद्भुत् तथा वीभत्स रस भी मिल जाता है।

११. प्रायः सभी सन्त कवियों ने साखियों तथा शब्दों का प्रयोग किया है। साखी दोहा छन्द है और शब्द विभिन्न राग-रागनियों के पद हैं।

इन्हीं सामान्य प्रवृत्तियों के दर्शन हमें संत-साहित्य में होते हैं। अब हम सूफी काव्य-धारा या प्रेममार्गी शाखा की कुछ क्लिष्टताओं का अध्ययन करेंगे और साथ ही उनकी काव्यगत सामान्यताओं, प्रवृत्तियों का परिचय प्राप्त करेंगे।

प्रेममार्गी शाखा

पूर्व मध्यकालीन तथा मध्यकालीन भारत की राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करते समय हमें यह ज्ञात हुआ था कि कट्टर सुन्नी शासक हिंदुओं तथा असुन्नी मुसलमानों के साथ समान असहिष्णुता का व्यवहार करते थे। सूफी संतों के प्रति तो इनके मन में बहुत अधिक घृणा थी। और उधर सूफी संत देख रहे थे कि उनका मत तात्विक दृष्टि से भागवत मत से पर्याप्त साम्य रखता है। फलतः वे इस ओर आकृष्ट होते हैं। सूफियों की प्रेम-साधना वैष्णवों की प्रेम-साधना से मुख्यतः इसी अर्थ में भिन्न थी कि सूफी ईश्वर को 'माशूक या प्रेमिका' रूप में ग्रहण करते रहे जब कि वैष्णवों को कांता-भक्ति में ईश्वर पति हैं, प्रेमी हैं। एक दूसरा महत्त्वपूर्ण अंतर यह है कि सूफी कवियों ने लौकिक प्रेम से ही अलौकिक प्रेम की व्यंजना कराई है। उन्होंने अपने सिद्धांतों को न तो संतों की भाँति प्रत्यक्ष रूप से कही है और न कुछ भक्तों की भाँति शास्त्रीय ढंग से व्यक्त की है। हिंदू प्रेम-कथानकों के माध्यम से ही उन्होंने अपने सिद्धांतों को प्रकाशित किया है। यद्यपि हम निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह निजारी धर्म-प्रचारकों की प्रचार-शैली का ही परिष्कृत साहित्यिक रूप तो नहीं है, तथापि इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हिंदी भाषा तथा हिंदुओं में प्रचलित प्रेम-कथाओं को ग्रहण करने में कुछ न कुछ विशेष उद्देश्य अवश्य रहा होगा। इस तथ्य का समर्थन इस बात से भी हो जाता है कि इस शाखा के हिंदू कवियों ने सिद्धांत निरूपण का पक्ष छोड़ दिया है क्योंकि इनका सूफी सिद्धांतों से कोई सरोकार न था। कुतुबन, मंझन, जायसी, उसमान, आलम, नूरमुहम्मद आदि मुसलमान सूफी कवि जहाँ हिंदू-वातावरण में सूफी सिद्धांतों का प्रचार कर रहे थे वहाँ ईश्वरदास, पुहुकर, नरपति व्यास, दुखहरनदास, मुकुन्द सिंह आदि हिन्दू कवि विशुद्ध प्रेम-काव्य के सर्जन में लगे हुए थे।

प्रमुख विशेषताएँ

सूफी काव्य-धारा की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियाँ ये हैं—

१. इस शाखा के कवियों ने हिंदुओं में प्रचलित प्रेम कथाओं को ही अपना वर्ण्य विषय बनाया है। ये कथाएँ लोक-प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थीं, इनमें इतिहास तथा कल्पना दोनों का सम्मिश्रण है। मुसलमान सूफी कवियों ने, जैसा कि प्रारंभ में ही संकेत किया गया है इन्हीं प्रेम-कथाओं के माध्यम से सूफी मत का प्रतिपादन किया है। किंतु इस शाखा के हिंदू-कवियों में ऐसी कोई बात नहीं पाई जाती है।

२. प्रेम मार्गी शाखा के कवियों में संतों की उपदेशात्मकता का अभाव है। यहाँ सारी कथावस्तु प्रेमाख्यान के रूप में ही विस्तार पाती है और कथा समाप्ति पर

संक्षेप में कथा के अंगों तथा पात्रों को सूफी मत की ओर उन्मुख कर दिया जाता है। विशिष्टता यह है कि सभी प्रसंगों में लोकोत्तर कल्पना पाई जाती है। लौकिकता में ही अलौकिकता की व्यंजना सूफी काव्य की एक अपनी विशेषता है। पर हिंदू प्रेमाख्यानक कवियों में इस तत्त्व का अभाव मिलता है।

३. सूफी प्रेमाख्यानक काव्य फारसी की मसनवी बोली में लिखा गया है। दोहा तथा चौपाई छंदों का प्रयोग किया गया है। प्रारंभ में ईश्वर वंदना, मुहम्मद साहब की वंदना तथा तत्कालीन शासक की वंदना देखने को मिलती है। किंतु भारतीय आदर्शों का भी पूरा-पूरा पालन किया गया है। यही कारण है कि इन प्रबंध काव्यों में नायक द्वारा नायिका की प्राप्ति के लिए चेष्टाएँ कराई गई हैं और तब नायिका को भी नायक के लिए विह्वल होते दिखाया गया है। पातिव्रत धर्म तथा आदर्श पति-पत्नी-प्रेम का निरूपण भी इन प्रेमाख्यानों में मिलता है। इसी प्रकार चित्र-दर्शन, शुक-सारिका, नायिका-रूप वर्णन आदि की परंपरा का भी पालन किया गया है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय आदर्शों तथा सूफी मान्यताओं का सुंदर समन्वय इस काव्य में मिलता है। हिंदू देवी-देवताओं के प्रति सम्मान प्रकट करके मुसलमान सूफी कवियों ने इस समन्वय को और अधिक सुदृढ़ कर दिया है।

४. जिस प्रकार संतों के खंडन-मंडन को इन सूफी कवियों ने नहीं अपनाया है उसी प्रकार उन्होंने इनके शुष्क रहस्यवाद को भी अस्वीकृत कर दिया है। सूफियों के रहस्यवाद की प्रवृत्ति पूर्णतया प्रेम-मूलक है। यह साधनात्मक न होकर भावनात्मक है। यद्यपि इन्होंने भी कहीं-कहीं हठयोगियों की शब्दावलियों को स्वीकार कर लिया है, पर इनका नाद-बिंदु शून्य में भी एक ऐसी प्रतिमा का निर्माण करता है जिसकी उपलब्धि साधक के लिए संभव प्रतीत होती है।

५. पूरा का पूरा साहित्य प्रबंध काव्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है, अतः प्रायः सभी रस यहाँ पाए जाते हैं, पर शृंगार रस की प्रधानता है। शृंगार के दोनों पक्षों का सफल चित्रण किया गया है। सूफी मतवाद से पूर्णतया प्रभावित प्रेमाख्यानक काव्य मूलतः विरह-काव्य का है, क्योंकि साधक ईश्वर से बहुत दिनों तक पृथक् रहता है। जब उसकी यह विरहानुभूति उसे पूर्णतया विक्षिप्त कर देती है, तब वह उसे प्राप्त करने के लिए मार्ग की सारी बाधाओं को झेलता हुआ अग्रसर होता है। अंत में उसे सफलता मिलती है, ईश्वर का साक्षात्कार होता है, नायक-नायिका मिलन का अवसर आता है।

कथा-वस्तु को रोचक करने के अभिप्राय से अन्यान्य रसों का भी समावेश किया गया है पर हास्य तथा रौद्र रस का अभाव है। शृंगार रस में विरह-चित्रण में मांस

तथा रक्त का उल्लेख मसनवी शैली पर किया गया, जिसे भारतीय काव्यादर्श के प्रतिकूल माना जाएगा।

६. इस काव्य-धारा का सर्जन अवधी भाषा में हुआ है। दोहा तथा चौपाई छंद अवधी भाषा में सुंदर ढंग से खप भी गये और हम देखते हैं कि महाकवि तुलसीदास भी 'मानस' जैसे महाकाव्य की रचना अवधी में ही करते हैं।

रामभक्ति शाखा

स्वामी रामानंद के विषय में पढ़ते हुये हमें यह ज्ञात हुआ था कि रामानुजाचार्य के श्रीसंप्रदाय को ही रामावत संप्रदाय में स्वीकार कर लिया गया था। स्वामी रामानंद ने अपनी ओर से जो एक महत्त्वपूर्ण नवीन तत्त्व जोड़ा था वह था तथाकथित शूद्र जातियों के लिए भी इस भक्ति का द्वार खोल देना। रामानंद के शिष्यों ने राम मत की शिक्षा ली थी किन्तु कबीर, पीपा, सेन, रैदास आदि रामावत संप्रदाय के प्रचारक न होकर संत मत की ओर उन्मुख हो जाते हैं और इस संप्रदाय के वास्तविक प्रचारक के रूप में हमें गोस्वामी तुलसीदास मिलते हैं। इसी महानुभाव ने पौराणिक युग से चली आने वाली रामोपासना को मध्य युग में प्रचारित किया था। प्राचीन संस्कृत काव्यों तथा पौराणिक सामग्री को मिला-जुला कर महाकवि तुलसी ने रामोपासना का आदर्श उपस्थित किया था। कालांतर में कृष्ण-काव्य के प्रभाव से इस संप्रदाय में भी कुछ रसिक कवियों का आविर्भाव हुआ पर अकेले महात्मा तुलसीदास ने राम को जो आदर्श रूप प्रदान कर दिया था और उनके प्रति सेव्य-सेवक भाव को जो सुदृढ़ स्थापना कर दी थी, उसे कोई न डिगा सका। महात्मा तुलसीदास के बाद अग्रदास, नाभादास, तथा केशवदास के नाम राम-भक्ति शाखा के कवियों में विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें तुलसीदास की मूल भावना क्षीण होती हुई मिलती है। वास्तव में राम-भक्ति शाखा का यह बहुत बड़ा दुर्भाग्य था कि उसे केवल एक ही सफल कवि मिल सका।

राम-भक्ति-साहित्य की सामान्य विशेषताएँ

राम-भक्ति-साहित्य की कुछ प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

१. राम-भक्ति-शाखा के कवि भगवान विष्णु के रामावतार को अपना आराध्यदेव स्वीकार करते थे पर जिस प्रकार ये निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों को महत्त्व प्रदान करते थे उसी प्रकार रामावतार के साथ-साथ कृष्णावतार में भी इनकी आस्था थी और भगवान कृष्ण के प्रति भी ये समान आदर-भाव व्यक्त करते रहे। 'रामगीतावली' की भाँति तुलसीदास ने 'कृष्णगीतावली' की भी रचना की थी।

२. राम-भक्ति-शाखा के कवि सेवक-सेव्य भाव से भगवान राम की भक्ति करते थे। तुलसीदास ने यह स्पष्ट घोषणा की थी—

'सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरहि हनुमंत।

आराध्यदेव राम की महत्ता के चित्रण में लगभग सभी कवि समान रूप से रुचि लेते हुए दिखाई पड़ते हैं। वास्तव में दास्य-भक्ति तभी संभव हो सकती थी, जब आराध्यदेव अर्थात् अपने स्वामी की महत्ता तथा सार्वभौमिक संप्रभुता का विषद विवरण प्रस्तुत किया जाए। इसी संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि जहाँ एक ओर अपने स्वामी की महत्ता का चित्रण करते हुए, ये कवि अघाते नहीं हैं, वहीं अपनी लघुता, हीनता तथा दीनता का उल्लेख भी इस शाखा के कवियों ने किया है। महात्मा तुलसीदास का निम्नलिखित पद इस तथ्य के स्पष्टीकरण में सहायक सिद्ध होगा—

'तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी,
हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुञ्ज हारी।
नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसों,
मो समान आरति नहिं, आरतिहर तोसो।
ब्रह्म तू हौं जीव, तू ठाकुर हौं चेरो,
तात मात गुरु सखा सब विधि हित मेरो
मोहि तोहि नाते अनेक मानिये जो भावे,
ज्यों-त्यों 'तुलसी' कृपाल चरन सरन पावै॥'

३. रामावत संप्रदाय का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि इस संप्रदाय के प्रारंभिक आचार्यों में जाति-पाँति संबन्धित पर्याप्त सहिष्णुता थी। उस सहिष्णुता का प्रस्फुटन यथार्थः संत कवियों में ही हुआ था, किन्तु राम-भक्ति शाखा के कवियों में यह सहिष्णुता वैष्णव-धर्म की रक्षा करते हुए देखने को मिलती है। यहाँ भगवान राम निषाद तथा कोल-भील को समान स्नेह देते हुए दिखाए गए हैं, पर लोकाचार में विशुद्ध वैष्णव-धर्म की प्रतिष्ठा की गई है। यहाँ ब्राह्मणों को पौराणिक गौरव प्रदान किया गया है, क्षत्रियों को क्षात्र धर्म का उपदेश दिया गया है तथा इसी प्रकार वैश्यों एवं शूद्रों को अपने-अपने कर्मों में लगे रहने की शिक्षा दी गई है। इस दृष्टि से राम-भक्ति शाखा के कवि वैष्णव-पुराणों की मान्यताओं का अवलंब लेकर चलते हैं। श्रुति-सम्मतता की दृष्टि से भी ये वैष्णव पुराणों की भाँति सचेष्ट दिखाई पड़ते हैं। महात्मा तुलसी ने तो नाना पुराण निगम-आगम को ही अपनी रचना का स्रोत, आधार तथा केन्द्रबिन्दु बनाया था। इसी प्रकार अन्यान्य भक्त कवियों ने भी प्रतिसम्मानता तथा वैष्णवात्मकता को महत्त्व प्रदान किया है। केवल केशव ही एक ऐसे कवि निकले, जिन्हें साम्प्रदायिक तत्त्वों की विशेष चिन्ता न थी। इस बिरादरी से बाहर सजातीय होकर भी यही थे।

४. राम-भक्ति-शाखा के कवियों की प्रवृत्ति विशुद्ध रूप से भक्ति-तत्त्वों के निरूपण तथा भक्ति के प्रचार की ओर उन्मुख दिखाई पड़ती है। कविता करना इनका ध्येय नहीं है, भक्ति-भावना के निरूपण में काव्य-सृजन हो गया है। तुलसी जैसे सफल कवि के 'मानस' महाकाव्य को उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है, जिसमें भक्ति-तत्त्वों के निरूपण के कारण ही कथा-प्रवाह में कहीं-कहीं शिथिलता आ गई है और इस प्रकार कथा की समरसता में यत्र-तत्र बाधा उपस्थित हो जाती है।

५. अन्यान्य भक्त कवियों की भाँति राम-भक्ति शाखा के कवियों को भी किसी लौकिक आश्रय को कोई आवश्यकता न थी, प्रत्युत ये राजा राम के आश्रय में ही रह-कर सारा जीवन काट देना चाहते थे। इन भक्त कवियों को चाहे जितनी भी असुविधाएँ जीवन-निर्वाह में सम्मुख आएँ इन्हें किसी प्रकार की बाह्य याचना की आवश्यकता न थी, क्योंकि इनके एक-मात्र दाता राम थे और उनमें ही वे अपनी 'अरज-गरज' कहा करते थे।

६. भाषा शैली की दृष्टि से राम-भक्ति-साहित्य विविधता का परिचय देता है। ब्रजभाषा तथा अवधी दोनों भाषाओं में इस साहित्य का निर्माण हुआ है। इसी प्रकार मुक्तक तथा प्रबन्ध काव्य दोनों काव्य रूपों में यह साहित्य रचा गया है। शैली की दृष्टि से एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसमें स्वाभाविकता तथा कृत्रिमकता दोनों का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। एक ओर महात्मा तुलसीदास अपने युग की प्रचलित सभी काव्य-शैलियों को अपनाकर चलते हुए दिखाई पड़ते हैं तो दूसरी ओर हम अलंकारवादियों तथा रीतिवादियों की परम्परा का शिलान्यास करने-वाले आचार्य केशव को राम-साहित्य में अपना योगदान देते हुए पाते हैं।

७. यह साहित्य प्रबन्धात्मकता के कारण प्रायः सभी रसों से परिपूर्ण है। पर इन सब में शान्त रस की प्रधानता है। इस शाखा के पूर्ववर्ती कवि तो पूर्णतया शांत रस को ही, जिसे हम भक्ति-रस की संज्ञा दे सकते हैं, प्रधान मान कर चलते हैं, पर परवर्ती कवि रसिक रामावत संप्रदाय की प्रेरणा से आदर्श पुरुषोत्तम राम को भी कृष्ण-भक्त कवियों के रूप में चित्रित करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में पूर्ववर्ती कवियों के मर्यादित शृंगार की रक्षा नहीं हो पाई है और सौभाग्यवश कोई दूसरा 'तुलसी' इस रसिक सम्प्रदाय में पैदा नहीं हुआ अन्यथा मर्यादा पुरुषोत्तम राम की मर्यादा खतरे में पड़ जाती।

कृष्ण भक्ति शाखा

भागवत सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध इतिहासकारों ने वृष्णि-वंशीय कृष्ण से स्थापित किया है। कृष्ण ही इस सम्प्रदाय के संस्थापक तथा आदि प्रचारक माने गए

है, पर इनका स्वरूप युगानुसार परिवर्तित होता गया है। औपनिषदिक युग के कृष्ण तथा 'गीता' के कृष्ण तक में हम साम्य पाते हैं और हम देखते हैं कि ऋषि घोर अंगिरस से 'छान्दोग्यो उपनिषद्' में सीखे गए ज्ञान का उपदेश ही 'गीता' में कृष्ण द्वारा प्रचारित किया गया है। किन्तु 'महाभारत' के प्रक्षिप्तांशों से स्थिति में परिवर्तन आरम्भ हो जाता है और प्रथम सती ई० तक आते-आते पौराणिक प्रभावों अथवा आमीरों की परम्पराओं के कारण कृष्ण-चरित्र में बाल-गोपाल का समावेश हो जाता है। 'भागवत' पुराण के रचयिता ने कृष्ण-सम्बन्धी रसिकता की सारी परम्पराओं एवं थातियों को शास्त्रानुमोदित करने का जो प्रथम प्रयास किया था वह अकेला इतना सशक्त एवं प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ कि परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने भी, तत्त्व मीमांसा के लिए प्रस्थानत्रयी—उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्रों को—आधार मानते हुए भी 'भागवत' पुराण को ही आचार-मीमांसा के लिए मुख्यतः स्वीकार किया था। उधर श्री अथवा लक्ष्मी के चरित्र में जो विकास होता चला जा रहा था, वह राधा के रूप के क्रमिक विकास की पृष्ठभूमि का कार्य करता है। आचार्यों के युग तक पहुँचते-पहुँचते ही कृष्णोपासना में राधा का समावेश हो जाता है और जैसा कि हम देख चुके हैं वल्लभाचार्य ने अपने पुष्टि मार्ग में राधा-वल्लभ या गोपी-वल्लभ कृष्ण का ही रूप संवारा था। यही रूप उनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी गोसाईं विट्ठलनाथ द्वारा अपनाया जाता है। विट्ठलनाथ जी ने कान्ता-भाव को और अधिक आगे बढ़ाया। यहीं उन्हें वल्लभाचार्य जी के विरह-भाव को पराकाष्ठा पर पहुँचाने का अवसर मिल जाता है। पर जब कृष्ण के प्रति विरह-भाव प्रदर्शित करना है तो विरह की यथार्थता एवं उन्मत्तता के लिए संयोग एवं प्रेमभाव की भी अनंत गहराई में उतरना आवश्यक हो गया। फलतः संयोग पक्ष की उत्पादक योजनाओं की भी आवश्यकता पड़ी। कहना न होगा कि तब कृष्ण को बाह्य साज-शृंगारों से भी भली-भाँति सजाना-सँवारना एक अनिवार्यता-सी प्रतीत होने लगी। इस प्रकार कुछ ही दिनों में भागवत पुराणकार के कृष्ण को सन्दर्भ और शृंगार के सभी प्रसाधनों से लादकर भक्तों के सम्मुख रख दिया गया। इन्हीं प्रसाधनों में से संगीत भी एक प्रसाधन रहा 'श्रवणं कीर्तनं' वाला कीर्तन यहाँ विशुद्ध रागात्मक गीतों में बाँध दिया गया। पर यह तभी सम्भव था जब सफल गीतकार मिलते। अतः अपने सैकड़ों शिष्यों में से विट्ठलनाथ जी ने आठ विशिष्ट भक्त कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' का निर्माण किया। ये आठ कवि थे—

१. नंददास, २. चतुर्भुजदास, ३. परमानंददास, ४. सूरदास, ५. कृष्णदास, ६. कुंभनदास, ७. छीत स्वामी तथा ८. गोविन्द स्वामी।

वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ के इन शिष्यों ने तो फिर भी मर्यादा का पालन किया था, पर कृष्णोपासक अन्यान्य सम्प्रदाय वालों ने राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं

को लौकिकता के मांसल धरातल तक उतार दिया है। हरिवंश के राधावल्लभी सम्प्रदाय ने इस दृष्टि से अधिक प्रयास किया है। स्वयं इस सम्प्रदाय के संस्थापक हितहरिवंश जी का एक पद देखिए—

'विपिन घन कुंज रति केलि भुज मेलि, रुचि,
स्याम-स्यामा मिले सरद की जामिनी।
हृदय अति फूल, रस मूल पिय नागरी,
कर निकर मत्त मनु विविधगुन रागिनी॥
सरस गति हास-परिहास आवेस बस,
दलित दल मदन बल कोक रस जामिनी।
हितहरिवंश सुनि बाल लावन्य मिदे,
प्रिया अति सूर सुख-सूरत संग्रामिनी॥'

इतना ही नहीं परवर्ती कवियों ने तो साधारण नायक-नायिका के स्तर पर राधाकृष्ण को पहुँचा दिया है। वास्तव में इस घोर एवं अमर्यादित शृंगारिकता के पीछे साहित्यिक परम्परा का बहुत बड़ा हाथ है। जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया जा चुका है, ये कवि तथा स्वयं इनके आचार्य दोनों ही भागवत पुराण को महत्त्व प्रदान करते रहे। जयदेव तथा विद्यापति की परम्परा भी इन्हें प्रभावित कर रही थी। अधिकांश भक्त कवियों के लिए तो उक्त दोनों कवियों की रचनाएँ ही प्रेरणा-स्रोत का कार्य करती हैं। इसी पृष्ठभूमि में हम कृष्ण-भक्ति साहित्य की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

सामान्य प्रवृत्तियाँ

विषय-सामग्री एवं भाषा शैली की दृष्टि से भक्ति-कालीन कृष्णभक्त कवियों में हमें निम्नलिखित सामान्य विशिष्टताएँ देखने को मिलती हैं—

१. सभी कृष्णभक्त कवियों को हम मधुरोपासना की ओर आकृष्ट हुआ पाते हैं। पूर्ववर्ती कवियों में काव्य की आत्मा आध्यत्मिकता से ओतप्रोत है पर परवर्ती कवियों में यह लौकिकता की गन्ध से युक्त हो जाती है। पर दोनों स्थितियों में समान-प्रवृत्ति है विरह-भाव की स्थापना। यही कारण है कि गोपियों के विरह-चित्रण तथा विरह-निवेदन के सर्वोत्तम अवसर स्वरूप भ्रमर-गीत की ओर इस शाखा के अधिकांश कवि आकृष्ट हुए हैं। पर जैसा कि कहा जा चुका है विरह की गम्भीरता मिलन की गहराई पर निर्भर है, अतः उद्दाम विरह के लिए गोपी-कृष्ण-प्रेम की लीलाओं, सम्मिलन की अवस्थाओं दोनों ओर की छेड़-छाड़ के चित्रण में भी इन कवियों ने कम रुचि नहीं ली है।

२. पुष्टिमार्गी भक्ति से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से यह पूरा साहित्य प्रभावित है। अतः सिद्धान्त-निरूपण को भी अपनी रचना का एक उद्देश्य बनाया गया है। प्रायः सभी कवि शुद्धाद्वैतवादी दर्शन पर दो-चार पद लिखते हुए पाए जाते हैं। कुछ विद्वान् कवियों ने तो बहुत ही सरस एवं सुन्दर ढंग से सफल दार्शनिक कविताएँ लिखी हैं। भ्रमरगीत काव्य में गोपी-ऊधो संवाद में दार्शनिकता का सुन्दर पुट देखने को मिलता है।

३. कृष्णभक्त कवियों ने सख्य भाव से भगवान् कृष्ण की आराधना की है। ऐसी स्थिति में उन्हें किसी अन्य देवता की मध्यस्थता की आवश्यकता नहीं पड़ी है, जैसा कि हम रामभक्त कवियों में पाते हैं। हम कृष्ण-भक्ति शाखा के सभी कवियों को एक-निष्ठ होकर चारों ओर से आँख मूँदकर केवल अपने सखा कृष्ण के साथ आँखमिचौनी खेलते हुए देखते हैं।

४. श्रीकृष्ण का बाल-चित्रण भी इस शाखा के कवियों का प्रिय विषय रहा है, पर महात्मा सूरदास को ही इसमें सर्वाधिक सफलता मिली है। यह बाल-चित्रण सख्यभाव के विकास एवं परिपक्वता के लिए आधार-शिला का कार्य करता है; मित्रता की प्रगाढ़ता एवं प्राचीनता के लिए पृष्ठभूमि का कार्य करता है। साथ ही इसी चित्रण में किशोरावस्था की भावी प्रेम-लीलाओं को स्वभावगत सिद्ध करने के लिए मनोवैज्ञानिक आधार भी दे दिया गया है।

५. रामभक्त कवियों की भाँति कृष्णभक्त कवि भी सांसारिक माया-मोह से विरक्त थे और उन्हें न तो किसी राज्याश्रय की आवश्यकता थी और न धन-सम्पत्ति का प्रयोजन। अधिकांश कवि साधु थे या साधु-सन्तों की संगति में रहा करते थे। कुम्भनदास जी के शब्दों में जिन्हें अकबर बादशाह के निमंत्रण पर एक बार फतहपुर सीकरी जाना पड़ा था—

'संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पहनियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरिनाम ॥
जिनको मुख देखत दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ॥'

६. कृष्ण-भक्ति साहित्य एक बँधे-बँधाए एवं सधे-सधाए सीमित क्षेत्र में चल रहा था, अतः इस शाखा के कवियों की उक्तियों में एकरूपता पाई जाती है। कभी-कभी तो भाव-साम्य के साथ-साथ शैली-साम्य भी मिल जाता है। भावों एवं शैलियों का यह साम्य तथा यह पुनरावृत्ति संतों तथा अन्य भक्त कवियों में भी पाई जाती है पर वह इतनी बँधी-बँधाई नहीं है। वहाँ प्रत्येक कवि में कुछ नवीनता भी है पर प्रारम्भिक कृष्णभक्त कवियों की रचनाओं के अध्ययन के पश्चात् यदि हम परवर्ती कवियों की रचनाओं का अवलोकन करते हैं तो हमें अधिकांशतः आवृत्ति भर ही मिलती है।

७. यह साहित्य ब्रजभाषा में लिखा गया है। माधुर्यगुण युक्त ब्रजभाषा मधुर भावों के प्रकाशन में सहायक सिद्ध हुई है। सूरदास, नंददास आदि कवियों ने ब्रजभाषा को नई शक्ति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

८. कीर्तन के लिए ही कृष्णभक्त कवियों ने बहुधा कविताएँ लिखीं, अतः आवश्यकतावश गेय पदों का प्रयोग किया गया है। गीतात्मकता की प्रवृत्ति प्रायः सभी कवियों में पाई जाती है। जयदेव तथा विद्यापति ने इस दिशा में जो पथ-प्रदर्शन किया था प्रायः उसी मार्ग का अनुसरण किया गया है।

९. कुछ स्वतंत्र कवियों ने भी कृष्ण-भक्ति साहित्य में योगदान दिया है और वे सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित न होकर भी कुछ ऐसी प्रेममयी रचना कर गए हैं, जिनमें कृष्ण-प्रेम की अद्वितीय छटा देखने को मिलती है। ऐसे स्वतंत्र कवियों की प्रवृत्ति सिद्धांत निरूपण की ओर न जाकर विशुद्ध कृष्ण-प्रेम या राधा-कृष्ण प्रेम की ओर रही है। मीरां, रसखान नरोत्तम आदि ने एकाग्र चित्त होकर भगवान् कृष्ण को बिना किसी सांप्रदायिक चश्मे के देखा है। यदि इन पर कुछ सांप्रदायिक प्रभाव है भी तो वह बहुत नगण्य एवं महत्त्वहीन।

अध्याय ३

रीति-काल

सांस्कृतिक पर्यावरण

रीति-काल का आरंभ, जैसा कि हम देख चुके हैं, सन् १६४३ ई० से होता है और हिंदी-काल की यह धारा सन् १८४३ ई० तक अबाध गति से चलती है। इन दो सौ वर्षों के सांस्कृतिक इतिहास का यहाँ संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जिससे रीतिकालीन काव्य को समझने में सुविधा होगी।

राजनीतिक अवस्था—भारतीय इतिहास के ये दो सौ वर्ष विभिन्न प्रकार की राजनीतिक अव्यवस्थाओं, शक्तियों के उत्थान-पतन तथा पराधीनता के नये बन्धनों से ओत-प्रोत है। इस युग का आरंभ अन्तिम शक्तिशाली सम्राट् औरंगज़ेब के शासन-काल से होता है, और अन्त अंग्रेजों की शक्ति के सुदृढ़ीकरण से। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोलहवीं शताब्दी के विदेशी मुगल जब भारत के निवासी बनकर सम्पूर्ण देश पर अपना एकछत्र राज्य स्थापित कर चुके रहते हैं और उनकी सम्प्रभुता को चुनौती देनेवालों का प्रायः अन्त हो चुका रहता है, तभी भक्तिकाल का भी अन्त हो जाता है। औरंगजेब का शासन-काल धार्मिक असहिष्णुता की दृष्टि से सल्तनत कालीन शासन की पुनरावृत्ति है। हिन्दुओं पर वही अत्याचार पुनः आरम्भ हो जाते हैं व पूजा-पाठ तथा पूजा-गृहों पर राजकीय कोप का वज्रपात होने लगता है। किन्तु अब तक भक्ति-आंदोलन के कर्णधारों तथा भक्त कवियों ने हिन्दू जाति को इतना अधिक जागृत कर दिया था कि विशुद्ध जातीय स्तर पर मुगलों के अत्याचार का मुँहतोड़ उत्तर देने के लिये देश के कई कोनों से आवाजें आने लगीं। पश्चिम में सिक्ख शक्ति का अभ्युत्थान हो रहा था तो दक्षिण में मराठों की शक्ति का संगठन। फलतः औरंगजेबी शासन मुगल-साम्राज्य की नींव झकझोर कर रह गया और पूर्वजों की अर्जित सम्पत्ति तथा प्रतिष्ठा को अदूर-दर्शी तथा असहिष्णु औरंगजेब अपनी विशाल शक्ति तथा अन्यान्य गुणों के रहते हुए भी केवल धूल-धूसरित करके रह गया। तत्पश्चात् गुड़िया मुगल सम्राटों का दुर्बल शासन आरंभ होता है और स्थिति यह हो जाती है कि परवर्ती तुर्क-अफगानों की भाँति मुगलों को भी दिल्ली के आस-पास तक सीमित रह जाना पड़ता है।

केन्द्रीय मुगल-शासन के दुर्बल होते हो मुगल सूबे स्वतंत्र हो गये। राजाओं का युग आया। राजस्थान में जयपुर, उदयपुर, जोधपुर, भरतपुर, बीकानेर, बूंदी आदि

रियासतें खड़ी हुईं। मध्यप्रदेश में भोंसले एवं गोंड नरेशों के राज्य थे। बुन्देल खंड में ओरछा, दतिया, पन्ना, चरखारी, झाँसी, छतरपुर आदि के छोटे-छोटे राज्य थे। ग्वालियर, इंदौर, अवध, काशी, बिहार, बंगाल आदि में देशी रियासतें शासन करने लगी थीं। पर जिस प्रकार राजपूत युग को दुर्बलता से लाभ उठाकर तुर्कों ने भारत पर अधिकार स्थापित कर लिया था, उसी प्रकार देशी नरेशों का सर आपस में टकरा-कर तथा उनकी आँखों में धूल झोंककर विलायत की व्यावसायिक कम्पनी ने देश के बहुत बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया। पर हमारे साहित्यकारों में से अधिकांश को इन राजनीतिक उथल-पुथलों, विद्रोहों, युद्धों आदि से कोई विशेष प्रयोजन न रहा। वे पल रहे थे मुगल प्रभावित राजदरबारों की छत्रछाया में। उनको दृष्टि उलझी हुई थी। पगड़ी-फरोश नवाबों तथा राजाओं के गुलगुले गलीचों में। केवल कुछ ही ऐसे कलाकार थे जिन्हें तत्कालीन राजनीति ने अपनी ओर आकृष्ट किया था और जो जातीय उत्थान के लिये चेष्टा करनेवाले नेताओं को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उत्प्रेरित कर रहे थे। भूषण, मान कवि, लाल कवि (गोरेलाल), हरिकेश, जोधराज, चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि उँगलियों पर गिने जानेवाली संख्या में ही ये कवि हैं। इनमें भी अधिकांश पिटी-पिटाई कथाओं की आवृत्ति करते हैं (उदाहरणार्थ हम्मीर-रासो की कथा को दुहराते हैं।) तत्कालीन परिस्थितियों को अपना वर्ण्य विषय बनाने वाले दो-एक कवि ही हुए हैं। मथुरा के जाटों का विद्रोह (१६६८-६६ ई०) सतनामियों के विद्रोह (१६७२ ई०), बुन्देलों के विद्रोह, राजपूतों के विद्रोह आदि औरंगजेब कालीन ऐसी घटनाएँ हैं, जो हिन्दी साहित्य में कई भूषण उत्पन्न कर सकती थीं, किन्तु एक तो औरंगजेबी आतंक और दूसरे राधा-कृष्ण का सम्बल हमारे साहित्यकारों को इन गति-विधियों से उदासीन रखता है। १७३६ तथा १७४६ ई० में क्रमशः नादिरशाह तथा अहमदशाह के तूफानी आक्रमण हुए। इन आक्रमणों ने मुगलों की रही सही शक्ति को भी झकझोर दिया। अब तक शिवाजी ने मराठा जाति में जातीय गौरव का जो महामन्त्र फूँका था वह दक्षिण भारत में पेशवाओं के उदय के लिए सुन्दर पृष्ठभूमि तैयार कर देता है। मुगलों के विरुद्ध जो संघर्ष पश्चिम में सिक्खों ने छेड़ा था तथा गुरुनानक देव के आदर्शों को लेकर गुरु रामदास तथा अर्जुनदेव, गुरु हरगोविंद, गुरु तेगबहादुर तथा गुरु गोविंदसिंह आदि ने सोलहवीं शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण तक जातीय उत्थान के लिये जो चेष्टाएँ कीं और जो बलिदान दिये वे भी हमारे साहित्यकारों को व्यापक रूप से प्रभावित नहीं कर सके। अपरिचित अंग्रेजों की पेचीदी चालों को समझनेवाले तो कम ही जागरूक साहि-त्यकार हो सके। भारत का इतिहासकार जब देश की इस राजनीतिक दुर्दशा को देखता है और दूसरी ओर हिंदी साहित्य की तत्कालीन रंगरेलियों पर दृष्टि डालता

है तो उसे हमारी साहित्यिक नपुंसकता पर क्षोभ और खीज प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। जिस समय देशी नरेशों को अँगरेज तथा फ्रांसीसी अपने हाथ की कठपुतली बनाकर नचा रहे थे, उस समय भी बंगाल के संन्यासी-अन्दोलन को बल प्रदान करनेवाला कोई साहित्यकार आगे नहीं आया। मराठों की शक्ति को कुचल देने के पश्चात् तो अंग्रेजों का साहस और भी बढ़ गया और उधर भारतीय जनता उतना ही हतोत्साहित हो चुकी थी। राजस्थान की अनेक राजपूत रियासतें १८१७ से १८२३ ई० के बीच अंगरेजों के समक्ष घुटने टेक देती हैं और राजा कहलाने भर को झूठी संप्रभुता की भीख माँगती हैं। उधर पश्चिम के सिक्ख भी धीरे-धीरे दुर्बल पड़ जाते हैं और व्यावहारिक रूप से सम्पूर्ण भारत अँगरेजों के अधीन हो जाता है। भारत की वास्तविक सत्ता हथिया लेने के पश्चात् भी अँगरेजों ने उपाधि-लोलुप नवाबों तथा राजाओं को अपना क्रीतदास बनाकर उन्हें स्थानीय अधिकार दे रखा था और ये देशी नरेश शासक होने का अभिनय कर रहे थे। इसी राजनीतिक परिवेश में हिन्दी-साहित्य का रीतिकाल आरम्भ होता है।

सामाजिक अवस्था—भक्तिकालीन समाज की सारी विशिष्टताओं को समेट कर चलनेवाला यह युग सामाजिक दृष्टि में यदि कोई नवीन तत्त्व पाता है तो वह है वाह्य आडम्बर। राजनीतिक दाँवपेंच तथा भीतरी खोखलेपन ने भारतीय समाज को विभिन्न प्रकार की कृत्रिमताओं से भर दिया था। मुगल दरबारी जीवन अब सर्व-साधारण तक पहुँच चुका था। उत्तरकालीन गुड़िया मुगल सम्राटों के अनुकरणों पर दरबारी साज-सज्जा तथा हरमों की सज-धज को सँवारनेवाले स्थानीय शासक दरबारी संस्कृति के प्रचार में सहायक सिद्ध हो रहे थे। मुगलकालीन कलात्मकता ने, जिसका प्रभाव देश के व्यापक क्षेत्रों में स्थापित था, समाज को कलात्मक प्रवृत्ति प्रदान कर दी थी, पर तत्कालीन सामाजिक विषमताओं ने कुछ ठोस तथा स्थायी तत्त्व की गुंजाइश नहीं छोड़ रखी थी। फलतः समाज के हाथ केवल कृत्रिमता ही लगती है। यह कृत्रि-मता भी जड़वत् होती जा रही थी। इसकी मात्रा ऊपरी स्तर में बहुत अधिक, मध्यम-वर्गीय समाज में अपेक्षाकृत कम तथा निम्न वर्ग में बहुत ही न्यून थी। किन्तु अब तक प्रायः सभी ललित कलाओं का सम्बन्ध समाज के ऊपरी वर्ग से स्थापित हो चुका था। वही इसका तथाकथित मर्मज्ञ, प्रेमी तथा आश्रयदाता बन चुका था।

पुर्तगाली, फ्रांसीसी तथा अंगरेजी सभ्यताओं का परिचय भी देश के केवल ऊपरी वर्ग के निवासियों को प्राप्त हुआ था। इन नवागत-सभ्यताओं में से अंगरेजी सभ्यता अपनी राजनीतिक प्रभुता एवं प्रसार के कारण कुछ-कुछ मध्यम वर्ग को भी प्रभावित करती है। पर यह प्रभाव अभी अधकचरा था। रीतिकालीन साहित्य का इससे कोई सरोकार न था, वह तो अधिकांशतः पगड़ी-फरोश राजाओं के दरबार में

पल रहा था। समाज से उसका कुछ सम्बन्ध था तो बस इतना ही कि हिन्दी भाषा समाज में भक्त कवियों की कृपा से राधा-कृष्ण नाम बहुत अधिक प्रचारित हो चुका था। इस नाम को लेकर लिखा जानेवाला साहित्य समाज का ध्यान आकृष्ट कर सकता था। पर ये राधा-कृष्ण !

आर्थिक अवस्था—विशृंखल राजनीतिक अवस्थाओं ने देश की आर्थिक स्थिति को डावाँडोल कर दिया था। अन्तिम शक्तिशाली मुगल सम्राट औरंगजेब अपनी अदूरदर्शिता से बाप-दादों द्वारा संचित कुबेर के खजाना-सा मुगल राजकोष पानी-सा बहा देता है और तब उसके दुर्बल उत्तराधिकारियों ने प्रबल विलासिता के लिये रही-सही सम्पत्ति भी इत्र-फूलेलों, सुरा-सुन्दरियों पर न्योछावर कर दिया। इधर प्रजा का आर्थिक शोषण भी चलता रहा, दैवी प्रकोप भी दुर्भिक्षों के रूप में सामने आते गये। प्रारम्भिक मुगलों के युग के सारे दोष जिनसे अर्थ के वितरण में असमानता उपन्न हो रही थी, विचाराधीन युग तक आते-आते सम्पूर्ण भारतीय अर्थ व्यवस्था को अव्यवस्थित कर देते हैं। बढ़ी हुई नौकरशाही शोषण-सूत्र का कार्य करती है। जागीरदारी प्रथा इस शोषण में और अधिक सहायक सिद्ध होती है। अंगरेजी शासन की स्थापना के पश्चात् तो स्थिति और भी डाँवाडोल हो जाती है। देशी नरेशों पर अंगरेजों का जो आर्थिक भार समय-समय पर पड़ता रहा उसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रजा से था। उद्योग-धन्धों को जो प्रोत्साहन मुगलकाल में मिला था, उसने देश में औद्योगिक उन्नति का सुन्दर मार्ग निर्मित कर दिया था पर देशी नरेशों, नवाबों के राजनीतिक पराभव के कारण इस विकास में अवरोध उत्पन्न हो जाता है। अंगरेजों की व्यापारिक नीति ने इनकी रही-सही शक्ति को भी समाप्त कर दिया। पर जिस वर्ग में हमारा समसामयिक साहित्य पल रहा था, उसे किसी प्रकार की आर्थिक समस्या का अनुभव नहीं हो रहा था। राजकोष करों, उपहारों आदि से भरता ही रहता था।

धार्मिक अवस्था—धर्म के क्षेत्र में यदि कोई उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ था तो वह यह कि भक्तिकालीन वैष्णव धर्म शास्त्रीय पक्ष से हटकर लौकिक पक्षों की ओर अधिक उन्मुख हो चला था। गाँव-गाँव में इस धर्म का प्रचार साधु-संतों द्वारा किया जा रहा था। अर्थाभाव ने इस युग में बहुत बड़ी संख्या में लोगों को साधु वृत्ति-ग्रहण करने को प्रेरित किया था। इन्हीं परोपजीवी साधुओं द्वारा, जिनके पास कुछ सांप्रदायिक भजनों, माला-कंठियों तथा छापा-तिलकों के अतिरिक्त और कुछ न था, वैष्णव-धर्म का प्रचार किया जा रहा था। उधर निर्गुणियाँ संतों के भी अनेक संप्रदाय तथा गद्दियाँ स्थापित हो चुकी थीं, जो निर्गुण पद गा-गा कर समाज के अशिक्षित तथा निचले स्तर के व्यक्तियों को प्रभावित कर रही थी। धार्मिक समन्वय की जो भावना पूर्व मध्य काल में प्रचारित की गई थी और जिसे मध्य काल के प्रारंभिक युगों में

विकास के लिए उचित अवसर मिल चुका था, वह अब तक प्रायः निष्प्राण हो चुकी थीं। अब न तो राम रहीम को मिलानेवाला कोई कबीर रह गया था और न शैव-वैष्णव को समझा-बुझाकर, मेल-मिलाप कराकर एक साथ चलानेवाला कोई तुलसी ही। गद्दियों के मठाधीश दान स्वरूप प्राप्त अपार संपत्ति के बल पर यूरोपीय पोप की सुख-सुविधा का उपभोग कर रहे थे। अंतर केवल यह था कि राज-शक्तियों पर इनका दबदबा न था, पर साधारण जनता तो इन्हें देवता समझती ही थी। इनके आदेशों का पालन ही धर्म का पालन माना जाता था।

इस्लाम धर्म के दोनों फिरके शिया तथा सुन्नी अपने-अपने मार्ग पर चलते रहे। इनमें किसी प्रकार के धार्मिक समन्वय के लिए कोई गुंजाइश न थी। जिन-जिन धार्मिक आचार-विचारों में वे पहले से ही मतवैभिन्य रख रहे थे, वे अब भी पूर्ववत् बने रहे। लखनऊ, जौनपुर आदि नगर शिया संप्रदाय के कुछ प्रमुख केंद्र थे।

नवागत ईसाई धर्म मिशनरियों द्वारा प्रचार पा रहा था। भारतीय भूमि पर जिस पद्धति से इस संप्रदाय ने प्रचार-कार्य आरंभ किया था वह यहाँ के निवासियों के लिए लगभग अपरिचित-सी थी। पर हमारे अधिकांश साहित्यकार इन सब धार्मिक गति-विधियों की ओर से आँख मूँदे लौकिक राधा-कृष्ण की विलासमय अति लौकिक क्रीड़ाओं में उलझे रह गये। उनका ध्येय था आश्रयदाताओं का मनबहलाव जो विशुद्ध शृंगारिक कविताओं से हो सकता था।

साहित्यिक स्रोत—हिंदी का रीतिकाल भारतीय इतिहास की जिन प्रमुख विशिष्टताओं वाले युग में पल रहा था उसका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब हम रीति-ग्रंथों के साहित्यिक स्रोतों की ओर ध्यान देंगे, साथ ही रीति-मुक्त साहित्य के उन प्रेरणा स्रोतों पर भी प्रकाश डालेंगे जिनका सम्बन्ध हमारे साहित्य से है। भक्ति काल के कवियों की प्रवृत्तियों से हम परिचित हो चुके हैं। हम देख चुके हैं कि कोमल शब्दों में कोमल शृंगारिक भावों का प्रकाशन उन्होंने आरंभ कर दिया था और राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं का निरूपण जयदेव की कोमलकान्त पदावली की पद्धति पर करने की चेष्टा प्रायः सभी कृष्णभक्त कवि कर रहे थे। हिंदी-साहित्य का यह भक्तिकालीन रूप रीतिकालीन कवियों की विरासत थी, पर उत्तराधिकारियों ने इस थाती में से केवल थोड़ा अंश ही स्वीकार किया है और वह है लोक-प्रसिद्ध राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाएँ जिनका गुणगान कृष्णभक्त कवियों ने किया था। यदि और स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो रीतिकालीन कवियों ने भक्तिकालीन कवियों की मूल्यवान साहित्यिक संपत्ति में से केवल नारी-पुरुष-प्रेम की विभिन्न अवस्थाओं एवं अंगों-उपांगों को, जो पूर्ववर्ती युग में राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्ण प्रेम के रूप में विशुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर चित्रित किया गया था, ग्रहण किया। अतः हिंदी का भक्ति-

कालीन साहित्य रीतिकालीन साहित्य का प्रथम स्रोत माना जा सकता है। इसी ने इसे विषय-सामग्री प्रदान की थी। इस साहित्य को शैली अथवा कभी-कभी विषय-सामग्री प्रदान करने में संस्कृत साहित्य का भी बहुत अधिक हाथ है। संस्कृत साहित्य में जब मौलिक कवियों का अभाव आ गया और गुप्तों के बाद इस साहित्य को कोई महत्त्वपूर्ण राज्याश्रय नहीं प्रदान हुआ तो संस्कृत के कवियों ने साहित्यिक पुरोहिती या पाधागिरी स्वीकार करते हुए काव्य न लिखकर काव्य शास्त्र पर तुकबंदी करना आरंभ कर दिया। जिस प्रकार हर धर्माचार्य अपने नाम से कोई मत चला देने के लिए व्यस्त रहा करता है उसी प्रकार इन साहित्यिक आचार्यों को भी एक पृथक् संप्रदाय खड़ा करने की धुन लगी हुई थी। फलतः सातवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच संस्कृत-साहित्य में काव्य-शास्त्र-निरूपण की एक ऐसी सशक्त धारा प्रवाहित रही जो ललित संस्कृत साहित्य की अपेक्षा, हमारे रीतिकालीन कवियों के लिए अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध हुई। भामह का अलंकार संप्रदाय, वामन का रीति संप्रदाय, भट्टलोल्लर, शंकुक, भट्टनायक आदि का रस संप्रदाय तथा आनंदवर्द्धन का ध्वनि संप्रदाय सातवीं से ९वीं शताब्दी के बीच स्थापित हो चुका था और आगामी दो सौ वर्षों में ध्वनि संप्रदाय के समर्थक अभिनव गुप्त तथा मम्मटाचार्य, वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रथम एवं अंतिम आचार्य कुंतल (कुंतक) तथा अन्यान्य आचार्यों का उदय भी हो चुका रहता है, जिन्होंने काव्यशास्त्र पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना करके परवर्ती आचार्यों को बाल की खाल खींचने का अवसर प्रदान कर दिया था और तब १२वीं से १७वीं शताब्दी तक का युग, जिसे काव्य शास्त्र का शास्त्रीय युग कहते हैं, आता है जिसमें आचार्यों की बाढ़ आ जाती है जो लक्षण-ग्रंथों की रचना में और काव्य शास्त्रों के अंगों-उपांगों के निरूपण में भगीरथ प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार छंदःशास्त्र के क्षेत्र में भी आचार्य पिंगल की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए कालिदास (महाकवि से भिन्न) क्षेमेन्द्र, हेमचन्द्र, दामोदर मिश्र, केदार भट्ट आदि ने अनेक ग्रंथों की रचना की थी।

संस्कृत में कुछ स्त्रोत्र ग्रंथ लिखे गए थे जिनमें शृंगारिकता की प्रधानता थी। उपनिषद् नामधारी भी कुछ शृंगारिक सांप्रदायिक रचनाएँ हुई थीं, जिनसे रीति-कालीन कवियों को शृंगार एक धरोहर के रूप में प्राप्त होता है। इसी संदर्भ में संस्कृत के सप्तशती साहित्य का भी उल्लेख किया जा सकता है जो हिंदी के रीति-कालीन कवियों का प्रेरणा-स्रोत बनता है। उधर संस्कृत में कामशास्त्र पर जो ग्रंथ या टीकाएँ लिखी गई थीं वे तो प्रभावोत्पादक हुई ही, जयदेव, विद्यापति की रचनाएँ भी कम प्रेरणास्पद नहीं सिद्ध हुईं।

यह तो हुई संस्कृत साहित्य की बात जिसने हमारे रीतिकालीन कवियों को सर्वाधिक प्रभावित किया था। पर केवल यही और इतना ही हमारे शृंगारी कवियों

के लिए पर्याप्त न था। इसके इतर भी भाषा-साहित्य उनका प्रेरणा-स्रोत बनता है। यह हम उन्हीं स्रोतों का संकेत करेंगे।

संतों के जो संप्रदाय भक्ति-युग में या उसके ठीक बाद खड़े हो चुके थे वे क्रमश: पौराणिक सगुणोपासना से प्रभावित होते गए और समाधि-स्थल-पूजा, पोथी-पूजा, चित्र-पूजा से होते हुये विशुद्ध मूर्ति-पूजा को अपनाते जा रहे थे। फलत: संप्रदाय के कुछ गायकों के भावों में भी कुछ रसिकता का पुट आता जा रहा था। शैली भी लालित्यपूर्ण होती जा रही थी। यद्यपि अधिकांश कवि दोहा छंदों का ही प्रयोग करते रहे, पर कुछ की रुचि कवित्त-सवैया की ओर भी झुकती जा रही थी। सुंदरदास का नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। प्रेमाख्यान काव्य-परंपरा भी सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण तक जाते-जाते अलंकारिता के मोह में फँसी दिखाई पड़ती है। कृष्ण-काव्य-परंपरा तो कलात्मकता को अपना एकमात्र संबल बना चुकी थी। भक्ति-भाव अब केवल शृंगारिक भावों के उद्दीपन का बहाना मात्र बनकर रह गया था। यदि राधा-कृष्ण शब्द को इस साहित्य से निकाल दिया जाय तो परवर्ती कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाएं विशुद्ध शृंगारिक एवं कलात्मक कविताओं की श्रेणी में रक्खी जा सकती हैं। हितहरिवंश, ध्रुवदास, छत्रसाल आदि की कृष्ण-संबंधी कविताएं घोर शृंगारिकता का परिचय देती हैं। राम काव्य भी मधुरोपासना की ओर देखा-देखी उन्मुख हो चुका था। यहाँ यह भी कह देना अनिवार्य है कि कृष्ण तथा राम-भक्ति शाखा के कवियों में जो घोर शृंगारिकता का उत्तरोत्तर प्रचार होता जा रहा था उसके पीछे केवल युग की सामान्य सामाजिक प्रवृत्ति का ही हाथ न था प्रत्युत कुछ ऐसे संस्कृत ग्रंथों को भी इसका प्रेरणा-स्रोत कहा जा सकता है, जिनमें राधा-कृष्ण तथा सीता-राम का शृंगारिक रूप बड़ी रोचकता के साथ चित्रित किया गया था। इन्हीं संस्कृत ग्रंथों से शैली एवं कहीं-कहीं भाव लेकर तथा अपने नवोदित संप्रदाय के सिद्धांतों को महत्त्व देते हुए कुछ कवियों ने राधा-कृष्ण को घोर शृंगारिक रूप प्रदान किया था। निम्नलिखित उद्धरणों से वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण हो जाएगा।

'विपिन घन कुंज रति केलि भुज मेलि रुचि,
स्याम स्यामा मिले सरद की जामिनी।
हृदय अति फूल, रसमूल प्रिय नागरी,
कर निकर मत्त मनु विविध गुन रागिनी॥
सरस गति परिहास, आवेस बस,
दलित दल मदन बल कोक रस जामिनी।
हितहरिवंस सुनि लाल लावन्य मिदे,
प्रिया अति सूर सुख-सुरत संग्रामिनी॥'

—हितहरिवंश (सोलहवीं शती)

'नवल किशोर नवल नागरिया ।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर स्याम भुजा अपने उर धरिया ।।
करत विनोद तरनि-तनया तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया ।
यों लपटाइ रहे उर अन्तर मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया ।।'
—सूरदास मदनमोहन (समय वही)

अभिप्राय यह कि आने वाली पीढ़ी को पूर्ववर्ती साहित्य ने ही विषय-वस्तु तथा शैली दोनों का रूप निर्धारित कर दिया था और हम देखते हैं कि आगामी दो सौ वर्षों का साहित्य इसी अनुबंध में बँध कर चलता है ।

पर जहाँ भक्तिकालीन श्रृंगारी कविताएँ प्रभावोत्पादक सिद्ध होती हैं, वहीं आलोच्य युग में वीर-गाथा कालीन काव्य-परंपरा के भी दर्शन होते हैं । किसी भी युग में पूर्ववर्ती युग की किसी प्रवृत्ति का उसी प्रकार पूर्णरूपेण लोप नहीं हो जाता है, जैसे किसी विगत सामाजिक या धार्मिक परंपरा का आनेवाले युग में समूल अंत नहीं हो जाता । कारण स्पष्ट है । हर युग में कुछ रूढ़िवादी भी हुआ करते हैं, जिनकी रुचि परंपरित विधि-विधानों तथा मान्यताओं के अधिक निकट रहती है । यद्यपि भूषण के पहले हमें किसी उल्लेखनीय कवि का बोध नहीं है तथापि यह निश्चित है कि लोक-साहित्य में वीर-गाथा-काव्य की परंपरा चलती रही होगी, जिसने भूषण, मान कवि, लाल कवि, श्रीधर (मुरलीधर), सूदन, हरिकेश, जोधराज, चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि को वीर-काव्य-रचना की प्रेरणा दी होगी ।

रीति काव्य का वर्ण्य-विषय

विचाराधीन युग में जो साहित्य-सर्जन हुआ वह मुख्यतः दो प्रकार का है । प्रथम वह जिसमें काव्य शास्त्र के किसी अंग को वर्ण्य विषय बनाया गया है और इस प्रकार लक्षण-ग्रंथों की रचना की गई है । इसे **रीतिबद्ध** काव्य की संज्ञा दी गई है । दूसरी वह धारा है जिसमें लक्षण-ग्रंथों या काव्यशास्त्र संबंधी किसी अंग पर प्रकाश न डाल कर स्वतंत्र रूप से भक्ति, श्रृंगार या अन्य रसों से संबद्ध रचनाएँ की गई हैं । इसे **रीति-मुक्त** काव्य कहते हैं । प्रथम वर्ग के उल्लेखनीय कवि हैं आचार्य चिन्तामणि, मतिराम, कुलपति मिश्र, देव, भिखारीदास, बिहारी तथा द्वितीय वर्ग में घनानंद, रसखान, बोधा, ठाकुर, आलम आदि का नाम आदर के साथ लिया जा सकता है । रीतिमुक्त कवियों के भी कई वर्ग हैं । **प्रथम** वर्ग उन कवियों का है, जिन्होंने रीतिबद्ध कविता न करके केवल प्रेम-काव्य को ही अपनाया है । रसखान, घनानंद, आलम, बोधा, ठाकुर आदि इसी वर्ग के कवि हैं । **द्वितीय** वर्ग उन कवियों का है जिन्होंने मुक्तक प्रेम काव्य की रचना न करके कथा-काव्य लिखा है । लाल कवि, सूदन, जोधराज, चंद्रशेखर, सरयूराम, हर-

नारायण, गोकुलनाथ, मधुसूदनदास आदि को इसी श्रेणी में रक्खा जाता है। **तृतीय** वर्ग में वे कवि आते हैं, जिन्होंने दान-लीला, मान-लीला, जल-बिहार आदि पर खंड काव्यों की रचना की है। साहित्यिक दृष्टि से इनका काव्य उच्चकोटि का नहीं है। कुछ ऐसे कवियों का एक **चौथा** वर्ग भी है, जिन्होंने नीति के फुटकल पदों की रचना की है। वृंद, गिरधर कविराय, घाघ और बैताल इस वर्ग के उल्लेखनीय कवि हैं। **पाँचवाँ** वर्ग उन कवियों का है, जिन्होंने भक्ति, विनय और उपदेश के पदों की रचना की है। इनमें कुछ संत-परंपरा के निर्गुणोपासक हैं और कुछ सगुणोपासक। जगजीवनदास, यारी साहब, दरिया साहब, पलटू साहब आदि निर्गुणोपासक, केशव (राजकवि) हंस कवि, जन कुंज आदि प्रेमाख्यान काव्य-प्रणेता तथा ध्रुवदास, नागरीदास, चाचा हित वृंदावनदास, अलबेली अलि, भगवत रसिक, हठी जी, गुरु गोविंदसिंह, रामप्रिया शरण, जानकी रसिक शरण, रसिक अली, मधुसूदनदास, ललकदास आदि सगुणोपासक कवि थे। इनके अतिरिक्त वीरकाव्य प्रणेताओं का एक **छठा** वर्ग था जो जगनिक, चंदवरदाई, नरपति नाल्ह आदि की परंपरा को आगे बढ़ा रहा था। भूषण, लाल, सूदन, पद्माकर आदि इसी वर्ग के उल्लेखनीय कवि थे। इस प्रकार यह द्रष्टव्य है कि रीतिकालीन कवियों के प्रिय विषय थे—(१) काव्य-शास्त्र के कुछ अंग विशेष (मुख्यतः पिंगल तथा अलंकारों के लक्षण-ग्रंथ) का प्रणयन श्रृंगार, प्रेम, पौराणिक उपाख्यान, भक्ति, नीति, विनय, उपदेश का उपस्थापन तथा आश्रयदाताओं का गुणगान, जिसमें रणवीरता एवं दान-वीरता का चित्रण किया जाता था। पर सर्वोपरि था श्रृंगार एवं प्रेम। वर्ण्य विषय की दृष्टि से रीतिकालीन काव्य श्रृंगार और प्रेम की प्रधान प्रवृत्तियों से ओतप्रोत है। यहाँ कोई कवि लक्षण-ग्रंथ लिखे, भक्तिभाव संबंधी पद की रचना करे या फिर नीति या विनय के पद गाए, श्रृंगार और प्रेम की अंतर्धारा किसी-न-किसी रूप में स्पंदित हो ही जाती थी और यह श्रृंगार एवं प्रेम भी मांसल है। राधा-कृष्ण के नखशिख-वर्णन एवं सम्मिलन में अलौकिकता के लोप का तो प्रश्न ही नहीं घोर अतिलौकिकता एवं उच्छृंखलता के दर्शन होते हैं। वास्तव में राधा-कृष्ण नाम विलासी राजे-महाराजे, और दरबारी लोगों की आभ्यंतरिक विलासिता एवं काम-क्रीड़ा-संबंधी प्रवृत्ति के विकास का एक सुंदरतम आधार था, जिस पर कामशास्त्र के सारे विधि-विधान ढाले जा सकते थे। भिखारीदास तथा द्विजदेव ने ठीक ही कहा है,—

आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई,
न तु राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानौ है।

—भिखारीदास

रसिक रीझि हैं जानि तौ ह्वै है कविताई सफल,
न तरु सदा सुखदानि, श्री राधिका-हरि को सुजस है।
—द्विजदेव

रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्तियाँ

रीतिकालीन काव्य में हमें मुख्यतः निम्नलिखित सामान्य प्रवृत्तियों के दर्शन

१. लक्षण-ग्रंथों का निर्माण,
२. कलात्मकता के प्रति आग्रह,
३. लौकिक शृंगार की व्यंजना,
४. प्रकृति का केवल उद्दीपन-रूप में चित्रण,
५. अन्ततोगत्वा विरक्ति की भावना,
६. वीरकाव्य का कुछ कवियों द्वारा प्रणयन।
७. मुक्तक काव्य-रचना तथा
८. मौलिकता का अभाव।

लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण—कवि-कर्म, विचाराधीन युग में 'अर्थकरी च विद्या' या 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे....' वाले सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने में सफल सिद्ध हो रहा था और उधर राजा-महाराजाओं के मनोरंजन का साधन बनता जा रहा था। फलतः कवि बनने का वैसा ही झोंका इस युग में शुरू हुआ था, जैसा पूर्व मध्ययुग या मध्ययुग में सर मुड़ाकर साधु बन जाने का। पर कवि बनने के लिए छंदों, अलंकारों आदि का ज्ञान आवश्यक था, काव्यशास्त्र की कुछ स्थूल बातों से परिचित होना अनिवार्य था। उधर छंद और तुक मिलानेवाले मर्मज्ञ भी इस आवश्यकता का अनुभव कर रहे थे। उन्हें अधिक परिश्रम भी नहीं करना था। मम्मट का 'काव्यप्रकाश' जयदेव का 'चंद्रालोक' तथा विश्वनाथ का 'साहित्य-दर्पण' आदि हिंदी के कवियों के लिए पथ-प्रदर्शक थे। बस इसी लकीर का फकीर बन कर रीतिकालीन कवियों ने आचार्यत्व का चोंगा पहना। मौलिकता का कोई प्रश्न नहीं और न काव्यशास्त्र के संपूर्ण अंगों के विवेचन की आवश्यकता। इन्हें तो केवल अलंकारों, रसों और छंदों का उदाहरण-मात्र प्रस्तुत करना था। आशय यह कि काव्यशास्त्र को विषय बनाकर भी उसका शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत न करके तथाकथित आचार्य केवल लक्षण ग्रंथ का प्रणयन करते रह गए या और अधिक उपयुक्त शब्दों में यह कहें कि संस्कृत ग्रंथों का भावानुवाद भर प्रस्तुत करते रहे।

कलात्मकता के प्रति आग्रह—कृत्रिमता और सजावट इस युग की अपनी विशेषता थी। समाज के उच्च एवं मध्यवर्ग में, जिसमें शिक्षा का प्रचार था, विलासिता एवं

कृत्रिमता का साम्राज्य था। स्वभावतः कवि भी रस से हटकर कला की ओर मुड़ पड़ता है। फलतः भावपक्ष गौण हो जाता है और कलापक्ष प्रधान। कलापक्ष में भी अलंकारों की ओर लोगों का ध्यान अधिक आकृष्ट हुआ था, क्योंकि शब्दालंकार श्रवणमात्र से ही काव्य में ध्वन्यात्मकता ला देते थे और अर्थालंकार गुण ग्राहकों को प्रभावित कर सकते थे। इधर भाषा की बनावट की ओर ध्यान दिया गया। ब्रज और अवधी दोनों को अपनाया गया था पर प्रधानता ब्रज भाषा की थी। शब्दों की तोड़-मरोड़ भी की गई गई, व्याकरण की उपेक्षा भी हुई, रक्षा हुई केवल अलंकारों की।

लौकिक शृंगार की व्यंजना—शृंगार हिंदी-साहित्य के आदि काल से ही महत्त्व पाता चला आ रहा था, भक्तिकाल में भी इसे उचित महत्त्व प्रदान किया गया था, क्योंकि प्रेम और शृंगार ये मानव-स्वभाव के आंतरिक एवं बाह्य रूप हैं, एक ही मुद्रा के मुख एवं पृष्ठभाग हैं। पर जहाँ पूर्ववर्ती शृंगार एवं प्रेम या तो अलौकिक था या यदि लौकिक था तो पूर्णतया मर्यादित एवं सूक्ष्म, वहाँ रीतिकालीन प्रेम तथा शृंगार पूर्णतया अति लौकिक एवं स्थूल था।

यहो इस ओर भी संकेत कर देना आवश्यक है कि जहाँ रीतिबद्ध कवि शृंगार की अमौलिक तथा अमर्यादित उद्भावना में व्यस्त थे, वहीं इस युग के रीतिमुक्त कवि प्रेम को एक शाश्वत एवं महान् मानवी गुण मानते हुए इसकी तन्मयता, एकनिष्ठता आदि का मार्मिक चित्रण कर रहे थे। जहाँ प्रथम कोटि के कवियों का प्रेम-निरूपण एक स्वाँग और विलासी वृत्ति के लिए मॉर्फिया का इंजेक्शन था, वहाँ इन सहृदय रीतिमुक्त कवियों का प्रेम कबीर एवं जायसी की प्रेम-पीर एवं गुरुत्व की आभा लिए था। अंतर यह था कि वहाँ आध्यात्मिकता का संबल था तो यहाँ विशुद्ध लौकिकता थी। इनके प्रेम की मर्यादा थी—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
तँह साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निस्संक नहीं॥
घनआनन्द प्यारे सुजान सुनौ, इत एक ते दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

घनानंद ने यहाँ चतुरता, कुटिलता, वक्रता, अविश्वास, दाँव-पेंच आदि को प्रेम के लिए अग्राह्य बताते हुए सरलता, आस्था, विश्वास, सत्यता, निष्कपटता आदि से इस प्रेम-मार्ग को परिपूर्ण सूचित किया है। वैसे इस सरल मार्ग पर इसी सरलता के कारण चल सकना कितना कठिन है, यह सभी जानते हैं। कवि बोधा ने इसी ओर लक्ष्य करके कहा था—

अति दीन मृनाल की तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुइ-बेह कैं द्वार सकै न तहाँ, परतीति को टाँड़ो लदावनो है॥

कवि बोधा अनीघनि नेजहु तें, चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा, तरवारि की धार पै धावनो है ॥

इस वर्ग पक्ष के कवियों ने स्वभावतः प्रेम के वियोग-पक्ष का चित्रण ही अधिक किया है।

प्रकृति का केवल उद्दीपन रूप में चित्रण—रीतिकालीन कवियों ने प्रकृति का आलंबन रूप में बहुत कम चित्रण किया है। अधिकांशतः नायक-नायिका के उद्दीपन रूप में ही प्रकृति का चित्रण किया गया है। बारहमासे तथा षट्ऋतु-वर्णन के रूप में ही यह चित्रण उपलब्ध होता है।

विरक्ति की भावना—प्रायः सभी कवियों को हम अंत में विरक्ति की भावना की ओर उन्मुख होते पाते हैं। संभवतः अतिराग से विराग की इस प्रवृत्ति का सर्जन होता रहा। भक्ति-कालीन साहित्य का भी कुछ प्रभाव इस क्षेत्र में माना जा सकता है।

वीर काव्य का प्रणयन—इस युग में कुछ अनेक ऐसे कवि भी हुए हैं जिन्हें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति ने हिन्दुत्व की भावना के प्रसार एवं प्रचार के लिए प्रेरित किया और तब उन्होंने अपने आश्रयदाता हिंदू राजाओं को—सिक्खों, मराठों तथा राजपूतों को, जो मुगलों के विरुद्ध विद्रोह एवं युद्ध कर रहे थे, अपनी वीररसपूर्ण रचनाओं से प्रोत्साहित किया। पर यह प्रवृत्ति हम केवल पूर्व-लिखित कुछ कवियों में ही पाते हैं।

मुक्तक काव्य रचना—इस युग का साहित्य मुख्यतः मुक्तक-प्रधान है। इसके तीन प्रमुख कारण हैं। प्रथम उल्लेखनीय कारण तो यह है कि यह काव्य राज्याश्रय में पल रहा था और श्रोता राजाओं एवं दरबारियों के पास इतना अवकाश न था कि वे प्रबन्ध काव्य सुनते। दूसरा कारण था मुक्तक शैली की तात्कालिक प्रभावोत्पादकता और तीसरा कारण था—विषय सामग्री। रीति-कालीन कवियों ने शृंगार एवं प्रेम को अपना विषय चुना था, जिसका निरूपण मुक्तक-शैली में ही सफलतापूर्वक हो सकता था। यदि ये जीवन के सर्वांगीण अध्ययन में रुचि लेते तो इन्हें निश्चित रूप से मुक्तक से इतर प्रबन्ध काव्य को अपनाना पड़ा होता। दो एक कवियों ने, जिन्होंने कुछ चरित काव्यों की रचना की थी, प्रबंधात्मकता का सहारा लिया है। इसी संदर्भ में यह भी उल्लेख्य है कि कवित्त, सवैया, बरवै, कुंडलियाँ, दोहा, छप्पय आदि छन्द ही इस युग के कवियों को विशेष रूप से आकृष्ट कर सके हैं। इनमें बड़े छन्द तो गीतात्मकता की दृष्टि से चुने गए थे या फिर ध्वन्यात्मकता के लिए और दोहा जैसे छोटे छंद गागर में सागर भरने के लिए।

मौलिकता का अभाव—रीतिबद्ध कवियों की प्रवृत्ति कभी भी मौलिकता की ओर उन्मुख नहीं हुई थी। वे तो केवल अपनी भाषा में पुराने भावों को किसी विशेष

छंद या अलंकार का उदाहरण देने के अभिप्राय से छंदोबद्ध का देते रहे। पर रीति-युक्त कवि इस प्रवृत्ति के अपवाद-स्वरूप हो सकते हैं। मौलिकता से दूर रहनेवाले और केवल तुकबंदी करने वाले कवियों को लक्ष्य करके ही ठाकुर कवि ने कहा था—

सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमलनैन,
सीखि लीनो जस औ प्रताप की कहानी है।
सीखि लीनो कल्प-वृक्ष कामधेनु-चिन्तामनि,
सीखि लीनो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है॥
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानी है।
ठेल सो बनाय आप मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानी है॥

इनके पूर्व सुन्दरदास ने भी कोरी तुकबन्दी और कृत्रिम कविता करनेवालों को चेतावनी देते हुए कहा था—

बोलियो तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिये तौ तब जब जोरिबे की रीति जानें,
तुक छन्द अरथ अनूप जामें लहिए॥
गाइए तौ तब जब गाइबे को कंठ होय,
श्रवण के सुनत ही मन जाइ गहिए।
तुकभंग छंदभंग अरथ मिलै न कछू,
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए॥

पर ये सारे व्यंग्य केवल उन तुकबन्दी करनेवालों के लिए थे, जो काव्य को एक कलाबाजी समझ रहे थे। विचाराधीन युग में कुछ ऐसे भी कवि हुए, जिनमें पर्याप्त मौलिकता थी और जो काव्य के शरीर की अपेक्षा काव्य की आत्मा को सँवारने की ओर अधिक ध्यान देते थे। अधिकतर रीति-मुक्त कवियों में हम मौलिकता के ही दर्शन पाते हैं। जहाँ रीतिबद्ध कवि प्रेम के शास्त्रोक्ति मार्ग नायिका का मान, परकीया, स्वकीया के प्रेमाख्यान, वाक्चातुरी, वक्रता आदि तक ही बँधे रह गए थे, वहाँ रीति-मुक्त कवि प्रेम के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर उसे हृदय की वस्तु समझकर प्रेम के संवेगों एवं प्रेम व्यापार की वास्तविक परिस्थितियों का स्वाभाविक चित्रण करते रहे।

———

अध्याय ४

आधुनिक काल

(संवत् १६०० से आज तक)

सांस्कृतिक पर्यावरण

रीतिकाल के पश्चात् हिंदी-साहित्य में आधुनिक काल का संघटन होता है। जिस प्रकार भारतीय इतिहास में मुगल-काल के पश्चात् आधुनिक काल आता है, लगभग उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी। पर रीतिकालीन प्रवृत्तियों की अवधि आधुनिक युग के प्रारंभिक चरणों में बहुत दूर तक अतिक्रमण करती हुई चली आती है और जैसा कि हम आगे देखेंगे, रीतिकालीन शैली एवं भाषा का ऐसा दबदबा जम चुका था कि किसी को शीघ्र ही विश्वास नहीं हो पाता था कि ब्रजभाषा को छोड़कर तथा सवैया, घनाक्षरी, दोहा आदि रीतिकालीन प्रिय छन्दों को छोड़कर किसी भी दूसरे छंद में कविता की जा सकती है। पर यह विश्वास टूटा। खड़ीबोली ने ब्रजभाषा का स्थान लिया और छन्दों की तो यह स्थिति हो गई कि एक ओर लयात्मक छन्दों के अनेक नये-नये प्रयोग किये गए तो दूसरी ओर मुक्त तथा स्वछंद छन्द का प्रवर्तन हुआ। शैली के इस क्रान्तिकारी परिवर्तन की भाँति भावों या विषय-सामग्री के क्षेत्र में भी आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ। पर यह परिवर्तन आकस्मिक न था। इसके पीछे अनेक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों, घटनाओं, परिस्थितियों आदि का हाथ था। यहाँ हम सर्वप्रथम इन्हीं परिस्थितियों एवं अवस्थाओं का अध्ययन करेंगे। अध्ययन निम्न-लिखित शीर्षकों में विभक्त होगा—

१. राजनीतिक अवस्था,
२. सामाजिक अवस्था,
३. आर्थिक अवस्था,
४. धार्मिक अवस्था तथा
५. साहित्यिक एवं शैक्षणिक प्रगति।

राजनीतिक अवस्था

रीतिकालीन राजनीतिक परिस्थिति, जिसे हम सामन्तशाही की उपयुक्त संज्ञा दे सकते हैं, विदेशियों के आगमन से ही विशृंखलता की ओर मुड़ जाती है। मुगल

सम्राटों के दुर्बल शासन-काल में जागीरदारों तथा स्थानीय राजाओं ने निर्द्वन्द्व एवं निरंकुश शासन किया था। न तो उन्हें किसी प्रबल शक्ति से आक्रमण का भय था और न वे स्वयं किसी को भयभीत करने की शक्ति रखते थे। तब कई विदेशी कंपनियाँ भारत में व्यापार की दृष्टि से आती हैं और यहाँ की विशृंखल एवं दुर्बल राजनीतिक परिस्थिति से लाभ उठाने के लोभ में परस्पर संघर्ष-रत होती हैं। देशी नरेशों को ये कंपनियाँ, जिनमें अँगरेजी तथा फ्रांसीसी कंपनियाँ उल्लेखनीय हैं, स्वार्थों की सिद्धि के लिए भेद-नीति से प्रभावित करती रहीं। अंततोगत्वा अँगरेजों की संप्रभुता स्थापित हो जाती है। अँगरेजी कंपनी व्यवसाय के स्थान पर शासन-सूत्र अपने हाथों में ले लेती है।

पर इस विदेशी शासन की शोषण-नीति से देश के कुछ जागरूक व्यक्तियों में क्षोभ उत्पन्न हुआ। फलतः १८५७ ई० का प्रथम राष्ट्रीय संग्राम छिड़ा, जिसके नेता थे नानासाहब, मौलवी अहमदशाह, अजीमुल्ला, ताँत्या टोपे, झाँसी की रानी लक्ष्मी-बाई, कुँवरसिंह इत्यादि। देश के अधिकांश भागों में अत्याचारी अँग्रेजी शासन के विरुद्ध युद्ध छिड़ गया, पर कुछ देशद्रोहियों के विश्वासघात, अंग्रेजों की सैनिक शक्ति तथा अनियोजित विद्रोह के कारण यह प्रथम स्वतन्त्रता-संग्राम असफल सिद्ध हुआ और तब ब्रिटेन की शासिका महारानी विक्टोरिया ने कम्पनी के हाथ से शासन छीन लिया। अब ब्रिटेन की सरकार के हाथों में भारत का शासन गया। विक्टोरिया ने अपने घोषणा-पत्र में लम्बे-लम्बे वादे किए, चमत्कारिक आश्वासन दिए। पर टोपी बदल देने से खोपड़ी नहीं बदलती। विदेशी अंशतः विदेशी ही रहे और उनकी शोषण नीति में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आई। हाँ, शोषण विधि अवश्य परिवर्तित हो गई। जब अँग्रेजों ने यह देख लिया कि इस विशाल देश को शक्ति द्वारा दबा कर ही शासन कर लेना सम्भव नहीं है, तब उन्होंने भारत में अँग्रेजियत का प्रचार करना आरम्भ किया। भारत में अँग्रेजी-शिक्षा के संस्थापक मैकाले महोदय ने अपने प्रभुओं की मर्यादा, प्रतिष्ठा, श्रेष्ठता आदि का प्रचार करने तथा अँग्रेजी शासन को सुचारु रूप से संचालित करने के अभिप्राय से ही भारत में अँग्रेजी शिक्षा की नींव डाली थी। उधर प्रशासकीय सुविधाओं के लिए यातायात एवं संदेश-वाहन के साधनों में सरकार की ओर से विकास किया जा रहा था। अब तक देश के विशाल भाग को परस्पर रेल एवं डाक विभाग से जोड़ दिया गया था। शासन-प्रबन्ध में भी नई-नई व्यवस्थाएँ की गईं। अँग्रेजी के प्रचार तथा पूर्वकथित रेल-तार आदि के आविष्कार से अँग्रेजों को अपना शासन सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित कर लेने का पर्याप्त अवसर प्राप्त हो गया।

इस शासन के प्रति दो प्रकार का भारतीय दृष्टिकोण था। मुगलकालीन पगड़ी-फरोश राजा-नवाबों के वंशज जिन्हें अब तक ताल्लुकेदार बना दिया गया था या जो

नामधारी राजा भर रह गए थे, अपने गोरे प्रभुओं की उपासना 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' कहकर कर रहे थे और अब उन्हें विश्व की सर्वश्रेष्ठ सर्वशक्ति-सम्पन्न जाति समझ रहे थे। अशिक्षित प्रजा भी अपने प्रत्यक्ष स्वामी उपर्युक्त ताल्लुकेदारों, जमींदारों या राजाओं की भाँति अँग्रेजों को हौवा समझ रही थी। स्थिति यह थी कि कलक्टरी का एक चपरासी बीसों ग्रामीणों को एक रस्सी में बाँधकर मारता-पीटता ले जा सकता था और कोई विरोध में आवाज तक नहीं उठा सकता था। इस अँग्रेज प्रभुभक्त-वर्ग के अतिरिक्त दूसरा वर्ग उन शिक्षित व्यक्तियों का था, जो देशभक्त थे और जिन्हें पराधीनता मात्र से चिढ़ थी, वह चाहे अँग्रेजों की हो या फ्रांसीसियों की। पर कुछ शिक्षित ऐसे भी थे जिन्हें अँग्रेजी शिक्षा से केवल अँग्रेजियत प्राप्त हो सकी थी और जो सरकारी ओहदों के लालच में पड़े हुए थे या उच्च राजकीय पदों पर आसीन थे। इस वर्गवाले दिल और दिमाग दोनों से अंग्रेजों के रंग में रँगे हुए थे।

राष्ट्रीय नवचेतना का उदय—कुछ जागरूक साहित्यकारों ने नवप्रकाशित पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार आरम्भ कर दिया। इस युग के प्रथम उल्लेखनीय साहित्य-निर्माता भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द ने तो विदेशियों के बहिष्कार के निमित्त अनेक रचनाएँ की थीं। उनका एक पद उदाहरणीय है, जिसमें वे भारतवासियों की दुर्बलता का चित्र खींचते हुए कहते हैं—

सीखत कोउ न कला उदर भरि जीवत केवल।
पसु समान सब अन्न खात पीवत गंगाजल।
धन विदेस चलि जात तऊ जिय होत न चंचल।
जड़ समान है रहत अकलहत रचि न सकत कल।
जीवत विदेश की वस्तु लै ता बिन कछु नहिं करि सकत।
जागो-जागो अब साँवरे सब कोउ रुख तुमरो तकत॥

भारतेंदु मण्डली तथा भारतेंदु बाबू से प्रभावित अनेक कवियों की रचनाओं में हमें इस राष्ट्रीय नवजागरण के महामंत्र मिलते हैं। श्री विनायक एवं श्री नाथूराम शंकर शर्मा, श्री बालमुकुंद गुप्त, महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, लाला भगवान-दीन तथा अन्यान्य कवियों ने निर्भीक होकर अंग्रेजी सभ्यता, अंग्रेजी शासन तथा अँग्रेजी प्रभाव की कटु निन्दा की तथा कुछ हिन्दी पत्रों में इन्हें प्रकाशित करवाया, जिससे राष्ट्रीय जागरण को बल मिला। कवियों के अतिरिक्त अनेक लेखकों ने भी अँग्रेजी शासन के विरुद्ध लेख लिखकर तथा राष्ट्रीय भावनाओं का प्रचार करके नव जागरण को प्रोत्साहित किया। अन्य भारतीय भाषाओं के लेखकों एवं कवियों ने भी लोगों को जगाया। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, प्रेमघन आदि ने हिन्दी प्रदेश में नवजागरण का बीजारोपण किया था।

साहित्यकारों को राजनीतिक संगठनों से भी प्रेरणा मिल रही थी। सन् १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् से देश में एक ऐसे संगठन की आवश्यकता की पूर्ति हो गई, जो राष्ट्रीय हितों की चिन्ता करता और देशवासियों में नवजागरण का मंत्र फूंकता। तिलक के प्रवेश के पश्चात् तो यह कार्य व्यापक एवं विस्तृत रूप में आरम्भ हो गया। सन् १९०५ के बंग-भंग अधिनियम ने पूर्वी भारत में क्रांतिकारी दलों की स्थापना तक को उकसाया। महर्षि अरविन्द, रासबिहारी बोस आदि के प्रयत्नों से अँग्रेजी तख्ता हिला देने तक की चेष्टाएँ होने लगीं। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुखदेव, राजगुरु, आदि ने अँग्रेजी तख्ता पलटा देने के लिए हिंसात्मक क्रांति तक की योजनाएँ बनाईं और कई विद्रोहात्मक कार्य किये। उधर अँग्रेजों का दमन-चक्र भी चलता रहा। कांग्रेस में नरम दलवाले गरम दलवालों से इसीलिए असंतुष्ट भी हो जाते थे कि वे अत्याचारों का उत्तर स्वयं अत्याचार करके देने की चेष्टा किया करते थे। महात्मा गाँधी के प्रवेश के पश्चात् नरम दलवालों की स्थिति काफी मजबूत हो गई। इन नेताओं का कार्य था गाँव-गाँव, द्वार-द्वार घूमकर सोई हुई जनता को जगाना और सरकार का काम था नेताओं को दबाना, उन्हें जेल भेजना। सन् १९२० से १९४१ के बीच छिटपुट आंदोलन एवं प्रदर्शन होते रहे, पर १९४२ में तो सरकार के अत्याचारों के प्रति सामूहिक आक्रोश उभड़ आया और देखते-देखते सम्पूर्ण भारत में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध सक्रिय कार्य आरम्भ हो गए। इस आंदोलनों ने इतना शक्तिशाली रूप धारण कर लिया कि अनेक जिलों या नगरों में शासन-सत्ता अस्तित्वहीन-सी हो गई। सरकार ने सन् १८५७ वाली दमन-नीति का अनुसरण किया पर अब तक देश इतना जग चुका था कि उसे दबाना असम्भव था। अंग्रेजों ने वर्षों पूर्व ही इस स्थिति का अनुमान लगा लिया था और तब उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम भेद-नीति का सूत्रपात किया। वे हिन्दू-मुस्लिम दंगों को प्रोत्साहित करते रहे, जिससे साम्प्रदायिकता की भयंकर आग से सारा वातावरण विषाक्त हो जाए। कई बार ऐसे दंगे हुए भी जिनमें सैकड़ों निरीह व्यक्तियों की जानें गईं और सन् '४२ के आंदोलन के चार वर्ष बाद इस भयंकर ढंग से सांप्रदायिकता की आग भारत में भड़की कि उसे बुझाने के लिए राष्ट्रपिता बापू को भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा। आशय यह कि अँग्रेजों की यह चाल सफल रही पर उन्हें देश से निकालने में हम भी सफल हुए और १५ अगस्त सन् १९४७ को हम स्वतन्त्र हो गए। हाँ, जाते-जाते भी अंग्रेजों ने देश के टुकड़े करा दिये। जिन्ना साहब पाकिस्तान लेकर अलग हो गए। शताब्दियों से भाई-भाई के रूप में रहनेवाले हिन्दू-मुसलमानों को अंग्रेजों ने ऐसा शत्रु बना कर छोड़ा कि वे बराबर संघर्ष करते रहें—और अधिक व्यापक एवं राजकीय स्तर पर।

स्वतन्त्रता-संग्राम के इन तीस-पैंतीस वर्षों में राजनीतिक नेताओं ने तो अपना

तन-मन-धन सब कुछ देश-जाति के लिए समर्पित कर ही दिया था, साहित्यकार ने भी राष्ट्रीय भावों के प्रचार को अपना प्रमुख कवि कर्म समझते थे। अनेक लोक-कवियों ने भी नवचेतना के गीत लिखे। इस बीच बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'बन्देमातरम्' के साथ-साथ अनेक राष्ट्रीय गीत, ध्वज-गान, प्रयाण गान आदि प्रचलित हो गए, जिनके रचयिताओं का हमें बोध नहीं। उस समय हर जुलूस और हर सभा इन्हीं जोशीले गीतों से गूंजती रहती थी। बंगाल के अनेक साहित्यकारों ने नवजागरण के लिए सचेष्ट प्रयत्न किए। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारा आधुनिक युग राजनीतिक दृष्टि से नव-जागरण का युग रहा। प्रारंभिक वर्षों में कुछ दबी हुई आवाज में अंग्रेजी सभ्यता की नकल का मजाक उड़ाया गया, फिर मध्यवर्ती स्थिति कुछ उग्रभावों को प्रोत्साहित करती है और उस समय हमारे लेखकों एवं कवियों का स्वर अंग्रेजों के विरुद्ध और अधिक तीखा हो जाता है, क्योंकि तब तक राजनीतिक नेताओं ने स्थिति काफी बदल दी थी। प्रारंभिक लेखक तथा कवि तो हमारे शांति-प्रिय नेताओं की भाँति ही ब्रिटिश सरकार से एक ओर समझौता करके चलना चाहते थे और दूसरी ओर भारतवासियों को जगाना चाहते थे। आशय यह कि विद्रोही नारा लगाने की उन्होंने कोई आवश्यकता नहीं समझी और यदि विद्रोह भी किया तो बड़ा मीठा। विशेषता यह है कि भारतेंदु बाबू के युगवालों ने और स्वयं भारतेंदु जी ने भी लोकभाषा तक में राष्ट्रीय भावना को उकसानेवाली कविताएँ लिखी हैं—

अंग्रेजों के हाथ में शासन-सत्ता दिलानेवाले गद्दार जयचन्दों को सम्बोधित करके भारतेंदु बाबू कहते हैं—

काहे तू चौका लगाये जयचँदवा।
अपने स्वारथ भूलि लुभाए, काहे चोटीकटवा बोलाये जयचँदवा।
अपने हाथ से अपने कुल कै, काहे ते जड़वा कटाये जयचँदवा।।
फूट कै फल सब भारत बोये, बैरी के राह खुलाये जयचँदवा।
औरो नासि तैं आपौ बिलाने, निज मुख कजरी पोताये जयचँदवा।।

कालान्तर में जब हमारे नेताओं से प्रभावित होकर ब्रिटिश सरकार ने हमें कुछ स्वतन्त्रता दे दी तो प्रेमघन जी ने ये भाव व्यक्त किए—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।

× × ×

अरुणोदय एकता दिवाकर प्राची दिशा दिखाती।
देखा नव उत्साह परम पावन प्रकाश फैलाती।।

× + ×

देशी बनी वस्तुओं का अनुराग पराग उड़ाता।
शुभ आशा सुगन्ध फैलाता मन मधुकर ललचाता॥
उन्नति पथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा लखाई।
खग 'बन्देमातरम्' मधुर ध्वनि पड़ने लगा सुनाई॥
उठो आर्य सन्तान सकल मिलि बस न विलम्ब लगाओ।
ब्रिटिश राज स्वातंत्र्यमय समय व्यर्थ न बैठ बिताओ॥

पर जब हमारे साहित्यकारों ने देख लिया कि ये अंग्रेज हमें भुलावा मात्र दे रहे हैं, तब उनकी आवाजें तीखी हो गई, उन्होंने वाणी से आग उगलना शुरू कर दिया और दूसरों को भी इसके लिए ललकारा—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए॥
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि त्राहि रव नभ में छाए।
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाए॥
बरसे आग जलद जल जाएँ, भस्मसात भूधर हो जाए।

नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक-टूक हो जाएँ।
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

अधिकांश विद्रोही कवियों ने स्ततन्त्रता-संग्राम में सक्रिय भाग भी लिया था।

स्वतन्त्रता के पश्चात् की राजनीतिक परिस्थिति विभिन्न प्रकार की राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से परिपूर्ण है। अनेक प्रकार की समस्याओं से नवोदित भारत संघ घिर जाता है। राष्ट्रपिता बापू की हत्या होती है जिससे सारा भारत काँप उठता है। जिसने हमें आजादी दिलाई उसी की हमने हत्या की।

स्वतन्त्रता के पश्चात् महत्त्वपूर्ण राजनीतिक समस्या थी देशी रियासतों का विलयन। ज्ञातव्य है कि इनमें से कुछ रियासतें न केवल बहुत अधिक समय से चली आ रही थीं, प्रत्युत इतनी शक्तिशाली थीं कि वे किसी भी नवोदित राज्य से कुछ दिनों तक लोहा ले सकती थीं। पर सरदार पटेल के अदम्य उत्साह के फलस्वरूप २१६ रियासतों ने सरलतापूर्वक विलयन स्वीकार कर लिया, कुछ अन्य बड़ी-बड़ी रियासतें भी भारत-संघ में सम्मिलित हो गई। शेष रहे हैदराबाद और कश्मीर। हैदराबाद भी शीघ्र ही आत्मसमर्पण करने को बाध्य हुआ और कश्मीर पर २२ अक्टूबर १९४७ ई० में पाकिस्तान ने आक्रमण कर दिया था। उद्देश्य था अपहरण। तभी कश्मीर ने भारत से एक समझौता किया, जिसके फलस्वरूप भारत ने उसकी सहायता की। कश्मीर स्वेच्छा से भारत का एक अंग बन चुका था, फिर भी उसके एक भाग पर

पाकिस्तान का अधिकार है, जिसे लेकर अभी कुछ दिन पूर्व तक भारत-पाक में पारस्परिक तनाव बना रहा है और ताशकंद समझौता से, दोनों देशों के संघर्षों का अन्त हुआ है। नहीं कहा जा सकता स्थायी या अस्थायी रूप से।

भारत ने राज्यों का पुनःसंगठन भी किया और प्रशासनीय व्यवस्थाओं में भी अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। इसका अपना नया संविधान भी बना।

सामाजिक अवस्था

आधुनिक भारत की सामाजिक संरचना में धार्मिक तथा आर्थिक तत्त्वों का मुख्यतः हाथ रहा है। प्राचीन भारतीय धर्म-संप्रदायों के आचार-विचार से प्रभावित हिन्दू समाज के अतिरिक्त एक ऐसा वर्ग भी हिन्दुओं का पाया जाता रहा जो आधुनिक युग के प्रथम दो दशकों में अपनी आचार-सहिष्णुता के कारण धार्मिक दृष्टि से कुछ हेय समझा जाता था, पर थे ये हिन्दू ही। इसी प्रकार छुआछूत की प्राचीन मान्यताओं के आधार पर भी छूत-अछूत का वर्गीकरण किया गया था। इन हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमान समाज भी कुछ वर्गों में बँटा था और कुछ विदेशियों की भी बस्ती देश में बस चुकी थी। यह तो हुआ धर्म के आधार पर भारतीय समाज का बँटवारा। आर्थिक दृष्टि से भी हमारा समाज कई वर्गों में बँटा था और आज भी बँटा है। ये वर्ग हैं—उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग तथा निम्न वर्ग। उच्च वर्ग में वे लक्ष्मीपति सम्मिलित हैं, जो या तो पुराने भूपतियों के वंशज हैं या फिर जिन्होंने अधिक धन-सम्पत्ति अर्जित कर ली है। हर प्रकार की सुख-सुविधाओं से यह वर्ग भरा पूरा है। जीवन के सभी प्रसाधन इन्हें उपलब्ध हैं। निम्न वर्ग में वे लोग सम्मिलित हैं, जो युग-युग से उपेक्षित एवं दलित हैं। इनमें से अधिकांशतः तथाकथित शूद्र कहे जाने वाले हैं। कुछ ऐसे लोग भी इस वर्ग में सम्मिलित हैं जो हैं तो तथाकथित उच्च वर्ण के, पर आर्थिक विपन्नता के कारण इस वर्ग में आ गए हैं। उपर्युक्त उच्च एवं निम्न वर्ग के बीच का वर्ग मध्यम वर्ग के नाम से पुकारा जाता है। आर्थिक स्थिति के आधार पर इस वर्ग के भी उपभेद किये जा सकते हैं—उच्च-मध्यम वर्ग तथा निम्न-मध्यम वर्ग। लक्ष्मीपतियों के बाद समाज के वे लोग जो उनका अनुकरण खान-पान, रहन-सहन आदि में किसी प्रकार कर पा रहे हैं और जो उच्च वेतनभोगी हैं अथवा जिनका कोई अपना मध्यम स्तर का व्यापार है, वे सब लोग उच्च-मध्यम वर्ग में सम्मिलित हैं। निम्न-मध्यम वर्ग में छोटी-छोटी तनखाहें पानेवाले बाबुओं की गणना की जा सकती है। समाज के इस वर्गीकरण के अतिरिक्त इनके प्रति दो प्रकार की दृष्टिकोण रखनेवाले लोगों के आधार पर भी हम वर्तमान समाज को दो वर्गों में बाँट सकते हैं। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरणों में तो स्पष्टतः दो प्रकार की विचारधारा के लोग दिखाई पड़ते थे—(१) रूढ़िवादी विचार-धारा के लोग तथा (२) प्रगतिशील विचारवाले। जहाँ प्रथम वर्ग प्राचीन परम्पराओं,

रूढ़ियों, आस्थाओं आदि को आँख मूँदकर स्वीकार कर लेना चाहता था वहाँ द्वितीय वर्ग इन्हें आडम्बर मान रहा था और इनकी अनावश्यकता घोषित करता रहा। अनेक सामाजिक एवं धार्मिक रीति-रिवाजों की खिल्ली उड़ानेवाला यह वर्ग नये जमाने की नई रोशनी से प्रभावित था। साक्षरता के आधार पर भी समाज को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—निरक्षर एवं साक्षर।

यह तो हुई सामाजिक वर्गीकरण की बात जिससे सामाजिक संरचना का कुछ आभास मिला है। अब हम १९ वीं शताब्दी के प्रारंभिक चरणों से लेकर आज तक की सामाजिक रूप-रेखा का संकेत करेंगे।

कृत्रिमता इस समाज की सबसे बड़ी विशेषता रही है। प्राचीन भारतीय सभ्यता ने जो मध्यकालीन जामा पहन लिया था उसे अंगरेजीयत की ओर मुड़ने में बहुत अधिक समय न लगा। खान-पान, पहनावा तथा रहन-सहन का अन्य विधियों में नवागत अंग्रेजी सभ्यता का अनुकरण किया जा रहा था। अंग्रेजी पढ़े लोगों को भारतीय पोशाक अप्रिय थी। देश के अनेक साहित्यकारों ने इस सांस्कृतिक अध:पतन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराया और उन पर व्यंग्य किए जो इस प्रकार अंग्रेजियत की नकल कर रहे थे।

'सभ्य बीवी की चिट्ठी' का एक अंश देखिए—

मम मुख 'पौडर' 'रोज' सों मानहु खिल्यो गुलाब।
तुम खड़ि माटी पोत कै, माथो कियो खराब॥
बावरची के हाथ हम, खांय सदा तर माल।
चूल्हा फूंकत तुम सदा, खाओ रोटी दाल॥"

—बालमुकुन्द गुप्त

अनेक सामाजिक कुरीतियों से एक ओर तो भारतीय समाज दुर्बल होता जा रहा था और दूसरी ओर अनेक शिक्षित भारतीय अपनी संस्कृति को हेय समझते जा रहे थे। दुर्भाग्यवश हमारी शिक्षा भी कुछ इस ढंग पर चलाई गई कि विदेशी सभ्यता के प्रति भारतीयों का मोह बढ़ता गया। यही कारण है कि अनेक कवियों तथा लेखकों ने अंग्रेजी सभ्यता की नकल करनेवालों की कटु आलोचनाएँ की हैं।

पर अंग्रेजी शासन ने हमारे कुछ समाज-सुधारकों की अपीलें सुनीं और सती प्रथा, बाल-विवाह आदि को रोकने की चेष्टाएँ कीं। राजा राममोहन राय के ब्रह्म-समाज ने पूर्वी भारत में समाज-उत्थान का बीड़ा उठाया और इसमें संदेह नहीं कि यह समाज नई सामाजिक क्रांति लायी। इसी प्रकार महाराष्ट्र में बाल शास्त्री जांमेकर तथा गोपाल हरि देशमुख ने सामाजिक नवजागरण को प्रोत्साहित किया। इसी प्रदेश में 'परमहंस समाज तथा प्रार्थना सभा' की स्थापना हुई, जिन्होंने अछूतोद्धार, स्त्री-शिक्षा,

विधवा-विवाह आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओं को सुलझाने में पर्याप्त सफलता प्राप्त की। स्वामी दयानन्द के आर्यसमाज द्वारा तो भारतीय समाज और हिन्दू धर्म का बहुत कल्याण हुआ। लगभग इसी समय बंगाल में रामकृष्ण मिशन की स्थापना हुई। स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा उनके शिष्य स्वामी विवेकानन्द के प्रयत्नों से हिन्दू जनता को अपना खोया गौरव और विश्वास प्राप्त हुआ। थियासोफिकल सोसाइटी की भारतीय शाखा ने भी भारतीय नवजागरण में सहयोग प्रदान किया। इन सभी संस्थाओं द्वारा भारत में समाज-कल्याण के जो कार्य किये गए, उन्होंने आधुनिक भारतीय समाज को जो उत्तर मध्यकाल से पतनोन्मुख हो चला था और जिसमें अनेक सामाजिक दुर्बलताएं घर कर चुकी थीं, एक नयी शक्ति प्रदान की, नया संबल दिया। इन्हीं सुधार-आंदोलनों ने हमारे साहित्यकारों को भी नये-नये विषय दिये और देखते-देखते सभी भारतीय भाषाओं में इन नवजागरणों से संबद्ध रचनाओं की बाढ़ आ गई। मुस्लिम नव-जागरण के लिए भी प्रयत्न किए गए। अलीगढ़ तथा सहारनपुर इसके प्रमुख केन्द्र बने थे। अस्तु,

सामाजिक कुरूपताओं के प्रति हमारे साहित्यकारों के आक्रोश के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं,—

"इतनो हू समझत नहीं, तऊ बनत हैं पूत।
जाको कहत अछूत हैं, वामैं कैसी छूत।।"

—हरिऔध

"सेल गई बरछी गई, गए तीर तलवार।
घड़ी - छड़ी चश्मे भए, छत्रिन के हथियार।।
जहाँ लरैं सुत बाप सँग, और भ्रात सो भ्रात।
तिनके मस्तक सौं हटै, कैसे पर की लात।।
अपने कछु उद्यम नहीं, तकत पराई आस।
अब या भारत भूमि में, सबै बरन है दास।।"

—बालमुकुन्द गुप्त

विवादी पड़े हैं यहाँ कैसे - कैसे,
कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे-कैसे।
बने पढ़ के गौरण्ड भाषा द्विजाती,
मूरीदाने पीरे-मुगा कैसे - कैसे।
बसो मूर्खते देवि, आर्यों के जी में,
तुम्हारे लिए हैं मकाँ कैसे - कैसे।

अनुद्योग आलस्य सन्तोष सेवा,
हमारे भी हैं मिहरबाँ कैसे - कैसे।
अभी देखिए क्या दशा देश की हो,
बदलता है रँग आसमाँ कैसे - कैसे।
हैं निर्गन्ध इस भारती बाटिका के,
गुलो लाल औ अरगवाँ कैसे - कैसे।
प्रताप अब तो होटल में निर्लज्जता के,
मजे लूटते हैं जबाँ कैसे - कैसे।

—प्रतापनारायण मिश्र

आर्थिक अवस्था

प्राचीन काल से ही भारत कृषि-प्रधान देश रहा है। मध्य-काल में कृषि के साथ-साथ कुटीर उद्योग-धंधों को भी व्यापक रूप में अपना लिया गया था और निस्संदेह इससे देश की आर्थिक दशा काफी सुधार पर आ गई थी। पर अंगरेजों के व्यापारी रूप में प्रवेश के साथ-साथ ही हमारा आर्थिक पतन आरंभ हो जाता है, क्योंकि औद्योगिक क्रांति का जो वरदान योरपवासियों को मिलता था, वह हमारे कुटीर-उद्योगों के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ। उधर कृषि की जो उपेक्षा परवर्ती मुगल सम्राटों के युग से चली आ रही थी, उसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन कंपनी के शासन-काल में नहीं हुआ। अनेक लार्डों को इसकी चिंता अवश्य रही पर उन्हें अपने शासन के सुदृढ़करण एवं अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार में इतना अधिक व्यस्त हो जाना पड़ता रहा कि केवल विचार-विमर्शों पर ही उन्हें संतोष कर लेना पड़ता था। कंपनी के बाद भी ताज के अधीन भारत को उसी उपेक्षा का अनुभव करना पड़ा, क्योंकि केवल जाँच आयोगों की रिपोर्टों तक इस शासन को भी संतोष करना पड़ता रहा। कृषि-विभाग अवश्य खुले, पर कोई ठोस लाभ बहुत दिनों तक नहीं हो सका था। दुर्भाग्यवश इसी बीच इतने भयंकर अकाल पड़े थे कि कई बार सड़कों पर लाशों की दुर्गंध से चलना असंभव हो गया था।

वाणिज्य-व्यवसाय की जो नीति अँग्रेजों ने अपनाई थी, उससे भारत की अपार सम्पत्ति विदेश चली गई। अँग्रेज हमसे कच्चा माल लेकर उसी से पक्का माल बना कर हमारे ही गले मढ़ते गए। इस आर्थिक विपन्नता का नग्न चित्र हमारे अनेक साहित्यकारों ने खींचा। देश की सम्पत्ति के विदेश-गमन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराते हुए भारतेन्दु बाबू ने कहा था—

"अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥

दरिद्रता के चित्र तो अनेक कवियों ने खींचे हैं—

"तबहि लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहु को तरसत॥
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्त्व कहुँ कैसहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे हैं जहँ ऋण-भारन।
कहँ तिनकी धनकथा कौन जे गृही सधारन॥"

—प्रतापनारायण मिश्र

"अब नहीं यहाँ खाने भर को भी जुरता।
नहिं सिर पर टोपी नहीं बदन पर कुरता॥
है कभी न इसमें आधा चावल चुरता।
नहिं साग मिले नहिं कन्द-मूल का भुरता॥
नहिं जात भूख की भई पीर सम्भारी।
भागो-भागो अब काल पड़ा है भारी॥"

—पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

"पेट भरन हित फिरें हाय कूकुर से दर-दर।
चाटहिं ताके पैर लपकि मारहिं जे ठोकर॥
तुम्हीं बताओ राम तुम्हें हम कैसे जानें।
कैसे तुम्हरी महिमा कलुषित हिय महँ आनें॥
जिनके कर सों मरन लौं छुट्यो न कठिन कृपान।
तिनके सुत प्रभु पेट हित भए दास दरवान॥
विश्वामित्र वशिष्ठ के वंशज हा! श्री राम।
शव चीरत हैं पेट हित, अरु बेचत हैं चाम॥
जूठि मलेच्छन की हहा! खाति सराहि-सराहि।
और कहा चाहो सुन्यो, त्राहि त्राहि प्रभु त्राहि॥
निसदिन डोलत दाम लगि, कूकुर काक समान।
जन्म बितावत प्रेत जिमि, कृपा-सिंधु भगवान॥"

—बालमुकुन्द गुप्त

जब आर्थिक विषमता बहुत अधिक बढ़ जाती है और पूंजीपतियों तथा श्रमिकों की समस्या (धनिकों तथा निर्धनों के बीच संघर्ष की समस्या उग्र रूप धारण कर लेती है तो इस युग के उत्तरार्ध में साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रवेश होता है और हमारे साहित्यकार भी इस आंदोलन में हाथ बटाते हैं। जिन कवियों ने कभी

प्रेम और सौंदर्य के गीत लिखे थे, उन्होंने अब श्रमिकों के पसीने की बूंदों पर दृष्टि डाली और पूंजीपतियों के शोषण के विरुद्ध आवाज उठाई। जहाँ पहले समन्वय की भावना थी वहाँ अब विद्रोह एवं क्रांति की आवाजें उठने लगीं। यह आक्रोश सभी भारतीय भाषाओं में पाया जाता है। निराला जी ने हिन्दी जगत् का ध्यान सर्वप्रथम इस ओर आकृष्ट किया। इस तीखेपन का एक उदाहरण निराला की कविता-पुस्तक 'कुकुरमुत्ता' में द्रष्टव्य है—

अबे सुन बे गुलाब !
भूल मत, गर पाइ खुशबू रंगो आब।
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट,
डाल पर इतरा रहा कैपीटलिस्ट।

क्रमशः यह आक्रोश अधिक तीव्रतर होता गया और तब, यहाँ तक स्थिति आ गई कि कवि दुनिया में आग लगाने को तैयार हो गया—

लपक चाटते जूठें पत्ते जिस दिन देखा मैंने नर को,
उस दिन सोचा क्यों न लगा दूँ, आज आग मैं दुनिया भर को।
यह भी सोचा क्यों न टेंटुआ घोटा जाय स्वयं जगपति का,
जिसने अपने ही स्वरूप को रूप दिया इस घृणित विकृति का।

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

और उधर दिनकर जी की गर्जना नवजागरण और नव-निर्माण के लिए हो रही थी—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती की लज्जा वसन बेंच जब ब्याज चुकाए जाते हैं।
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाता है।
पापी महलों का अहंकार तब देता तुझको आमंत्रण।

इस प्रकार अनेक साहित्यकारों में पूँजीवाद के विरुद्ध नारा लगाया। खेत-खलिहानों, मिल फैक्टरियों में काम करनेवाले श्रमिकों को रचना का विषय बनाया गया।

धार्मिक अवस्था

आधुनिक युग की सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में ही हमारी धार्मिकता का स्वरूप निर्धारित करनेवाले तत्त्व निहित थे। जब-जब अंधविश्वासों की गठरी भारी होती रही है, वर्गगत भेदभाव अत्यधिक तीव्र होता रहा है और नैतिकता के अधःपतन की आशंका के पूरे अवसर एकत्र होते रहे हैं, तब-तब धार्मिक क्रान्तियों

की चिनगारियाँ फूट पड़ी हैं और इन चिनगारियों ने देखते-देखते विशाल ज्योतिपुंज का रूप धारण कर लिया है। छठीं शताब्दी ई० पू० का भारत, पूर्व मध्यकालीन भारत तथा आधुनिक भारत लगभग ऐसी ही परिस्थितियों का सामना करता है। छठीं शताब्दी ई० पू० में महात्मा महावीर तथा गौतम ने धार्मिक आंदोलनों को जन्म दिया। पूर्व मध्यकाल में अनेक वैष्णव आचार्यों ने भक्ति-आंदोलन को प्रोत्साहित किया। इसी प्रकार आधुनिक युग में अनेक सुधारात्मक आंदोलन खड़े किये गए। समाज-सुधार के संबंध में लिखते हुए हमने प्रारम्भ में इनका उल्लेख भी किया है। विशेष उल्लेखनीय वस्तु यह है कि भारतीय समाज में धर्म को लेकर दो पृथक् विचार-धाराएँ चल रही थीं, एक चरम मार्गी तथा दूसरी मध्यम मार्गी। चरम मार्गी धारा वाले धर्म के आचार पक्ष से बुरी तरह चिपके हुए थे और बाह्य कर्म-कांडों का संपादन ही वे धर्म का पालन मानकर चल रहे थे। भारत की अधिकांश जनसंख्या इसी मार्ग का अनुसरण कर रही थी। मध्यकालीन संतों तथा भक्तों की सेवाओं के फलस्वरूप हिंदू समाज का बहुत बड़ा भाग वैष्णव धर्म का पालन कर रहा था (और आज भी कर रहा है)। शैव संप्रदाय के अनुयायियों की संख्या भी नगण्य न थी, प्रत्युत कुछ क्षेत्रों में तो उनकी ही अधिकता थी। मध्यकालीन पौराणिक धर्म हिंदू-समाज का आदर्श रहा, पर बदलती हुई परिस्थितियों ने एक ऐसे वर्ग को भी जन्म दे दिया जो धर्म के विषय में पूर्ण उदारवादी दृष्टिकोण को अपना कर चलता था। इधर ईसाई मिशनरियों का प्रचार-कार्य और अधिक लंबे पैमाने पर आरंभ हो चुका था जो हमारी कुछ सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दुर्बलताओं से लाभ उठाकर अपनी सांप्रदायिकता संबल लेकर तीव्र गति से युग-युग की उपेक्षित तथाकथित शून्य जातियों को धर्म-परिवर्तन का सफल प्रलोभन देती जा रही थी। ये मिशनरियाँ पूरी बस्ती की बस्ती को ईसाई धर्म में दीक्षित कर रही थीं और कुछ वर्षों में भारत के कोने-कोने में धर्म-परिवर्तित ईसाइयों की बस्तियाँ बस गईं। यह सब इसलिए सरलतापूर्वक होता रहा था कि जो जन-समुदाय हिंदू-धर्म में नाम मात्र को हिंदू था वह धार्मिकता के अधिकारों से वंचित था और जो धर्म से चिपटा था वह वास्तव में धर्म की आत्मा से अपरिचित था। मध्यम मार्गियों में कुछ तो ऐसे थे जिन्हें अपने धर्म में केवल बाह्याडंबर ही दिखाई पड़ रहे थे। आशय यह कि धार्मिक जिज्ञासा जैसी कोई वस्तु नहीं रह गई थी। धर्म या तो फर्ज अदायगी का एक हल्का-फुल्का काम या फिर रस्म-अदायगी भर बनकर रह गया था। ऐसा लगता था कि धर्म केवल पिछड़े हुए विचारों के व्यक्तियों की वस्तु है। पर सौभाग्यवश इसी समय कुछ ऐसी विभूतियों का जन्म हुआ जिन्होंने हमें हमारे धर्म के गौरव से परिचित कराया और साथ ही प्रगतिशील विचारवाले 'बाबुओं' को भी इसका महत्त्व समझाया। सर्वप्रथम इस दिशा में राजा राममोहन राय आगे बढ़े। उन्होंने २० अगस्त, १८२८

ई० को कलकत्ता में ब्रह्मसमाज की स्थापना की। 'समाज' ने हमारी सभी दुर्बलताओं की ओर ध्यान दिया। उसने शिक्षा के प्रचार से लेकर हमारी कूप-मंडूकता तक को दूर करने की चेष्टा की। सती-प्रथा जैसी कुरीति को बंद करने का श्रेय भी हम राजा राम को ही दे सकते हैं। धर्म के क्षेत्र में 'समाज' ने महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि इसने बंगाल के विद्वानों को अपनी ओर आकृष्ट करके उन्हें वैदिक धर्म के प्रचार में हाथ बँटाने के लिए प्रेरित किया। यद्यपि कालान्तर में, 'समाज' में भी कई आडंबरों ने घर कर लिया, पर देश की शिक्षित जनता को जो धर्म में कोई अभिरुचि नहीं रखती थी, इस 'समाज' ने हिंदू धर्म के महत्त्व से परिचित कराया। इसी प्रकार का कार्य स्वामी दयानन्दजी सरस्वती (१८२४-१८८३ ई०) ने आर्य-समाज की स्थापना करके किया। दयानंद जी ने तात्कालिक धार्मिक समस्याओं को भी सुलझाने की चेष्टा की। जैसा कि प्रारंभ में ही संकेत किया गया है विचाराधीन युग में तीन प्रमुख धार्मिक समस्याएँ थीं—आर्य धर्म के प्रति लोगों में श्रद्धा की भावना भरना, हिंदुओं के धर्म-परिवर्तन को रोकना तथा धार्मिक बाह्याडंवरों को दूर करना। स्वामीजी ने इन तीनों समस्याओं को सफलतापूर्वक सुलझा दिया। उन्होंने देश के कोने-कोने में आर्य समाज द्वारा धार्मिकता की लहर प्रवाहित कर दी। इनके कुछ धर्मसुधार-कार्य रूढ़िवादियों को प्रिय नहीं लगे और कालांतर में सनातन धर्म तथा आर्यसमाज नामक दो हिंदू वर्गों में अधिकांश हिंदू-जनता बँट गई। स्वामीजी के शिष्यों ने बड़े व्यापक पैमाने पर धर्म-सुधार आंदोलन का कार्य आरंभ किया। जगह-जगह दयानन्द एंग्लोवैदिक स्कूल या कालेज खोले गये, आर्यसमाज-मंदिरों की स्थापना की गई। पर उस समय तो सचमुच हमारा मस्तक विश्व के सम्मुख धार्मिक दृष्टि से ऊँचा उठ गया जब श्री रामकृष्ण परमहंस के शिष्य स्वामी विवेकानंद ने विश्व-धर्म सम्मेलन में भी भारत की धार्मिक एवं दार्शनिक विजय का उद्घोष किया। अब तक विदेशियों ने हमारे धर्म-ग्रंथों की उपेक्षा की थी, केवल कुछ ही सुधी पाठकों ने उनका कुछ महत्त्व समझा था पर अब विश्व के धर्माधिकारियों, दर्शन के जिज्ञासुओं तथा बड़े-बड़े पादरी-मुल्लाओं को भी ज्ञात हो गया कि वैदिक धर्म एक सुदृढ़ दार्शनिक आधार-शिला पर अवस्थित है। तत्त्व-चिंतन के क्षेत्र में भारतीयों की महत्ता को विदेशियों द्वारा स्वीकार कराकर स्वामी विवेकानंद ने भारत के शिक्षितों को भी अपने धर्म के प्रति श्रद्धा रखने की प्रेरणा दी। रामकृष्ण मिशन नामक संस्था की स्थापना करके स्वामीजी ने देश की आध्यात्मिक, नैतिक एवं शैक्षणिक उन्नति का पथ प्रशस्त किया। उक्त संस्था ने दीन दुखियों की सेवा का भी भार लिया। ब्रह्मसमाज तथा रामकृष्ण मिशन देश की दो मुख्य संस्थाएँ थीं जिन्होंने धर्म के आध्यात्मिक एवं नैतिक पहलू पर बल दिया था और मानव-कल्याण की कसौटी पर धर्म को कसा था। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य सुधारवादी

संस्थाएँ भी खुली थीं, जिन्होंने आधुनिक युग की आवश्यकताओं को देखते हुए धर्म में कुछ परिवर्तनों को प्रोत्साहित किया तथा हमें बाह्याडंबर से दूर रहने की प्रेरणा दी। एक ओर तो यह सुधारवादी आंदोलन चल रहा था जो औपनिषदिक ज्ञान मार्ग से प्रभावित था, दूसरी ओर पौराणिक हिंदू धर्म की पुनः स्थापना के लिए कुछ महानुभाव प्रयत्नशील रहे। चारों वैष्णव-संप्रदायों ने मिल कर एक महत्त्वपूर्ण अधिवेशन भी किया और धर्म के प्रति लोगों को आकृष्ट करने के अनेक उपायों पर विचार-विमर्श किया। 'हिंदू महासभा' की भी स्थापना हुई जिसने व्यापक स्तर पर हिंदू उत्थान-कार्य को आगे बढ़ाने का गुरुतर भार संभाला। इस प्रकार दोनों वर्गों—चरममार्गी तथा मध्यम मार्गियों की दो पृथक् धार्मिक संस्थाएँ हो गईं। यदि इन दोनों संस्थाओं के कार्यों को सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो हम चरममार्गियों को बुद्धकालीन भागवतों के रूप में पा सकते हैं और मध्यम मार्गियों को छठी शताब्दी ई० पू० के बौद्धों के रूप में। पर राष्ट्रीय नवचेतना ने हर प्रकार की सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं को प्रभावित किया था। फलतः आधुनिक युग का हर धर्म-सुधारक राष्ट्रीय भावना का पुट अपने उपदेशों में देता रहा। अनेक धर्म-प्रचारकों ने विश्व-कल्याण, मानववाद, राष्ट्रवाद आदि की शिक्षा तक दी है। धर्म का यह व्यापक एवं पूर्णजागरण हमारे साहित्यकारों को भी अपनी ओर आकृष्ट करता है। कुछ साहित्यकार भारतीय दर्शन के गौरव को जानकर उसके अध्ययन में लग जाते हैं और इस गहन अध्ययन की स्पष्ट छाप उनकी रचनाओं पर पड़ने लगती है, तो कुछ पौराणिक धर्म से प्रभावित होते हैं और पौराणिक कथाओं को अपनी रचना का विषय बनाते हैं। पर दोनों के मस्तिष्क में राष्ट्रीयता का बीज सदा निहित रहता है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना तो सर्वोपरि रहती है जो मानव-कल्याण का एकमात्र साधन बन सकती है। इन्हीं समाज-सुधार एवं धर्म-सुधार आन्दोलनों ने हमारे कवियों को अछूतोद्धार, दलित वर्ग के उत्थान, राम-कृष्ण आदि चरित्रों के विश्व-प्रेम की कथाओं से संबद्ध भावों की अभिव्यक्ति के लिये प्रेरित किया। इन्ही साहित्यकारों ने नर्म दल वालों की भावनाओं को भी व्यक्त किया था और नव-निर्माण, के गीत गाए थे। वस्तुस्थिति यह है कि आर्थिक विपन्नता ने अंगरेजी शासन के प्रति जो क्षोभ की भावना सर्व-साधारण में भर दी थी उसे उकसाने का कार्य राजनीतिक नेताओं तथा साहित्यकारों ने साथ-साथ किया था। किन्तु धर्म-सुधार-आँदोलनों से प्रभावित होने पर इस पीढ़ी के अधिकांश लेखक व कवि सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिये प्राचीन गौरव का गुण-गान करने लगे। अनेक लेखकों ने पौराणिक तथा ऐतिहासिक विषयों को चुना, जिनसे हमारा प्राचीन गौरव प्रकाशित होता पर इस प्राचीनता में भी नवीनता का समावेश कर दिया गया था जो युग की मांग थी।

साहित्यिक एवं शैक्षणिक प्रगति

जीवन के कुछ क्षेत्रों में जहाँ आधुनिक युग हमें अभिशाप भी प्रदान करता है, वहीं कुछ ऐसे भी क्षेत्र हैं जिनमें हमारी आश्चर्यजनक प्रगति होती है। शिक्षा एवं साहित्य ऐसे ही विषय हैं, जिनमें आधुनिक युग में हमने बहुत कुछ प्रगति की। प्रारम्भ में ही संकेत किया गया है कि अँगरेजों ने अपने दफ्तरों में काम करनेवाले अँगरेजी पढ़े-लिखे किरानियों की आवश्यकता का अनुभव करके भारत में अँगरेजी शिक्षा का प्रचार आरम्भ किया था। मेकाले की सिफारिशों के अनुसार ही १८३५ ई० में हमारी शिक्षा की रूप-रेखा निर्धारित कर दी गई थीं। शिक्षा की उन्नति के लिए अँगरेजों ने हंटर कमीशन भी बैठाया जिसने हमारा पाठ्यक्रम निर्धारित किया। कई अन्य कमीशन भी बैठाये गये, जिन्होंने शिक्षा विभाग के संगठन तथा पाठ्यक्रमों की रूप-रेखा निर्धारित की। इसमें संदेह नहीं कि अपने स्वार्थवश भी अँगरेजों ने शिक्षा प्रसार की जो चेष्टायें कीं उसमें हमारा बहुत कल्याण हुआ। मुगलकाल से ही शिक्षा पतनोन्मुख हो चली थी। गाँवों में केवल अशिक्षित ही मिलते थे, किन्तु आधुनिक युग के सूत्रपात के साथ-साथ शिक्षा में भी एक नई क्रान्ति आ गई। अँगरेजी शिक्षा ने जहाँ एक ओर विदेशी सभ्यता के प्रति लोगों को आकृष्ट किया वहीं दूसरी ओर इसने देश-विदेश की प्रगतियों से हमारा परिचय कराया। जीवन के अनेक क्षेत्रों में विदेशियों की जो उपलब्धियाँ थीं उनसे हम पूर्णतया अपरिचित थे। किन्तु अँगरेजी साहित्य के माध्यम से हम यूरोपीय जन-क्रान्तियाँ, राजनीतिक विचारधाराओं तथा साहित्यिक मान्यताओं से परिचित होते हैं।

शिक्षा-प्रचार में सहायता देनेवाले कुछ नये आविष्कारों का ऋण भी स्वीकार करना पड़ेगा। कागज तथा छापेखाने का आविष्कार आधुनिक युग की दो ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिन्होंने शिक्षा-प्रसार में बहुत अधिक सहायता दी है।

भाषा—हमारी शिक्षा का माध्यम अँगरेजों ने अँगरेजी ही रक्खा था। पर वे हिन्दी-उर्दू की खाई को बढ़ाने की चेष्टाएँ भी करते रहे। अतः आधुनिक युग के विभिन्न आन्दोलनों में, भाषा-आन्दोलन ने भी जोर पकड़ा। हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश में अपनी भाषा की उन्नति के लिये चेष्टाएँ की जाने लगीं और अँगरेजों की चालों से सावधान रहने की चेतावनी दी जाने लगी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'निज भाषा आन्दोलन' का नेतृत्व किया और उनसे प्रभावित अन्यान्य साहित्यकारों ने इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया। मुगलकालीन प्रभाव के परिणामस्वरूप उर्दू-फारसी के प्रति लोगों का मोह अधिक था और दूसरी बात यह थी कि दफ़्तर-कचहरियों में तब भी उर्दू का ही बोलबाला था। कई राजकीय विभागों में तो उर्दू दफ्तर, अँगरेजी दफ्तर इस प्रकार के विभाजन भी थे। स्वभावतः नौकरी चाहनेवाले को उर्दू का ज्ञान आवश्यक हो गया था और फारसी

पढ़ लेना तो एक गौरव की बात थी। इस प्रकार हिन्दी के विकास के लिए मार्ग अवरुद्ध था। पर तभी कुछ ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिससे भाषा-सम्बन्धी इस अवरोध का अन्त-सा होने लगता है। सबसे महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय बात है समाज-सुधारकों तथा धर्म-सुधारकों का हिन्दी में अपना प्रचार-कार्य करना। स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा महात्मा गाँधी ने हिन्दी में ही प्रचार-कार्य आरम्भ किया। इनसे प्रभावित होकर इनके शिष्यों ने भी हिन्दी को ही अपनाया।

खड़ीबोली हिन्दी का जो रूप पूर्ववर्ती कवियों की भाषा में सँवर रहा था, उसके विकास को सुन्दर अवसर इस समय प्राप्त हुआ। इन विभिन्न विकास सोपानों का रूप देखिये—

"बाला था सबको मन भाया,
बढ़ा हुआ कुछ काम न आया।
मैं कह दिया उसका नाँव,
अर्थ करो नहीं छोड़ो गाँव॥"

—खुसरो (तेरहवीं शती)

"सजन सकारे जायेंगे औ नैन मरेंगे रोय।
विधना ऐसी रैन कर भोर कभू ना होय॥"

—सरफुद्दीन बू अलीकलंदर (समय वही)

"मैं कहता हूँ आँखिन देखी। तू कहता कागद की लेखी।"

× × ×

"कासी में हम प्रकट भये हैं, रामानन्द चेताये।
समरथ का परवाना लाये, हंस उबारन आये॥"

—कबीरदास (चौहदवीं शती)

"कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था,
चपल चखन वाला चाँदनी में खड़ा था।
कटि तर बित्र मेला पीत सेला नवेला,
अलि बन अलबेला यार मेरा अकेला।"

—रहीम (सोलहवीं शती)

"शिव विष्णु ईश बहु रूप तुइ नभ तारा चारु सुधाकर है।
अंबा धारामल शक्ति स्वधा स्वाहा जल पौन दिवाकर है।
हम अंशाअंश समझते हैं सब खाक जाल से पाक रहे।
तुम लाल बिहारी ललित ललन हम तो तेरे ही चाकर हैं।"

—सीतल (अठारहवीं शती)

"जब चलना ही निहचै है तो लै किन माल लदाई।
हरीचन्द हरिपद बिन नहिं तौ रहि जैहौ मुंह बाई॥"

—भारतेन्दु बाबू (उन्नीसवीं शती)

मध्यकाल में स्वाभाविक रूप से ही खड़ीबोली का विकास होता रहा, क्योंकि उस समय भाषा का भेद-भाव नहीं उत्पन्न हुआ था पर आधुनिक युग के सूत्रपात से ही इसकी नींव पड़ जाती है और आज तो भाषा भी भारत की विभिन्न समस्याओं में से एक समस्या है।

हिंदी काव्य की दृष्टि से भाषा की आंतरिक समस्या की ओर हम यहाँ संकेत करना चाहेंगे। जैसा कि हम आगे देखेंगे, ब्रजभाषा ने हिंदी भाषा-भाषियों पर ऐसा प्रभाव स्थापित कर लिया था कि वे केवल इसमें ही काव्य-रचना संभव मानने लगे थे। खड़ीबोली में भी सुन्दर काव्य की रचना हो सकती है, इसकी वे कल्पना तक नहीं करते थे। ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली के समर्थकों का मधुर संघर्ष सन् १९०० ई० तक चलता है। वास्तव में जिसे हम भारतेन्दु युग कहते हैं वह इसी संघर्ष का युग है। भारतेन्दु बाबू ने खड़ीबोली का पद्य में प्रयोग करना चाहा पर उन्हें वाञ्छित सफलता नहीं मिली जैसा कि उन्होंने अपनी पुस्तक 'हिंदी भाषा' में लिखा है—

"मैंने कई बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कुछ कविता बनाऊँ पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी, इससे निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है।"

भारतेन्दु बाबू की इस धारणा से अधिकांश हिंदी कवि प्रभावित हुए थे। ब्रजभाषा के समर्थकों में पंडित प्रतापनारायण मिश्र, पंडित राधाचरण गोस्वामी, श्री सत्यनारायण 'कविरत्न', बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। उधर एक ऐसा दल भी था जो पद्य में खड़ीबोली का समर्थक था। बिहार के अयोध्याप्रसाद खत्री इसके अगुआ माने जा सकते हैं जिन्होंने १८८८ ई० में "खड़ीबोली का पद्य" नामक एक संग्रह तैयार किया था। श्रीधर पाठक ने तो खड़ीबोली में सफल रचना करके यह सिद्ध कर दिया कि खड़ीबोली में ब्रजभाषा से किसी प्रकार कम लालित्य एवं भाव-प्रेषण-क्षमता नहीं है। खड़ीबोली के अन्य समर्थक थे बाबू बालमुकुन्द गुप्त, नाथूराम शंकर। महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के युग तक आते-आते खड़ीबोली को ही हिंदी-काव्य भाषा की प्रामाणिक एवं शिष्ट भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

ब्रजभाषा और खड़ीबोली के साथ-साथ अवधी भी कुछ दिनों तक परंपरानुसार काव्य में स्थान पाती है और भारतेन्दु युग के कई कवियों ने अवधी में भी रचनाएँ की थीं। इस प्रकार आधुनिक युग का प्रथम चरण जहाँ राजनीतिक, आर्थिक

एवं सामाजिक दृष्टि से उथल-पुथल का युग रहा है, वहाँ भाषा की दृष्टि से भी यह क्रियाशील था।

पद्य-साहित्य

हिंदी-साहित्य का आधुनिक काल अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि इसी युग में पद्य के साथ-साथ गद्य की विभिन्न विधाओं का भी उद्भव एवं विकास हुआ। पद्य के क्षेत्र में नई-नई काव्य-शैलियों के साथ-साथ नई भाव-भूमि का सर्जन हुआ। इस युग का हिंदी-साहित्य विशालता, व्यापकता एवं प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से भक्ति-युगीन साहित्य को भी पीछे छोड़ जाता है। इस विशाल साहित्य का अध्ययन पद्य एवं गद्य दो पृथक् वर्गों में किया जाएगा।

प्रारंभ में ही यह सूचित कर देना आवश्यक है कि हिंदी-पद्य के लिए तो पूर्ववर्ती काव्य की एक परंपरा संबल-स्वरूप रहती है पर गद्य के लिए कोई ऐसी सबल परंपरा न थी। उसे तो अपना मार्ग अपने ढंग से ही निर्मित करना था। यही कारण है कि आधुनिक हिंदी-काव्य में वीरगाथाकालीन चंदबरदाई, भक्तिकालीन मीरा-सूर तथा रीतिकालीन भूषण-देव आदि की परंपरावालों के दर्शन किसी-न-किसी रूप में होते हैं; हाँ, आधुनिकता का चश्मा सबकी आँखों पर लगा हुआ है। पर गद्य की सभी विधाओं को अपना मार्ग स्वयं ढूँढ़ना था, अपनी दिशा स्वयं निर्धारित करनी थी। स्वभावतः अनेक स्थानों पर इन दोनों की मूल प्रवृत्तियों एवं सामान्य विशेषताओं में कुछ अंतर आ गया है। यही कारण है कि इन दोनों के अध्ययन की व्यवस्था पृथक्-पृथक् की गई है।

पहले हम आधुनिक हिंदी-काव्य की प्रवृत्तियों की ओर संकेत करेंगे।

आधुनिक हिंदी-काव्य की प्रवृत्तियाँ

जहाँ तक नव-जागरण एवं राष्ट्रीय भावना के प्रसार-प्रचार का प्रश्न है, यह कार्य मूलतः खड़ीबोली हिंदी काव्य द्वारा ही हुआ था पर ब्रजभाषा में भी कुछ नवीन विषयों को स्थान दिया गया था। प्राचीन परंपरा का पालन आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य में अवश्य हुआ है, पर युग की नव-चेतना से कोई साहित्यकार अछूता नहीं रह सकता है। अतः जहाँ अपने पूर्ववर्ती ब्रजभाषा कवियों के प्रिय विषय भक्ति एवं शृङ्गार को इन ब्रजभाषा कवियों ने अपनाया था, कहीं इन्होंने समाज-सुधार एवं नवजागरण से संबद्ध कुछ अन्य विषयों को भी ग्रहण किया था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसी आधार पर आधुनिक काल के हिंदी-काव्य को 'पुरानी धारा' तथा 'नई धारा' नाम से विभक्त किया है। पर यह इस युग के काव्य का स्थूल वर्गीकरण है। यदि आधुनिक युग के काव्य का सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो हमें ज्ञात होगा कि विषय की दृष्टि से इस

युग का काव्य कई भिन्न तत्त्वों का परिचय देता है और तब इसे हम निम्नलिखित वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

१. सुधारात्मक रचनाएँ जो समन्वयात्मक भी हैं,
२. सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय नवचेतनापूर्ण रचनाएँ,
३. विद्रोहात्मक रचनाएँ,
४. सौंदर्यात्मक रचनाएँ तथा
५. बुद्धिवादी रचनाएँ।

उपर्युक्त तत्त्वों को ऐतिहासिक क्रम के अनुसार नहीं स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि ये तत्त्व कवियों के रुचि-वैभिन्य के अनुसार लगभग हर सोपान में किसी-न-किसी रूप में पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ भारतेंदु-युग की कविता में जहाँ समन्वयात्मक प्रवृत्तियों की प्रधानता थी वहीं कुछ कवियों में प्रच्छन्न विद्रोह था। इसी प्रकार गाँधीवाद से प्रभावित कुछ विद्रोही कवियों में भी समझौते की झलक मिलती है। अतः तत्त्वों के आधार पर हम ठीक-ठीक कोई युग सीमा-निर्धारक रेखा नहीं खींच सकते हैं।

आधुनिक युग की प्रवृत्तियों को ठीक-ठीक समझने के लिए हमें इसके प्रत्येक सोपान को पृथक्-पृथक् देखना होगा। उसके लिए सर्वप्रथम हम काल-विभाजन पर विचार करेंगे।

आधुनिक काव्य का काल-विभाजन—आचार्य शुक्ल ने आधुनिक हिंदी-साहित्य (गद्य तथा पद्य दोनों) को तीन उत्थान-कालों में विभक्त किया है—**प्रथम** उत्थान-काल सन् १८६७ ई० से सन् १८९३ ई० तथा **द्वितीय** उत्थान काल सन् १८९३ ई० से सन् १९१८ ई० तक तथा **तृतीय** उत्थान-काल सन् १९१८ ई० से प्रारंभ।

कुछ आलोचकों ने प्रथम उत्थान-काल को भारतेंदु युग, द्वितीय उत्थान-काल को द्विवेदी युग तथा तृतीय उत्थान-काल को छायावादी-प्रगतिवादी युग नाम दिया है। किंतु छायावाद केवल काव्य तक ही सीमित है (कुछ छायावादी भावात्मक निबन्धों को भी हम गद्यगीत की संज्ञा दे देते हैं) अतः यह विभाजन गद्य-साहित्य की उपेक्षा करके किया गया है, पर यहाँ हमारा अध्ययन आधुनिक हिंदी-काव्य के विभिन्न सोपानों से संबद्ध है, अतः तृतीय उत्थान-काल को हम छायावादी-प्रगतिवादी युग में विभक्त कर सकते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने इस तृतीय उत्थान-काल को तीन उप-विभागों में बाँटा है—

१. सन् १९२० से १९३० ई० तक, प्राचीन संस्कारों के प्रति विद्रोह तथा नवीन संस्कारों के बीजारोपण का समय।

२. सन् १९३० से द्वितीय महायुद्ध के आरंभ (१९३९ ई०) तक, असंतोष का निश्चित रूप धारण करना तथा नवीन रचनात्मक विचार-धाराओं की उद्भावना।

३. सन् १९३९ ई० से अब तक, नवीन साहित्यकारों में मतभेद।

भारतेंदु-युग के काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—भारतेंदु युग अँगरेजी शासन के प्रति असफल विद्रोह अँगरेजों की शोषण नीति, उनका स्वार्थपूर्ण पर सुव्यवस्थित शासन इत्यादि का अनुभव कर चुका था। अतः स्वभावतः इस युग के कवियों में प्राचीन संस्कारों और मर्यादाओं के प्रति मोह है। नवजागरण के लिए संकेत भी है, पर वह समन्वयात्मक है न कि विद्रोहात्मक। काव्य की शैली पर मध्यकालीन प्रभाव दिखाई पड़ता है। ब्रजभाषा में ही अधिकांश कविताएँ की गईं। रीतिकालीन अनेक प्रवृत्तियाँ स्वभावतः इस युग में देखने को मिलती हैं। सेवक, महाराज रघुराजसिंह, सरदार बाबा रघुनाथदास, रामसनेही, ललित किशोरी, राजा लक्ष्मणसिंह, लछिराम आदि को हम मध्यकालीन काव्य परंपरा की अंतिम कड़ी के रूप में स्वीकार करते हुए भारतेंदु बाबू, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, विनायक राव, अंबिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी तथा राधाकृष्णदास आदि को नवजागरण के प्रथम गायक मान सकते हैं, जिन्होंने प्राचीन तथा नवीन संस्कृतियों के संधिकाल की (साहित्य एवं समाज दोनों के संधि-काल की) झलक अपनी रचनाओं में दी है। पौराणिक कथानकों के प्रति इन दोनों वर्गों में आकर्षण देखने को मिलता है। नीचे के उदाहरणों से ज्ञात हो जाएगा कि मध्यकालीन काव्य-परंपरा का प्रभाव अब भी रहा—

उनए घन देखि रहै उनये दुनये से लताद्रुम फूलो करैं।
सुनि सेवक मत्त मयूरन के सुर दादुरऊ अनुकूलो करैं।
तरपै दरपैं दबि दामिनि दीह यही मन माँह कबूलो करै।
मनभावती के सँग मैं न भई घनश्याम सबै निसि झूलो करैं।
—सेवक (सन् १८१५-८१ ई०)

परिपूरन प्रेम ते पागि सिवा प्रतिजाम पतिव्रत पालती है।
निसिबासर ध्यान धरे तिनको मत ते तन नेक न हालती हैं।
'सरदार' निबाहनहार यही हम कौन कला लखि लालती हैं।
ननदी ये तिहारी सदा बतियाँ नरसाल लौं साहब सालती हैं।
—सरदार (रचना-काल १८४५-८३ ई०)

राष्ट्रीय नवजागरण की लहर को आगे बढ़ाने तथा खड़ीबोली हिंदी को काव्य में अपनाने के सजग प्रयत्न भारतेंदु युग में किए गए। सबको समान सफलता नहीं

मिली पर इस ओर रुझान लगभग सभी कवियों की थी। नीचे इस प्रवृत्ति को प्रकाशित करनेवाले कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

निज भाषा उन्नत अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा-ज्ञान को मिटत न हिय को सूल॥
अँगरेजी पढ़ि के जदपि, सब गुन होत प्रवीन।
पै निज भाषा-ज्ञान बिन, रहत हीन को हीन॥
भारत में सब भिन्न अति, ताही सों उत्पात।
विविध देस मतहू विविध, भाषा विविध लखात॥

× × ×

भारत के भुजबल जन रच्छित,
भारत विद्या लहि जग सिच्छित।
भारत तेज जगत विस्तारा,
भारत भय काँपत संसारा॥

× × ×

जय जयति सदा स्वाधीन हिन्द,
जय जयति सदा प्राचीन हिन्द।
गरमी के आगम दिखलाए रात लगी घटने।
कुहू कुहू कोयल पेड़ों पर बैठ लगी रटने॥
ठंडा पानी लगा सुहाने आलस फिर आई।
सरस सुगंध सिरस फूलों की कोसों तक छाई॥

—भारतेंदु बाबू (सन् १८५०-८५ ई०)

बगियान बसंत बसेरो कियो बसिये तेहि त्यागि तपाइए ना।
दिन काम कुतूहल के जो बने, तिन बीच वियोग बुलाइए ना।
'घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम अहो! बिथा वारि वृथा बरसाइए ना।
चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइए ना।

× × ×

हिन्दुस्तानी भाषा कौन कहाँ ते आई?
को भाषत कोई ठौर कोउ किन देहु बताई?
कोउ साहिब स्वपुष्प सम नाम धर्‌यो मनमानी।
होत बड़ेन सो भूलहु बड़ी सहज यह जानी॥
हरि हिंदी की बोली अरु अन्दर अधिकारहिं।
लै पैठारे बीच कचहरी बिना बिचारेहिं॥

अब नहीं यहाँ खाने भर को भी मिलता।
भागो भागो अब काल पड़ा है भारी।

—प्रेमघन (भारतेंदु कालीन)

बन बैठी है मान की मूरति सी, मुख खोलत बोलै न 'नाहि' न 'हाँ'।
तुमहीं मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ।।
बरषा है 'प्रताप जू' धीर धरौ, अब लौं मन को समुझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलेगी कछू पपिहा जब पूछिहै 'पीव कहाँ'।।

× × ×

विवादी पड़े हैं यहाँ कैसे कैसे,
कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे।
बने पढ़ के गौरण्ड भाषा द्विजाती,
मूरीदाने पीरेमुगा कैसे कैसे।

× × ×

अनुद्योग आलस्य सन्तोष सेवा,
हमारे भी हैं मेहरबाँ कैसे कैसे।

× ×

'प्रताप' अब तो होटल में निर्लज्जता के,
मजे लूटती है जबाँ कैसे कैसे।

—प्रतापनारायण मिश्र (भारतेंदु-युगीन)

पुन्यहिं पूरन पाप बिनासन और सुकीरति भक्ति बढ़ावन।
दायक ज्ञानत घायल मोह विशुद्ध सुप्रेममयी मुद पावन।
श्रीमद् रामचरित्र सुमानस नीर सुभक्ति समेत नहावन।
'नायक' ते जन सूरज रूप जहान के ताप को ताप नसावन।

—बिनायक राव (भारतेंदु-युगीन)

पहिरि कोट पतलून बूट अरु हैट धारि सिर,
भालू चरबी चरचि लबेंडर को लगाइ फिर।
नई विदेशी विद्या ही को मानत सर्वस,
संस्कृत के मृदु वचन लगत इनको अति कर्कस।

× ×

अंगरेजी हम पढ़ी तऊ अंगरेज न बनिहैं।
पहरि कोट पतलून चुरट के गर्व न तनिहैं।

भारत में ही लियो जनम भारत ही रहिहैं।
भारत के ही धर्म कर्म अरु विद्या गहिहैं।

× ×

फूल फुलवारी फल फैले कै फबे हैं तऊ,
छबि छटकीली यह नाहिन अराम की।

× × ×

अम्बादत भाखैं अभिलाखैं क्यों करत झूठ,
मूँदि गई आँखैं तब लाखैं कौन काम की।

—अम्बिकादत्त व्यास (भारतेंदु-युगीन)

हे धनियो, क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार;
जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार।
हे बाबा, जो यह बेचारे भूखों प्राण गँवायेंगे;
तब कहिये क्या धनी गला कर अशर्फियाँ पी जायेंगे।
हे धनवानो, हा धिक किसने हर ली बुद्धि तुम्हारी है;
निर्धन उजड़ जायँगे तब फिर कहिये किसकी बारी है।
सब के सब पंजाबी अब हैं लायल्टी में चकनाचूर,
सारा ही पंजाब देश बन जाने को है लायलपूर।
लायल हैं सब सिक्ख अरोड़े, खत्री भी सब लायल हैं,
मेढ़ रहतिये, बनिये धुनिये लायल्टी के कायल हैं।
धर्म समाजी पक्के लायल, लायल हैं अखबारे आम,
दयानन्दियों का तो है लायल्टी से ही काम तमाम।

—बालमुकुन्द गुप्त (भारतेन्दु युग उत्तरार्द्ध)

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेंदु बाबू के ठीक पूर्ववर्ती कवियों ने ब्रजभाषा में जो रचनाएँ की थीं वे मध्यकालीन भक्ति एवं शृंगार की भावना को आगे बढ़ा देती हैं और अगली पीढ़ी को इस साहित्यिक धरोहर के साथ-साथ जब राष्ट्रीय नवचेतना के दर्शन होते हैं तो स्वभावतः यह पीढ़ी अपने दोनों कंधों पर दोनों गुरुतर भार को सँभाल कर चलती है। काव्य की आत्मा एवं उसके शरीर दोनों पक्षों में हम उक्त दोनों प्रवृत्तियों को समान रूप से प्रवाहित पाते हैं। भारतेंदु युग के अंतिम चरणों में विषम परिस्थितियों के प्रति हल्का विद्रोह का भाव भी जग उठता है जैसा कि अभी हमने बालमुकुन्द जी गुप्त की उक्त कविता में देखा है। पर यह इस युग की सामान्य विशेषता नहीं थी। गुप्तजी जैसी ललकार सुनानेवाले कवियों का अवतरण अभी नहीं हुआ था। कुछ ऐसे कवि भी इस युग में हुए थे, जिन्होंने आर्य-समाज के

सिद्धांतों को प्रचारित करना ही अपना कवि-धर्म बना रक्खा था। राधाकृष्णदास तथा राधाचरण गोस्वामी के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

द्विवेदीयुगीन आदर्शवादी काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ—भारतेंदु-युग की समाप्ति तक आते-आते विकासोन्मुखी राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक तथा बौद्धिक प्रवृत्तियों में पर्याप्त प्रगति हो जाती है और सुधारवादी आन्दोलनों को भी यथेष्ट सफलता मिल चुकी रहती है। आर्यसमाज के प्रचारकों का तो हिन्दी-प्रदेश के शिक्षित व्यक्तियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। कांग्रेस ने भी आज तक जो नवचेतना भर दी थी, उसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे कवियों पर पड़ता है। पर इन प्रगतियों के बीच परंपरा नहीं खोती है। अब भी मध्यकालीन विषय-सामग्री—पौराणिक कथानक, भक्ति तथा रीतिकालीन शृंगारिकता इस युग के कवियों को आकृष्ट करती है। भाषा खड़ी-बोली के साथ-साथ ब्रजभाषा भी चलती रहती है। आशय यह कि विचाराधीन युग की कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ ऐतिहासिक घटनाओं की पृष्ठभूमि पर विकसित हुई थीं और उनमें विकास की संभावनाएँ निहित थीं। इस युग के कुछ कवि तो केवल राष्ट्रीय नवचेतना को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं, पर कुछ ऐसे भी कवि हैं, जो सभी संस्कारों को सँजो कर चलना चाहते थे। यदि इस युग के काव्य की विषय-सामग्री को ध्यानपूर्वक देखा जाए तो ज्ञात होगा कि इसमें मानववाद की भित्ति पर राष्ट्रीय नवचेतना से संबद्ध भावों के साथ-साथ मध्यकालीन भक्ति एवं शृंगार को भी उचित स्थान दिया गया है। काव्य को लोक-रक्षण के साथ-साथ लोक-रंजन की ओर भी उन्मुख किया गया था। शैली को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि इस युग में एक ओर संस्कृत की कोमलकांत पदावली वाले वर्ण वृत्तों को अपनाया गया है तो दूसरी ओर फारसी के छंदों में भी रचनाएं की गई हैं। इसी प्रकार मुक्तक तथा प्रबंध दोनों प्रकार के काव्यों की रचना इस युग में की गई थी। रीतिकालीन प्रवृत्तियों की कुछ-कुछ झलक भी शैली में कहीं-कहीं देखने को मिल जाती है, पर यह कोई विशेष सामान्य विशेषता न थी। वस्तु-स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए कुछ कवियों की रचनाएँ उद्धृत की जा रही हैं—

सुरम्यरूपे ! रसराशिरंजिते,
विचित्रवर्णा भरेण कहाँ गई ?
अलौकिकानंद विधायिनी महा,
कवींद्रकांते ! कविते ! अहो कहाँ ?

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

× × ×

क्षत्रिय ! सुनो अब तो कुयश की कालिमा को मेट दो।
निज देश को जीवन सहित तन मन तथा धन भेंट दो।

वैश्यो ! सुनो व्यापार सारा मिट चुका है देश का !
सब धन विदेशी हर रहे हैं पार क्या है क्लेश का ?"

—मैथिलीशरण गुप्त

गुप्तजी ने जहाँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत कविताएँ की थीं, वहीं उन्होंने पौराणिक कथानकों के आधार पर 'पंचवटी' तथा 'साकेत' जैसे अमर काव्य-ग्रंथों की भी रचना की।

"रूपोद्यान प्रफुल्ल प्राय कलिका राकेंदु-बिंबानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीडा कला-पुत्तली॥
शोभान्वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृदुदृगी माधुर्य सम्मूर्ति थी॥"

× × ×

मिलि मिलि मोदवारी मुकुलित मल्लिका सों,
कुंज कुंज क्यारिन कलोल करि फूलै हौ।
पान कै प्रकाम रस आम मंजरीन हू के,
अभिराम उर के आराम उनमूले हौ।
'हरिऔध' ठौर ठौर झौंर झुकि झूमि झूमि,
चूमि चूमि कंज की कलीन अनुकूले हौ।
तजि महमही मंजु मालती चमेलिन को,
कौन भ्रम बेलिन भ्रमर आज भूलै हौ॥

× × ×

"पेट जिनसे चीटियों तक का पला,
जा सके जिनके नहीं जाचक गिने;
कट रहे हैं पेट के काटे गये,
लट रहे हैं कौर वे मुँह का छिने।"

—अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

"हमारे भारत के नौनिहालो, प्रभुत्व वैभव विकास धारे।
सुहृद हमारे हमारे प्रियवर, हमारी माता के चख के तारे।
न अब भी आलस में पड़ के बैठो, दशो दिशा में प्रभा है छाई।
उठो अँधेरा मिटा है प्यारे, बहुत दिनों में दिवाली आई।"

—मन्नन द्विवेदी

"सरकारी कानून का रख कर पूरा ध्यान।
कर सकते हो देश का सभी तरह कल्याण॥

सभी तरह कल्याण देश का कर सकते हो।
करके कुछ उद्योग सोक सब हर सकते हो॥
जो हो तुम में ज्ञान, आपदा भारी सारी।
हो सकती है दूर, नहीं बाधा सरकारी॥"

—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

इसी युग में भक्तिकालीन आत्मा तथा रीतिकालीन शरीरवाली रचनाएँ भी हो रही थीं, जो प्राचीन वैष्णव-परंपरा को हृदयंगम करके चलनेवाले हिंदू-वर्ग को राष्ट्रीय कविताओं से किसी प्रकार कम आकर्षक नहीं प्रतीत हो रही थीं। जहाँ इस युग के दो महान् कवि मैथिलीशरण गुप्त तथा 'हरिऔध' जी ने पौराणिक कथानकों पर खड़ीबोली में रचनाएँ की थीं, वहीं जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने ब्रजभाषा में भक्तिकालीन काव्य-परंपरा को आगे बढ़ाया था। यद्यपि युग के प्रभावानुसार यहाँ हृदय-पक्ष की अपेक्षा बुद्धि-पक्ष की प्रधानता है तथापि भक्त कवियों-सा प्रभाव छोड़ने में 'रत्नाकर' जी सफल हुए हैं और कुछ दिनों के लिए तो इन्होंने एक बार फिर काव्य में ब्रजभाषा की धाक जमा दी थी। कुछ अन्य कवि भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं—

"चोप करि चंदन चढ़ायौ जिन अंगनि पै,
तिनपै बजाइ तूरि धूरि दरिबौ कहौ।
रस-रत्नाकर सनेह निरवार्यौ जाहि,
ता कच कौं हाय जटा-जूट बरबौ कहौ।
चन्द अरबिन्द लौं सराह्यौ ब्रज चन्द जाहि,
ता मुख कौ काकचंचुवत् करिबौ कहौ।
छेदि-छेदि छाती छलनी कै बैन बाननि सौं,
तामैं पुनि ताइ धीर-नीर धरिबौ कहौ॥"

—रत्नाकर

"नारी गही बैद सोऊ बनिगो अनारी सखि,
जानै कौन व्याधि यहि गहि गहि जाति है।
कान्ह कहे चौंकति बकति चकराति लखि,
धीरज की भीति हाय ढहि ढहि जाति है।
सहि सहि जाति नाहिं, कहि कहि जाति नाहिं,
कछू को कछू 'सनेही' कहि कहि जाति है।
बहि बहि जाति नेह, दहि दहि जाति देह,
रहि रहि जात प्रान, रहि रहि जात है॥"

तृतीय उत्थान-काल—तृतीय उत्थान-काल, जिसका आरंभ सामान्यतः १६१८ ई० से माना जाता है। वास्तव में नवभारत के निर्माण को सक्रिय गतिविधियों, उथल-पुथलों, जनांदोलनों, हिंसात्मक तथा अहिंसात्मक विद्रोहों एवं क्रांतियों, अंतर्राष्ट्रीय संपर्कों आदि से परिपूर्ण है। राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, साहित्य एवं कला की मान्यताओं आदि में जो आमूल परिवर्तन विश्व के अनेक विचारकों ने प्रस्तुत किए थे उससे हम भी पूर्णतया परिचित हो चुके थे। इस प्रकार एक व्यापक दृष्टिकोण हमारे साहित्यकारों को प्राप्त हो चुका था और वे उन बाह्य उपलब्धियों को अपनी परिस्थितियों के अनुसार टालने की चेष्टा कर रहे थे। हमारे कुछ साहित्यकार किसी मतवाद से प्रभावित हुए थे तो कुछ किसी अन्य से। वैविध्यपूर्ण सिद्धांतों ने साहित्यकारों को उनकी रुचि एवं उनके व्यक्तित्व के आधार पर न्यूनाधिक प्रभावित किया। यही कारण है कि इस तृतीय उत्थान-काल में हमें विभिन्न भावों के दर्शन होते हैं। आचार्य हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने इसका जो सूक्ष्म विभाजन किया है, वह सत्यता के काफी निकट है। इस युग के प्रथम दशक (१६२० से १६३० ई०) तक का साहित्य प्राचीन संस्कारों के प्रति विद्रोह एवं नवीन संस्कारों के प्रति आग्रह के भावों से पूर्ण है। विद्रोह की भावना राजनीतिक उथल-पुथल के परिवेश में और अधिक वेगवती हो जाती है। यह दशक भारतीय इतिहास में नवजागरण एवं स्वतंत्रता के निमित्त किये गए सक्रिय प्रयत्नों से परिपूर्ण है। १३ अप्रैल, १६१६ ई० में जलियाँवाले बाग (अमृतसर) का हत्याकांड होता है जिसमें दो हजार आदमी जनरल डायर के आदेश पर गोली से उड़ा दिए गए। इसने नेताओं की आँखें खोल दीं और तब स्थानीय स्वराज्य के स्थान पर पूर्ण स्वतंत्रता की माँग की जाने लगी। असहयोग एवं खिलाफत आंदोलन चलाए गये। यद्यपि गरम दल वाले गांधीजी की अहिंसात्मक नीति से असंतुष्ट रहे और गांधीजी के आगे उनकी नहीं चल पाती थी, तथापि उनके उग्र विचारों तथा अँगरेजों के अत्याचारों ने हमारे साहित्यकारों को विद्रोही भावों से भर दिया। रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना भी यहीं से भड़की। उस समय तो हमारे साहित्यकारों को नई स्फूर्ति प्राप्त हो गई, जब २६ जनवरी १६३० को काँग्रेस ने प्रथम स्वतंत्रता दिवस मनाया। सामाजिक नवजागरण का जो महामंत्र महात्मा गांधी ने फूँकना चाहा था, वह अब और सशक्त हो उठा, क्योंकि देश का नेतृत्व अब पूर्णतया गांधीजी के सबल हाथों में सौंप दिया गया था। जिस प्रकार राजनीतिक नेताओं में नरम तथा गरम दल था उसी प्रकार साहित्यकारों में भी दो प्रकार की विचारधारा वाले व्यक्ति थे। कुछ विशुद्ध गांधीवादी और कुछ उग्रवादी या विद्रोही। द्विवेदी-युग के अधिकांश कवियों का स्वर गांधीवाद से ही प्रभावित रहा पर कुछ युवक कवियों में विद्रोह की भावना तीव्र थी। इन दो प्रवृत्तियों के साथ-साथ जिनका संबंध मूलतः समाज से था, बाह्य जगत

से था, एक अंतर्मुखी प्रवृत्ति का भी परिचय, विचाराधीन युग में होता है, जिसे हम साहित्य में छायावाद के नाम से अभिहित करते हैं। इसके संबंध में हम आगे विस्तार-पूर्वक पढ़ेंगे। यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि बाह्य जगत् की अशांति ने जब कवियों को अंतर्मुखी बना दिया और साथ ही व्यक्तिवाद का प्राधान्य स्थापित हो गया तो हिंदी में छायावाद आने की उचित पृष्ठभूमि सर्जित हो गई। यह भी एक प्रकार का विद्रोह ही था। पर बहुत विनम्र, बहुत कोमल। प्रारंभ में तो स्वयं छायावाद के विरुद्ध भी आवाज उठाई गई थी, क्योंकि जो लोग राजनीतिक गतिविधियों का निकट से अध्ययन कर रहे थे और द्विवेदीयुगीन आदर्शवाद को शीघ्र ही यथार्थ के धरातल पर लाना चाहते थे उनके लिए छायावाद पलायन-मात्र ही ज्ञात हुआ। भाषा-शैली विषय-सामग्री सब कुछ में एक नई क्रांति ला देने वाला छायावाद वास्तव में, प्रारंभ में चौंका देने वाला था भी। इसकी प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के पूर्व हम छायावाद के विषय में पढ़ेंगे।

छायावाद

छायावाद की जितनी भी परिभाषाएँ तथा व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं, वे सब अनेक स्थानों पर वैषम्य का प्रदर्शन करती हैं और उनमें पारस्परिक साम्य के अवसर बहुत कम हैं। इसी प्रकार इसके मूल के सम्बन्ध में भी आलोचकों में मतैक्य नहीं है। कुछ इसे विशुद्ध भारतीय उपज मानते हैं तो कुछ विदेशी प्रभाव से उत्पन्न स्वीकार करते हैं। पहले हम परिभाषाओं की ओर ध्यान देंगे—

महादेवी वर्मा—"छायावाद का मूल दर्शन सर्वात्मवाद में है।"

डॉ० रामकुमार वर्मा—"आत्मा और परमात्मा का गुप्त वाग्विलास रहस्य-वाद है और यही छायावाद।"

डॉ० नन्ददुलारे वाजपेयी—"नई छायावादी काव्य-धारा का भी एक आध्या-त्मिक पक्ष है, पर उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं में, छायावाद में आध्यात्मिक तत्त्व का समावेश सूचित किया गया है, किन्तु कुछ ऐसे भी लोग थे, जो इसमें किसी प्रकार की आध्यात्मिकता नहीं पाते रहे, प्रत्युत वे इसमें लौकिकता की प्रधानता पाते हैं, यथा—

जयशंकर प्रसाद—"कविता के क्षेत्र में पौराणिक युग की किसी घटना अथवा देश-विदेश की सुन्दरी के बाह्य-वर्णन से भिन्न जब वेदना के आधार पर स्वानुभूतिमयी अभिव्यक्ति होने लगी तब हिन्दी में उसे छायावाद के नाम से अभिहित किया गया।"

डॉ० नगेन्द्र—"कोई आध्यात्मिक प्रेरणा छायावाद के मूल में है, यह मानना भूल होगी।"

डॉ० देवराज—"आधुनिक पौराणिक धार्मिक चेतना के विरुद्ध आधुनिक लौकिक चेतना का विद्रोह है।"

छायावाद के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ भी उठ खड़ी हुई थीं और जो विभिन्न एकांगी परिभाषाएँ दी गई थीं, उनसे भ्रान्तियों में और अधिक अभिवृद्धि हो उठी। आश्चर्य होता है कि इतना विरोधी वक्तव्य अन्य किसी साहित्य-धारा या काव्य-शैली के विषय में प्रस्तुत नहीं किया गया है। विभिन्न विद्वानों की कुछ अन्य परिभाषाएँ हैं,—

१. यह यूरोपीय रोमांटिसिज्म का भारतीय संस्करण है।

२. स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद है।

३. रहस्यवाद का ही दूसरा नाम छायावाद है।

४. प्रकृति में मानवीय या ईश्वरीय भावों के आरोप को ही छायावाद कहते हैं।

५. छायावाद एक प्रकार का पलायनवाद है।

६. छायावाद लाक्षणिक प्रयोगों, अप्रस्तुत विधानों और अमूर्त उपमानों को लेकर चलनेवाली एक शैली है।

७. यह अहं तथा वासनाओं का विस्फोट है।

८. रहस्यवाद का ही पहला रूप छायावाद है।

९. जो समझ में न आये वह छायावाद है।

१०. यह एक काव्य-शैली मात्र है।

पर इनमें से अधिकांश वक्तव्य कभी के निरर्थक सिद्ध हो चुके हैं। अब न तो छायावाद ऐसा रह गया है कि समझ में न आ सके और न ऐसा ही रहा कि उसे केवल एक काव्य-शैली स्वीकार करके संतोष कर लें।

मूल—छायावाद की परिभाषा से हमें इतना ज्ञात हो जाता है कि छायावाद का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध भक्ति की अन्तर्मुखी प्रवृत्तियों से स्थापित किया गया है। इसमें आध्यात्मिकता का दर्शन करनेवालों को यह रहस्यवाद के रूप में मिला है तो लौकिक धरातल के पक्षपातियों को स्वानुभूति या वैयक्तिक वेदना के रूप में। पर इसके स्रोत के सम्बन्ध में दो भिन्न मत हैं। कुछ लोग इसे अँगरेजी के रोमांटिसिज़्म से प्रभावित स्वीकार करते हैं तो कुछ भारतीय परिस्थिति में ही इसका मूल ढूँढ़ते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने कुण्ठा को ही छायावाद की उत्पत्ति का मूल कारण स्वीकार करते हुए लिखा है—

"राजनीति में ब्रिटिश साम्राज्य की अचल सत्ता और समाज में सुधार की दृढ़ नैतिकता असंतोष और विद्रोह (बन्धन मुक्ति) की इन भावनाओं को बहिर्मुखी अभि-व्यक्ति का अवसर नहीं देती थी, निदान ये भावनाएँ अन्तर्मुखी होकर धीरे-धीरे अचे-तन में जाकर बैठ रही थीं और वहाँ से क्षति-पूर्ति के लिये छाया-चित्रों की सृष्टि कर

रही थीं।''''आशा के इन्हीं स्वप्नों और निराशा के छाया-चित्रों की समष्टि का ही नाम 'छायावाद' है।''

डॉ० नगेन्द्र के उक्त विचारों में पर्याप्त सत्यता है। हमें इस कुण्ठा के साथ-साथ विद्रोह को भी जोड़ लेना होगा जो कुण्ठा द्वारा ही जनित है। द्विवेदी-युग की घोर नैतिकता एवं आदर्शवादिता के विरुद्ध छायावाद एक विनम्र विद्रोह है जिसका आभास स्वयं द्विवेदी युग के प्रथम चरणों में ही प्राप्त हो चुका था। द्विवेदी युग (सन् १९०० से १९२१ ई०) तक का काव्य विशुद्ध बौद्धिकता, नैतिकता, स्थूलता एवं उपदेशात्मकता का परिचय देता है और इसके विपरीत छायावाद विशुद्ध हार्दिकता, वैयक्तिकता, स्वच्छन्दता, इत्यादि तत्वों से परिपूर्ण है। ये अधिकांश तत्त्व अँगरेजी के रोमांटिसिज्म में भी थे जिससे हमारा बंगला साहित्य प्रभावित हुआ था, किन्तु केवल इसी आधार पर इस हिन्दी के छायावाद का मूल स्वीकार कर लेना, उचित नहीं हैं। द्विवेदी युग की साहित्यिक, राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थियों को ही हम छायावाद की उत्पत्ति का कारण मान सकते हैं। इन्हीं परिस्थितियों के प्रति—थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद आदि के प्रति विद्रोह के रूप में छायावाद का उदय हुआ। विदेश में रोमांटिसिज़्म के उदय के पीछे जहाँ फ्रांस की सफल क्रान्ति थी वहाँ भारत में असहयोग आन्दोलन की असफलता और राजनीतिक उत्पीड़न का अनुभव है। अतः दोनों को एक मान लेना अथवा रोमांटिसिज्म से प्रभावित होकर छायावाद का जन्म मान लेना असंगत है। विषय-सामग्री तथा शैली दोनों दृष्टियों से हम छायावाद को भारतीय उपज स्वीकार कर सकते हैं। इसकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति, करुणा, वेदना श्रृंगारपरक अनुभूति आदि का मूल हम रहस्यवाद में ढूंढ़ सकते हैं और शैलीगत विशिष्टताओं का सूत्र इन विरह-काव्यों में पा सकते हैं, जिनमें कवि अपने अलौकिक प्रियतम को लौकिक प्रेम-व्यापारों के माध्यम से देखता है और प्रकृति, पशु-पक्षी आदि के माध्यम से अपनी आन्तरिक व्यथा व्यक्त करता है। इस प्रकार छायावाद का अँगरेजी रोमांटिसिज़्म से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है और यह कहना केवल एक भ्रान्ति है कि रोमांटिसिज़्म से प्रभावित होकर हिन्दी में छायावाद का उदय हुआ। यदि सच पूछा जाय तो दोनों में साम्य के साथ-साथ वैषम्य भी है।

छायावाद तथा रोमांटिसिज़्म—यूरोप में रोमांटिसिज़्म समाज, धर्म, साहित्य, राजनीति आदि सबमें एक क्रान्ति ला देने की भावना लेकर आया और रोमांटिक कवियों ने एक नये भावजगत का निर्माण करके अपने में सिमटकर, उस शास्त्र जगत् में प्रकृति के कुछ अंगों-उपांगों को अपना सहचर चुनकर रहने की कल्पना की थी। विश्व के संघर्षों से वे पलायन करना चाहते थे और व्यक्तिवादी होने के नाते वे संसार की अधिकांश मान्यताओं से ऊब से गए थे। वे न अपना प्यार खुलकर जता सकते थे

और न अपनी घृणा। सारे असन्तोष, सारी कुण्ठा और अपनी सारी वासनाओं को वे व्यक्त करना चाहते हुए भी नैतिकता के भय से व्यक्त नहीं कर पाते थे। तब उन्होंने प्रकृति का सहारा लिया, प्रतीकों की शरण ली। फलतः अर्ध रोमांटिक कवि अन्तर्मुखी काव्य का प्रणयन करने लगे जिसमें प्रकृति-प्रेम, सर्वात्मवाद, वैयक्तिक वेदना आदि भावों को प्रधानता मिली।

हिन्दी के छायावाद में भी हमें प्रायः यही तत्त्व मिलते हैं, जिससे भ्रम उत्पन्न होने के कारण उपस्थित हो जाते हैं। छायावाद में भी हमें प्रकृत्ति-प्रेम, सर्वात्मवाद तथा वैयक्तिक वेदना के तत्त्व उपलब्ध होते हैं। पर इस साम्य के आधार पर ही हम दोनों को उसी प्रकार एक नहीं कह सकते हैं जिस प्रकार सूफी प्रेम-साधना तथा भारतीय प्रेम-साधना में पर्याप्त साम्य होते हुए भी हम दोनों को न तो एक मान सकते हैं और न एक दूसरे से प्रभावित हैं।

छायावाद की विशिष्टताएँ—हमें ज्ञात है कि मध्ययुगीन भक्ति काव्य जीव-जगत् तथा ब्रह्म को ही लक्ष्य मानकर चल रहा था। जगत् उसके लिए माया का साक्षात् रूप था और जीव को तो उसने ब्रह्म में ही लीन कर दिया था। इस प्रकार मध्ययुगीन भक्ति काव्य विशुद्ध आध्यात्मिक धरातल की वस्तु बनकर रह गया था और जहाँ इसमें कुछ लौकिकता है भी वह उच्च नैतिक स्तर पर आसीन है। रीतिकालीन कवि अति मांसलता-युक्त जीव को अपना वर्ण्य विषय बनाता है और वह वास्तव में माया के महाजाल का शृंगारिक रूप-चित्रण ही अपना परम लक्ष्य बनाकर चलता है। प्रकृति को उसने अपनाया अवश्य पर उद्दीपन विभाव के रूप में। छायावादी कवि जीव, जगत् और ब्रह्म इन तीनों की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी जीव और जगत् में जो ब्रह्म से व्युत्पन्न और समान सुख-दुख के भागी हैं, ऐकात्म्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। वह चाहे किसी विवशतावश ही ऐसा करता रहा हो, पर उसके लिए उसके पास पर्याप्त तात्त्विक आधार था। इस प्रकार **प्रकृति** छायावादी कवि की 'छाया' का आश्रय है। इसकी दूसरी विशिष्टता है नारी के प्रति **विशेष** दृष्टिकोण। **सौंदर्यानुभूति** की प्रधानता ने ही उसे यह दृष्टिकोण प्रदान किया है। इस छायावाद की अन्तिम विशेषता है **अज्ञात सत्ता के प्रति प्रेम एवं आत्म-समर्पण**। यह अज्ञात सत्ता ही जिज्ञासा का विषय बनती है—

> **"न जाने कौन अये छबिमान।**
> **जान मुझको अबोध अज्ञान,**
> **सुझाते हो तुम पथ अनजान,**
> **फूँक देते छिद्रों में गान,**

अहे सुख-दुख के सहचर मौन।
नहीं कह सकता तुम हो कौन।"
—सुमित्रानन्दन पन्त

किन्तु उपर्युक्त तीनों तत्त्व छायावाद में इतने घुले-मिले रूप आते हैं कि इनका पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना कठिन है। प्रकृति में ही वह सौंदर्य और अज्ञात सत्ता का दर्शन करता है। प्रकृति ही इनके जीवन-दर्शन को व्यक्त करने का माध्यम भी बनती है। अपने हृदय की वेदना को भी ये कवि प्रकृति पर ही आरोपित करते हैं। इस प्रकार संवेदनशील प्रकृति छायावाद का मूलाधार है और सर्वात्मवाद है इसका दार्शनिक आधार।

छायावाद की प्रवृत्तियाँ

छायावाद की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं,—

१. वैयक्तिकता, २. उद्दाम भावुकता, ३. अतिकाल्पनिकता, ४. स्वच्छन्दता, ५. प्रकृति-प्रेम, ६. सौन्दर्य-भावना, ७. करुणा। ८. प्रच्छन्न विद्रोह तथा ९. कलात्मकता।

वैयक्तिकता—जैसा कि प्रारंभ में ही कहा गया है, छायावादी जगत् की प्रत्येक धड़कन अनुभूति का विषय बनकर भी एक छायावादी कवि द्वारा प्रकाशित होते समय पूर्णतया वैयक्तिकता का जामा पहनकर आती है। आशय यह है कि सामान्य को विशेष बनाकर ही वह व्यक्त कर पाता था। वह 'मैं' तक सीमित-सा लगता है। पर वास्तव में इस 'मैं' में ही वह समष्टि को समेटे हुए है।

उद्दाम भावुकता—कवि स्वभावतः भावुक होते हैं किंतु छायावाद की भावुकता चरमावस्था को प्राप्त होती है। यह भावुकता कहीं-कहीं तो इतनी अप्राकृतिक या असाधारण हो उठी है कि साधरणीकरण तक असंभव हो जाता है। छायावादी काव्य की दुरूहता के मूल में इस उद्दाम भावुकता का भी कम हाथ नहीं है।

अतिकाल्पनिकता—स्थूल को सूक्ष्म रूप में व्यक्त करने के लिए छायावादी कवियों को कल्पना का सहारा लेना पड़ा है। यह कल्पना इतनी ऊँची उड़ान भरती है कि वह सहज ग्राह्य नहीं है। काल्पनिक चित्रों के निर्माण की चेष्टा छायावादी कवि अवश्य करता है किंतु अतिकल्पना के कारण चित्रोपमकता विशृंखल-सी हो जाती है और क्रमबद्धता नहीं रह पाती है।

स्वच्छंदता—जहाँ पूर्ववर्ती काव्य कुछ विशेष मान्यताओं तथा आदर्शों का आधार लेकर चल रहा था और वह भाव-प्रकाशन में लोक-दृश्य का पूरा-पूरा ध्यान रख रहा था वहाँ छायावाद अपनी वैयक्तिकता को सर्वोपरि मानकर स्वच्छंद भावों का स्वच्छ शैली में प्रकाशन करने लगा। भाषा, छंद और अलंकारों में स्वतंत्र प्रयोग इसी प्रवृत्ति के कारण देखने को मिलते हैं।

प्रकृति-प्रेम—छायावाद में प्रकृति को ही संबल बनाया गया है। प्रकृति के माध्यम से ही छायावादी कवियों ने अपने सभी भावों को व्यक्त किया है। यहाँ प्रकृति का मानवीकरण किया गया है और उसे मानव-मनोभावों का प्रतीक बनाकर चित्रित किया गया है। यही कारण है कि कुछ आलोचक प्रकृति के मानवीकरण या उस पर मानव-व्यक्तित्व के आरोप को ही छायावाद का मूलाधार स्वीकार करते हैं। प्रकृति और काव्य का संबंध बहुत प्राचीन है पर इसके उपयोग या चित्रण में, विभिन्न युग के कवियों ने भिन्नता का परिचय दिया है। जहाँ रीतिकालीन कवियों ने उद्दीपन के रूप में इसका चित्रण किया था, वहीं द्विवेदी युग में प्रकृति का शुद्ध चित्रण प्रस्तुत किया गया था। पर प्रत्येक युग में प्रकृति मानव-मन से प्रायः पृथक् रही। छायावादी कवि ने मनुष्य और प्रकृति में एकात्मकता स्थापित की। उसने इसका स्वतंत्र चित्रण भी किया है पर प्रकृति की संवेदनशीलता सर्वत्र पाई जाती है। दार्शनिक गुत्थियों का उल्लेख भी वह इसी प्रकृति के माध्यम से कर देता है। उपमा-उत्प्रेक्षा अलंकारों के रूप में तो प्रकृति का बहुत ही सुंदर उपयोग किया गया है।

बाह्य अशांतियों से ऊबा हुआ कवि इसी प्रकृति में आश्रय पाना चाहता है। यदि उसे स्थान का बोध नहीं है तो कहीं भी ऐसे निर्जन में जा छिपना चाहता है—

"ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी अम्बर के कानों में गहरी।
निश्चल प्रेम-कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।"

—प्रसाद

कवि का पलायन भी हमें यहीं देखने को मिलता है। वह बाह्य जगत् के कोलाहल से ऊबकर ही प्रकृति की शरण में जाता है।

सौंदर्य-भावना—सौंदर्यानुभूति प्रत्येक ललित कला की मूल प्रेरणा है। काव्य तो सौंदर्य-भावना पर ही आधारित है। सत्यम् और शिवम् के साथ सुन्दरम् का भाव भी जुड़ा हुआ है। किसी युग में सौन्दर्य का आलंबन कोई एक वस्तु है तो किसी युग में कोई दूसरी। वीर-गाथाकालीन कवियों ने योद्धाओं तथा वीरांगनाओं का सौंदर्य-निरूपण किया था। भक्तिकालीन कवि अपने आराध्य देव-देवियों को सँवारने में लगे रहे। रीतिकालीन कवि नारी नख-शिख में बँधे रह गए। भारतेन्दु तथा द्विवेदी-युग के अधिकांश कवि इन्हीं पूर्ववर्ती पद्धतियों में से किसी एक तक अपने को सीमित रखकर चलते रह गए पर छायावादी कवियों ने सौंदर्य को सीमित दायरे से बाहर निकालकर उसे एक व्यापक भाव-भूमि पर आसीन किया। प्रकृति में भी उन्होंने अपार सौंदर्य देखा। इस सौन्दर्य-भावना में वासना की गन्ध भी कम नहीं है। प्रकृति-चित्रण का एक उदाहरण देखिए—

बन्द कंचुकी के खोल दिए सब प्यार से
यौवन उभारने
पल्लव पर्यंक पर सोती शैफालिके
मूक आह्वान भरे लालसी कपोलों के
व्याकुल विकास पर
झरते हैं शिशिर से चुंबन गगन के ।

—निराला ('शैफालिका' से)

कहना न होगा कि सौंदर्य-भावना में ही छायावादी कवियों की प्रेम-भावना को भी उत्प्रेरित किया है । यह प्रेम-भावना, आदर्शवादी नैतिकता प्रधान युग की धरोहर के सम्मुख स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं की जा सकती थी । अतः प्रकृति के माध्यम से यह हमारे सामने आती है । नारी-सौंदर्य और नारी-प्रेम प्रकृति की कोमल पंखरियों की ओट में झाँकता हुआ दिखाई पड़ता है ।

करुणा—छायावादी कवियों का गहरा संबंध करुणा से रहा है । निराला को छोड़कर प्रायः सभी कवि आँसुओं में डूबे हुए दिखाई पड़ते हैं । महादेवी और पंत को तो आँसू का कवि ही कह सकते हैं । 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान' माननेवाले पंतजी का काव्य करुणा से ओत-प्रोत है । किंतु अंततः सबसे आशा का संचार होता है और करुणा को इस आशा से जो सहारा मिलता है उसमें एक अलौकिक आनंद की भी झलक दिखाई पड़ने लगती है ।

प्रच्छन्न विद्रोह—छायावादी कवियों की अंतर्वेदना, उनकी करुणा, कुंठा, निराशा-आशा आदि सब कुछ को ध्यानपूर्वक देखने से और साथ ही उनकी काव्य-शैली पर दृष्टि डालने से हमें स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि ये कवि वास्तव में पलायनवादी नहीं थे । वे किसी उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे । तब तक वे दबी आवाज में ही अपनी स्वच्छंदता का परिचय दे रहे थे । छायावाद के अनेक महत्त्व-पूर्ण कवि अवसर पाकर विद्रोही भावनाओं को व्यक्त करने लगते हैं । प्रकृति के शक्तिमय रूपों के चित्रण में हम इनकी इसी प्रच्छन्न विद्रोह-भावनाओं का दर्शन करते हैं ।

कलात्मकता छायावादी काव्य की आत्मसात विशेषता का उल्लेख करने के पश्चात् अब हम उसकी शैलीगत विशेषताओं पर ध्यान देंगे । छायावादी काव्य की शैलीगत विशिष्टताएँ हैं—

(१) प्रतीकात्मकता, (२) गीतात्मकता तथा (३) स्वच्छन्दता ।

प्रतीकात्मकता—तो छायावाद की शैली में प्राण है । अब तक साहित्य में ज्ञात, दृश्य और प्रस्तुत स्थूल वस्तुओं से ही सादृश्य स्थापित किया जाता रहा किंतु छायावादी कवि ने अदृश्य, अस्थूल, अज्ञात वस्तुओं से स्थूल एवं दृश्य वस्तुओं के

सादृश्य स्थापित करना आरंभ किया। इस सादृश्य-स्थापन में रूप साम्य के स्थान पर केवल गुण साम्य को महत्त्व दिया गया। उपमा तथा उत्प्रेक्षाओं के पूर्ववर्ती प्रयोगों को यह काव्य बिलकुल पीछे छोड़ देता है और इस प्रकार एक सर्वथा नवीन एवं चमत्कार-पूर्ण 'चित्र-भाषा-पद्धति' में रचनाएँ प्रस्तुत करता है। अप्रस्तुत उपादानों को छायावादी कवि प्रतीकों द्वारा ही व्यक्त कर पाता है, अतः इसे 'प्रतीक-प्रधान भाषा-पद्धति' भी कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति के विभिन्न अंग कुछ विशेष मनोभावों तथा विचारों के प्रतीक बनते हैं। इसी प्रकार कुछ विशेष तत्त्व भी संबद्ध प्रतीक धारण करते हैं। एक उदाहरण देखिए—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन-रस-सार लिए।
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिए॥

—प्रसाद

छायावादी कवियों के रूपकों की ओर भी हम संकेत करना चाहेंगे। इनमें भी वही प्रतीक-योजना है और चित्रोपमकता में देखते ही बनती है—

गीतात्मकता—छायावादी कवियों की एक प्रमुख विशेषता है। मध्यकालीन गीतिकाव्य का पुनरुद्धार एक नए कलेवर में, इसी युग में होता है।

छायावादी काव्य-शैली की तीसरी विशेषता है स्वच्छंदता। वैयक्तिकता इसके मूल में है। छंदों के क्षेत्र में पूरी स्वतंत्रता इसी युग में बरती गई थी। कुछ कवि तो किसी प्रकार का छंद में विधान मानते ही नहीं पर रचनात्मकता या गीतात्मकता में किसी प्रकार की कमी नहीं आ पाती है।

आचार्य शुक्ल ने छायावादी कविता की शैलीगत विशेषताओं की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षी-करण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार, कोमलपद विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।"

तृतीय उत्थान-काल की स्पष्ट विद्रोह-भावना—हमने प्रारंभ में ही संकेत किया था कि तृतीय उत्थान काल के प्रथम दशक १९२० से १९३० ई० के बीच कुछ कवियों ने राजनीतिक विद्रोहों को उकसाने वाली रचनाएँ भी की थीं। इतना ही नहीं इस युग के कुछ कवियों ने असहयोग आंदोलन में भाग लिया था और जेल-यात्राएँ भी की थीं। विद्रोही कविताएँ लिखनेवाले कवियों में माखनलाल जी चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा'

तथा बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का नाम विशेष आदर से लिया जा सकता है। नीचे इस युग की कुछ राष्ट्रीय कविताओं के उदाहरण दिए जा रहे हैं,—

"चाह नहीं मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं मोती-माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ में देना तुम फेंक।
मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।"

× × ×

"सुनावें तो बिजली के वाक्य, शीश भूपालों के झुक जायँ।
सृष्टिकर मरने से बच जाय, शस्त्र चण्डालों के रुक जायँ।
प्रेम के पालक हों या न हों, प्राणों के पूरे पालक हों।
'भारती' ने यों रोकर कहा, देश में ऐसे बालक हों।।"

—'एक भारतीय आत्मा'

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए।
एक हिलोर इधर से आए, एक हिलोर उधर से आए।
प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि त्राहि रव नभ में छाए।
नाश और सत्यानाशी का ! धुआँधार जग में छा जाए।
बरसे आग जलद जल जाए, भस्मसात भूधर हो जाए।
पाप पुण्य सद्सद भावों की, धूल उड़ उठे दाएँ बाएँ।
नभ का वक्षस्थल फट जाए, तारे टूक टूक हो जाएँ।"

—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

प्रगतिवाद

आधुनिक युग के द्वितीय दशक १९३० ई० से १९४० ई० के बीच हिन्दी-साहित्य में काव्य की एक विशेष धारा प्रवाहित होती है, जिसे प्रगतिवाद के नाम से अभिहित किया गया है। इस साहित्य में प्राचीन सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं, धार्मिक मान्यताओं, आर्थिक परिस्थितियों आदि को रचना का विषय बनाया जाता है और ऐसी सभी मान्यताओं का विरोध किया जाता है जो या तो अनावश्यक या अवांछनीय प्रतीत होती है। आशय यह कि अन्ध-विश्वासों, अत्याचारों, शोषणों आदि के विरुद्ध आवाज उठाना ही इस परम्परा के कवियों का लक्ष्य बन जाता है। इसे प्रगति कहा गया और इस साहित्य को प्रगतिवादी साहित्य की संज्ञा दी गई।

उद्भव एवं स्रोत

हमें ज्ञात है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य में सर्वप्रथम आदर्शवादी नैतिकता-प्रधान उपदेशात्मक रचनाएँ की जाती रहीं। भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग के पश्चात्

सौंदर्य-प्रधान छायावादी कविताएँ होने लगीं। जिनमें भाव एवं शैली दोनों दृष्टियों से सुकुमारता को सर्वोपरि स्थान दिया गया। इसके ठीक बाद ही एक ओर साधारण बोल-चाल की भाषा में किसान मजदूरों, दीन-दु:खियों तथा असहायों की दुर्दशा का चित्रण तथा दूसरी ओर पूँजीपतियों, जमींदारों, शासनाधिकारियों के अत्याचारों का नग्न चित्रण प्रस्तुत किया जाने लगा। काव्य की आत्मा एवं उसके बाह्य रूप में यह क्रान्ति-कारी परिवर्तन छायावाद से भी अधिक चौंका देनेवाला सिद्ध हुआ। इस अकस्मात् परिवर्तन को कुछ लोगों ने सर्वथा रूसी मार्क्सवादी का प्रभाव समझा पर कुछ आलो-चकों ने भारतीय साहित्य की पूर्ववर्ती परम्पराओं तथा ऐतिहासिक परिस्थितियों में इसका बीज ढूंढ़ा। यहाँ हम सर्वप्रथम ऐतिहासिक परिस्थितियों में प्रगतिवाद का मूल देखने की चेष्टा करेंगे।

ऐतिहासिक परिस्थितियाँ—आधुनिक युग की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का अध्ययन करते समय हमने देखा था कि भारतीय समाज पूर्ण-तया विशृंखल हो गया था। वर्णगत भेद वर्गगत एवं उपजातिगत भेदोपभेदों की प्रत्येक सीमा का उल्लंघन कर चुका था। सामाजिक भेदभाव की खाई बड़ी गहरी हो चुकी थी। अनेक सामाजिक अन्धविश्वासों से भारतीय समाज परिपूर्ण था। धार्मिकता केवल बाह्याडंबरों में सीमित हो गई थी। धर्म के उदात्त तत्त्वों का प्राय: लोप हो चुका था। धार्मिक अन्धविश्वासों की गठरी तो और भी भारी हो चुकी थी। देश की धार्मिक अवस्था बहुत कुछ वैसी ही हो चुकी थी जैसी हमारे पूर्व मध्यकालीन आचार्यों को प्राप्त हुई थी। आर्थिक शोषणों का उल्लेख करते हुए हमने उसी अनुच्छेद में यह संकेत किया था कि जमींदारों तथा अँग्रेजी शासकों द्वारा शोषण का कुचक्र लम्बे पैमाने पर चल रहा था। इन्हीं विषम परिस्थितियों में अनेक समाज-सुधारकों तथा धर्माचार्यों ने आधुनिक युग की प्रारम्भिक शताब्दियों में विभिन्न प्रकार की समाज-कल्याणकारी संस्थाओं को जन्म दिया था। २० अगस्त १८२८ ई० में राजा राममोहन राय ने ब्रह्मसमाज की स्थापना करके हमारी अनेक कुरीतियों का समूल अन्त करने की चेष्टा की थी। समाज में गिरी दृष्टि से देखी जानेवाली तथाकथित नीच जातियों के उत्थान के लिए इन्होंने जोरदार आवाज उठाई। केशवचन्द्र सेन के सहयोगियों द्वारा स्थापित, 'साधारण ब्रह्म समाज' ने तो समाज-सुधार-संबन्धी कार्यों में अत्यधिक रुचि ली और देश के एक बहुत बड़े भाग में उन्होंने सामाजिक नवचेतना का प्रचार किया। उधर महाराष्ट्र में गोपाल हरि देशमुख (सन् १८२३-१८९२ ई०) अँग्रेजी कम्पनी के आर्थिक शोषणों की कलई खोल रहे थे। यहीं 'परमहंस सभा' (१८४९ ई० में स्थापित) 'प्रार्थनासमाज' (१८६७ ई० में स्थापित) आदि द्वारा समाज-सुधार का कार्य किया जा रहा था। 'दलितोद्धार मिशन' ने पिछड़ी हुई जातियों के उद्धार में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्वामी

दयानन्द सरस्वती (सन् १८२४-१८८३ ई०) द्वारा तो समाज एवं धर्मसुधार का जो कार्य आधुनिक युग में हुआ था वह वास्तव में एक प्रगति ही थी। अनेक सामाजिक एवं धार्मिक अन्धविश्वासों को स्वामीजी तथा उनके शिष्यों ने झकझोर दिया। आलोचना की शैली भी कम उग्र न थी। बँगाल में स्वामी रामकृष्ण परमहंस (सन् १८३४ १८८६ ई०) तथा उनके विश्वविख्यात शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने धर्म-सुधार आन्दोलन का कार्य अपने ढंग से आगे बढ़ाया। दीन-दुखियों के हितार्थ तथा सांस्कृतिक नव-चेतना के प्रचारार्थ 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की गई। इन सारे प्रयत्नों के फल-स्वरूप भारत में सामाजिक तथा धार्मिक नवचेतना की लहर फैल चुकी थी। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस भी दीन-दुखियों के कल्याण एवं उद्धार की चिन्ता में लग चुकी थी। स्वयं महात्मा गांधी भी अछूतोद्धार का कार्य बड़े जोर-शोर से चला रहे थे। इस विवरण से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि आधुनिक युग की प्रारंभिक शताब्दियों में अनेक प्रगतिवादी समाज एवं धर्म सुधारक उत्पन्न हो चुके थे। इनके विचारों को ठीक उसी समय उसी उग्रता से व्यक्त करनेवाले कवियों का आविर्भाव अवश्य नहीं हुआ पर राजनीतिक हतोत्साह एवं ऊपरी दबाव से दबी हुई आवाज कालांतर में भड़क उठती है। पर बीच के युगों में यह आवाज बिल्कुल दबी हुई हो, ऐसी भी बात नहीं है। प्रगतिवादी साहित्य का प्रमुख वर्ण्य विषय वर्ग-संघर्ष और पूँजीपतियों के शोषण की कटु आलोचना उसी तीव्रता में भले न की गई हो, पर जैसा कि हम देख चुके हैं, भार-तेन्दु तथा द्विवेदी युग के अनेक कवियों ने इधर हमारा ध्यान आकृष्ट किया था। और इस विपन्नावस्था की आलोचना की थी। बालमुकुन्द गुप्त का यह आक्रोश अपने युग में एक प्रगतिवादी दृष्टिकोण ही था—

> **हे धनियों! क्या दीन जनों की नहिं सुनते हो हाहाकार;**
> **जिसका मरे पड़ोसी भूखा उसके भोजन को धिक्कार।**
> × × ×
> **हे धनवानो, हा धिक किसने हर ली बुद्धि तुम्हारी है,**
> **निर्धन उजड़ जा यँगे तब फिर कहिये किसकी बारी है।**

किन्तु राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के शब्दों में 'सरकारी कानून को रखकर पूरा ध्यान' ही इस युग के कवि कोई आवाज उठाते थे।

मिल-मालिक और मिल-मजदूरों के संघर्ष की बात रही। यहाँ न तो तब मिलें ही थीं और न एकत्र मिल-मजदूर ही। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्य के पूर्व ही इस प्रकार की विचार-धारा व्यक्त की जा रही थी पर आवाज में वह विद्रोही भावना न थी, समझने समझाने की बात अधिक थी।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का प्रभाव—अब तक हमने भारतीय इतिहास के आधुनिक युग की उन परिस्थितियों का सिंहावलोकन किया जिनमें प्रगतिवादी विचार-धारा पनप रही थी। अब हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, विशेषतया आर्थिक क्षेत्र में क्रांतिकारी विचार धाराओं को उकसानेवाले द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialactical Materialism) के प्रभावों पर विचार करेंगे जिसने विश्व-साहित्य को एक विशेष-धारा की ओर मोड़ने में सहायता प्रदान की।

मार्क्सवाद को द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहा जाता है। रूसी विचारक मार्क्स ने हीगल से द्वन्द्वात्मक तर्क-पद्धति, फायर बाख भौतिकवाद तथा चार्ल्स हाल से वर्ग-संघर्ष लेकर अपना द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद खड़ा किया था। इसी द्वन्द्व का ऐतिहासिक काल-क्रमानुसार परीक्षण तथा निरीक्षण ऐतिहासिक भौतिकवाद कहलाता है। मार्क्स के विचारानुसार सृष्टि में दो प्रधान तत्त्व हैं—'स्वीकारात्मक' (Positive) तथा 'नकारात्मक' (Negative)। इन्हीं दोनों तत्त्वों के संघर्ष को 'जीवन' कहते हैं और यह संघर्ष ही चेतना को जन्म देता है। यह चेतना द्वन्द्व का ही परिणाम है। यही कारण है कि इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद कहते हैं। चार्ल्स हॉल ने ही सर्वप्रथम वर्ग संघर्ष की भावना का प्रचार किया था। हीगल और फायर बाख ने वर्ग-संघर्ष की कोई बात तक नहीं उठाई थी। हीगल के मतानुसार सभ्यता के विकास के साथ-साथ ही शोषक और शोषित की उत्पत्ति हुई है। यहीं से सम्पत्ति के लिए युद्धादि का भी श्रीगणेश हुआ जो और कुछ नहीं, पूंजीपतियों के स्वार्थों की पूर्ति के साधन हैं। हीगल ने यह घोषणा की थी कि यदि देश की अर्थ-नीति एवं शासन-सूत्र निर्धनों के हाथ में दे दिया जाय तो युद्ध समाप्त हो जाएँगे। मार्क्स ने जैसा कि प्रारम्भ में ही संकेत किया जा चुका है, हीगल के इस विचार-धारा को अपनाया और उसने हीगल तथा फायरबाख के भौतिक-वाद को इसमें मिलाकर अपना नया मतवाद खड़ा करते हुए घोषित किया कि अर्थ का असमान वितरण ही संसार की विषमता का मूल कारण है। मार्क्स की विचारधारा को साम्यवादी दर्शन के नाम से भी पुकारा जाता है। हम आगे देखेंगे कि हमारे प्रगति-वादी साहित्य में इसी साम्यवादी दर्शन के दर्शन होते हैं और हमारे कुछ साहित्यकार तो गांधीवाद के स्थान पर साम्यवाद से ही अधिक प्रभावित हो जाते हैं। इतना ही नहीं, कुछ तो इसके प्लेटफार्मी प्रचारक भी थे। इन्हीं कवियों की रचनाएँ हमें यह सोचने की प्रेरणा देती हैं कि हिन्दी में प्रगतिवाद एक विदेशी उपज है, अन्यथा जैसा कि हम देख चुके हैं, भारतीय परिस्थितियाँ स्वयं इतनी सशक्त थीं कि वर्ग-संघर्ष एवं शोषण के प्रति विद्रोह करने का अवसर आ चुका था, ऐसी पृष्ठभूमि निर्मित हो चुकी थी। उत्तर-छायावाद (१९३६ से १९४० ई०) के अनेक कवियों में हमें क्रांतिकारी भावों के जो स्पष्ट दर्शन होते हैं, वह इसी पृष्ठभूमि की देन है। रामधारी सिंह 'दिनकर', नरेन्द्र

शर्मा, रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि उत्तर छायावादी कवियों तथा इनके पूर्ववर्ती निराला, पंत, भगवतीचरण वर्मा आदि ने भी प्रगतिशील साहित्य की रचना में योग प्रदान किया था। अतः द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पहले से चलनेवाली विचार-धारा को केवल एक उत्तेजना प्रदान करता है और कुछ विशेष साम्यवादी प्लेटफार्मी कवियों को जन्म देता है।

कुछ अन्य प्रभाव—उपर्युक्त दो प्रमुख प्रभावों के अतिरिक्त प्रगतिवाद पर कुछ अन्य प्रभावों की भी बात की जाती है। कुछ लोग इस पर **फ्रॉयड** के प्रकृतिवाद या अतियौवनवाद का प्रभाव देखते हैं तो कुछ **डारविन** के विकासवाद से भी इसे प्रभावित बताते हैं। इनके अतिरिक्त इस पर **उपयोगितावाद** का प्रभाव भी सूचित किया जाता है।

जहाँ तक डारविन के विकासवाद का सम्बन्ध है, बहुत पहले ही भारतीय विचारकों ने इसका खंडन कर दिया था। अतः विदेशी साहित्य को डारविन के विकासवाद ने चाहे जिस रूप में भी प्रभावित किया हो, हिन्दी-साहित्य पर इसका प्रभाव महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। छिट-पुट उल्लेखों के अतिरिक्त इस सिद्धान्त की कोई विशेष छाप हमारे प्रगतिशील साहित्य पर नहीं दिखाई पड़ती है पर फ्रायड के प्रकृतिवाद का प्रभाव ढूँढ़ लेने के भी कुछ अवसर प्रगतिशील साहित्य में मिलते हैं। फ्रॉयड ने जीवन के हर कार्य-व्यापार के मूल में हमारी काम-वासना को स्वीकार किया था। उन्होंने शिशु के दुग्धपान में भी कामानन्द की कल्पना की थी। उसके विचारानुसार सामाजिक बन्धनों या लोक-लज्जा के कारण हम अपनी जिस काम-भावना का बाह्य प्रकाशन नहीं कर पाते हैं, वह हमारी अन्तश्चेतना में बैठ जाती है। यहीं से कला के रूप में यह निःसृत होती है। चूँकि फ्रॉयड का अतियौनवाद भी जीवन के प्रति एक घोर भौतिकवादी दृष्टि-कोण था, अतः कुछ लोगों के लिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से इसका मेल मिला लेना सरल हो गया। सौभाग्यवश इसी समय साहित्य में यथार्थवाद का भी नारा लगता है, जिसके अनुसार विशुद्ध नैतिकता प्रधान-साहित्य को कोरी कल्पना घोषित किया गया और जीवन की वास्तविकता में उतर कर सत्य को तथ्यतः चित्रित करने का प्रयास किया जाने लगा। यह 'सत्य-निरूपण' साहित्य में प्रगतिवाद का हमजोली बनकर आता है। संयोग की बात है कि यथार्थ-चित्रण के नाम पर कुछ साहित्यकारों ने यौन-सम्बन्धी विषयों तक ही अपने को सीमित रखा। फलतः प्रगतिशील साहित्य पर फ्रॉयड के प्रकृतिवाद की छाप देखी जाने लगी। इसमें सन्देह नहीं कि प्रगतिवाद की कुछ प्रारंभिक रचनाएँ फ्रॉयड-दर्शन से प्रभावित थीं किन्तु भारत जैसे नैतिकता-प्रधान देश में, जहाँ मस्तिष्क से कोई कुछ भी रहे, हृदय से अध्यात्मवादी ही रहता है, इस प्रकार का साहित्य व्यापक निन्दा का विषय बना, जिसके फलस्वरूप अतियौनवाद का जोश

ठण्डा पड़ गया। उपयोगितावाद का कुछ प्रभाव हम प्रगतिशील-साहित्य पर अवश्य पाते हैं। काव्य के प्रयोजन को लेकर विदेशों में नए-नए सूत्र गढ़े जा रहे थे, यथा—कला कला के लिए, कला जीवन के लिए, कला जीवन से पलायन के लिए, कला आनंद के लिए, कला सेवा के लिए आदि-आदि। इनसे ही आदर्शवाद (Idealism) तथा यथार्थ-वाद (Realism) का उद्‌भव हुआ। कला में उपयोगितावाद का जन्म भी विदेशों में यहीं से होता है। किन्तु भारत में इस विदेशी माल के आयात की कोई आवश्यकता न थी क्योंकि काव्य की परिभाषा करनेवाले हर आचार्य ने हर युग में काव्य की उप-योगितावाद के निकष पर पहले ही कस दिया था। 'धर्मार्थकाममोक्षेषु' तथा 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे' में हम उपयोगितावाद का बीज पाते हैं। हित की भावना से साहित्य परिपूर्ण माना गया है। अस्तु उपयोगिता के लिए हमें अन्यत्र नहीं जाना था, बात केवल वर्णन-शैली या रूप की थी। इस प्रकार हम प्रगतिवाद के मूल में विदेशी उपयोगितावाद या यथार्थवाद को भी नहीं स्वीकार कर सकते हैं। इस पर यदि कोई प्रभाव है तो मार्क्सवाद का। पर यह केवल मार्क्सवाद की ही उपज नहीं है।

सारांश रूप में हम प्रगतिवादी साहित्य के मूल प्रेरणा-स्रोतों एवं परिस्थितियों का उल्लेख इस प्रकार कर सकते हैं—

१. **सांस्कृतिक पुनरुत्थान** की भावना जो आधुनिक युग की प्रथम शताब्दी में बलवती हो उठी थी और जिससे भारतेंदु तथा द्विवेदी युग के कुछ कवियों को प्रभावित किया था। भले ही ये कवि वर्ग-संघर्ष से अपरिचित रहे हों, पर वे शोषण के विरोधी थे तथा दलितों एवं निर्धनों के प्रति उदार दृष्टि रखते थे।

२. **राष्ट्रीय नवजागरण** जिसने गांधीजी के नेतृत्व में समाजवादी विचारधारा को जन्म दिया जिसमें विशुद्ध मानवतावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए ऊँच-नीच के भेद-भाव को मिटाने तथा राजनीतिक एवं आर्थिक शोषणों को कम करने की चेष्टा की गई। द्विवेदी युग के कुछ साहित्यकार तथा स्वच्छन्दतावादी धारा के कवियों में हमें ये विचार देखने को मिलते हैं।

३. **औद्योगिक क्रांति एवं मशीनयुग** ने भी प्रगतिशील साहित्य को कम उत्प्रेरित नहीं किया है। वास्तव में आधुनिक पूँजीवाद का उदय यहीं से होता है और तब मिल-मालिक और मिल-मजदूरों का भी वर्ग-संघर्ष यहीं से शुरू होता है जो प्रगतिवाद का प्रमुख वर्ण्य विषय बनता है। चूँकि भारतीय पूँजीवाद विदेशी पूँजीवाद के अनुकरण पर ही चल रहा था और श्रमिकों का संगठन तो पूर्णतया विदेशी ढर्रे पर ही रहा। अतः वर्ग-संघर्ष की भावना में भी यहीं से कुछ-कुछ विदेशी प्रभाव दिखाई पड़ने लगता है। रूस में किसान-मजदूरों की, जो विजय क्रांति के फलस्वरूप हुई थी, उसने भारत के

नेताओं की आँखें खोल दीं और वे इस बात की चिन्ता करने लगे कि भारत में भी पूँजीवाद के विरुद्ध आवाज उठाई जानी चाहिए।

४. **रूसी साम्यवाद** का प्रभाव भी प्रगतिवाद पर पड़ा है। रूस ने साम्यवाद के प्रचार के लिए प्रचुर साहित्य प्रकाशित एवं बितरित किया था। फलतः कम्युनिस्ट पार्टी से प्रभावित कुछ साहित्यकार रूसी साहित्य से भी बुरी तरह प्रभावित होते हैं और वे मूल-समस्या को छोड़कर केवल पार्टी के प्रचारार्थ तुक-बंदियाँ करने लगते हैं, किन्तु वे बहुत अधिक दिनों तक ऐसा न कर सके, क्योंकि कटु आक्षेपों ने इनमें ही दो दल कर दिए, कुछ प्रचार-कार्य का समर्थन करते रहे और कुछ इन्हें रूसी गुलाम कह कर अपना स्वतंत्र अस्तित्त्व स्थापित करने में तथा वास्तविक समस्या—वर्ग संघर्ष की समस्या—को सुलझाने में लग गए थे।

५. **प्रगतिशील लेखक संघ** की पहली बैठक सन १९३५ ई० में, मुंशी प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में हुई थी जिसमें मुंशीजी ने लेखकों से जागरण पूर्ण साहित्य-सर्जन के लिए प्रेरित करते हुए कहा था—

"हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सर्जन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो सब में गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करें; सुलाए नहीं क्योंकि अधिक सोना मृत्यु का लक्षण है।"

प्रेमचन्दजी भले ही 'प्रगतिशील' नामकरण से असहमत थे, क्योंकि उनके मतानुसार साहित्य में प्रगतिशीलता स्वतः रहती है। और यह भी सत्य है कि वे प्रारंभिक प्लेटफार्मों, प्रगतिवादी कवियों से असंतुष्ट थे, पर झाड़-फटकार सुनाकर भी वे प्रगतिवाद को सुन्दर पथ पर अग्रसर कराने में सहायक हुए और जो कार्य रूस में गोर्की की रचनाओं ने किया था प्रायः वही कार्य भारतीय साहित्यकारों के लिए प्रेमचंद की रचनाओं ने किया।

प्रगतिवाद की विशेषताएँ तथा उसके मूल तत्त्व

अब तक हमने प्रगतिवादी साहित्य के उद्‌भव एवं विकास सोपानों के विषय में जो कुछ अध्ययन किया है उससे हमें प्रगतिशील साहित्य की निम्नलिखित विशेषताओं का परिचय मिलता है—

१. प्रगतिशील साहित्य ने समाज के एक ऐसे अंग को अपनी रचना का विषय बनाया था, जिसकी अब तक प्रायः उपेक्षा की जा रही थी। यह अंग उपेक्षित होते-होते प्रायः पंगु हो चला था और इसके विरुद्ध इसका शोषक जो स्वभावतः, एक प्रगतिशील साहित्यकार की रचना के घेरे में आ जाता है और उसकी कटु आलोचना तथा

कभी-कभी गाली-गलौज तक का विषय बनता है, स्थूलकाय होता जा रहा था। इन दोनों के संघर्षों को अपनी रचना का विषय बनाकर प्रगतिशील साहित्यकार नूतन विषय सामग्री के चुनाव का परिचय देता है। इसके पूर्व दरिद्रनारायण के प्रसंग में दरिद्रों की तथा लक्ष्मी-पति के परिवेश में लक्ष्मीपतियों का वर्णन भले ही किया गया हो, पर उसमें न तो यह विद्रोही भावना थी और न अधिकार-याचना। यह विद्रोह-भावना तथा शोषित वर्ग की अधिकार भावना प्रगतिशील साहित्य की **प्रथम** प्रमुख विशेषता है।

२. इस साहित्य की **द्वितीय** विशेषता है असंगत प्राचीनता के मोह का त्याग। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में इस प्रकार की भावना पहले भी व्यक्त की जा चुकी थी और मध्य-युग में कबीर जैसा कोई दूसरा प्रगतिशील हिन्दी कवि नहीं हुआ था। तथापि प्रगतिशील साहित्यकार की दृष्टि केवल धार्मिक बाह्याडम्बरों तक ही सीमित न रहकर जीवन के एक व्यापक अंग पर पड़ी और जहाँ भी किसी प्रकार की कोई कृत्रिमता दिखाई दी, उस पर कुठाराघात करने की चेष्टा की गई। रूढ़ियों के प्रति विद्रोह को उसने अपना एक परम लक्ष्य बना लिया था, क्योंकि जब तक वह सठियाये हुए संस्कारों पर हथौड़े की चोट नहीं मारता तब तक नए विचारों को आगे लाने और उन्हें स्थापित करने के लिए उचित आधार नहीं मिलता।

३. प्रगतिशील साहित्य की **तृतीय** विशेषता है यथार्थ स्वरूप का कलात्मक उद्‌घाटन। यद्यपि कुछ प्रारम्भिक कवि यथार्थ को यथार्थतः अकलात्मक ढंग से चित्रित करते रहे पर आगे चलकर इस शुष्कता और 'अखबारनवीसी' में अन्तर पड़ा। धीरे-धीरे पर्याप्त कलात्मकता आई और तब तो यथार्थ बहुत ही सुन्दर एवं आकर्षक ढंग से चित्रित किया जाने लगा। इस प्रकार इतिवृत्तात्मकता ने कलात्मकता एवं चित्रोपमता का रूप धारण कर लिया। अब सुन्दर रूपकों तथा प्रतीकों से वर्ग संघर्ष एवं जागरण का महागान गाया जाने लगा, स्थूलता ने एक नया कलेवर बदला।

४. काव्य के उद्देश्य को लेकर, यद्यपि प्रगतिवाद कोई सर्वथा नवीन मान्यता नहीं प्रस्तुत करता है, तथापि इसकी चतुर्थ विशेषताओं के रूप में हम इसके नवीन जीवन-दर्शन को सम्मिलित कर सकते हैं, जो इसकी अपनी थाती न होकर मार्क्सवादी दर्शन से उधार ली हुई है। इसी जीवन-दर्शन ने उसे कला के क्षेत्र में नई टेकनीक, नया छन्द, नई भाषा तथा नई भावाभिव्यक्ति के लिए प्रेरित किया है।

५. इसकी **पाँचवीं** विशेषता है बोधगम्यता। प्रगतिशील साहित्यकारों ने जिनके लिए यह साहित्य लिखा था उनकी भाषा-सम्बन्धी सीमाओं को भी ध्यान में रक्खा था। न सेठ जी में छायावादी भाषा को चुरा लेने की क्षमता थी और न फडुआ मजदूर में

इसे समझने की बुद्धि थी। अत: प्रगतिशील साहित्यकार ने जनता की भाषा में ही जनता की बातें कहीं।

६. व्यंग्यात्मकता इसकी **छठीं** विशेषता है। इस पीढ़ी के कुछ कवियों ने छायावादी सूक्ष्मता के विरुद्ध आवाज तो अवश्य उठाई थी, किन्तु जब उन्होंने प्रगतिवादियों की इतिवृत्तात्मकता की शुष्कता एवं अप्रभावोत्पादकता का अनुभव किया तो यह निश्चय कर लिया कि काव्य को स्वरूप एवं स्वगुण से युक्त होना ही चाहिए, भले ही वह बनावट से दूरी और यथार्थ की भूमि पर हो। पर यह विशेषता केवल उन्हीं कवियों में मिलती है, जो पहले छायावादी रचनाएँ कर चुके थे।

७. प्रगतिशील साहित्य की **सातवीं** विशेषता है सतत विकास शीलता। विकास को ही वे जीवन मानकर चलते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने भाव एवं भाषा दोनों पक्षों में विकास लाने की चेष्टा की। जीवन का ध्येय भी वे सतत विकास ही स्वीकार करते हैं।

अन्त में हम प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रमुख आलोचकों का मत उद्धृत करना चाहेंगे।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—

"इनके सिद्धान्त और उद्देश्य बहुत सुन्दर हैं, लेकिन ये लोग कम्युनिस्ट पार्टी के साथ जुड़े हुए हैं, यही जरा खटकता है। अगर ये लोग दल द्वारा परिचालित होना छोड़ दें तो सब ठीक हो जाय।....प्रगतिशील आन्दोलन बहुत महान् उद्देश्य से चालित है। इसमें सांप्रदायिक भाव का प्रवेश नहीं हुआ तो इसकी सम्भावनाएँ अत्यधिक हैं। भक्ति-आन्दोलन के समय जिस प्रकार एक अदम्य, दृढ़ आदर्श निष्ठा दिखाई पड़ी थी, जो समाज को नए जीवन-दर्शन से चालित करने का संकल्प वहन करने के कारण अप्रतिरोध्य शक्ति के रूप में प्रकट हुई थी, उसी प्रकार यह आन्दोलन हो सकता है।"

आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी—

"साहित्य के सामाजिक लक्ष्यों और उद्देश्यों का विज्ञापन करनेवाली यह पद्धति साहित्य का बहुत कुछ उपकार भी कर सकी है। उसने हमारे युवकों को एक नई तेजस्विता भी प्रदान की है और एक नया आत्मबल भी मिला है।....हम यह भी नहीं कह सकते कि प्रगतिवादी समीक्षा ने हिंदी को कुछ दिया ही नहीं। उसने दो वस्तुएँ मुख्य रूप से दी हैं : **प्रथम**, यह कि काव्य-साहित्य का समन्वय सामाजिक वास्तविकता से है और वही साहित्य मूल्यवान् है जो उक्त वास्तविकता के प्रति सजग और संवेदनशील है;

द्वितीय यह कि जो साहित्य सामाजिक वास्तविकता से जितना ही दूर होगा, वह उतना ही काल्पनिक और प्रतिक्रियावादी कहा जाएगा। न केवल सामाजिक दृष्टि से वह

अनुपयोगी होगा, साहित्यिक दृष्टि से भी हीन और ह्रासोन्मुख होगा। इस प्रकार साहित्य के सौष्ठव-संबंधी एक नई माप-रेखा, एक नया दृष्टिकोण इस पद्धति ने हमें दिया है, जिसका उचित प्रयोग हम करेंगे।"

प्रयोगवाद

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् हिंदी-साहित्य में काव्य की एक नई शैली को जन्म देने की सजग चेष्टा की गई, जिसका नामकरण प्रयोगवाद किया गया। यहाँ हम प्रयोगवाद पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

प्रेरणा-स्रोत

हमें ज्ञात है कि आधुनिक युग विभिन्न प्रकार के आंदोलनों से परिपूर्ण रहा है। इस युग में अनेक राजनीतिक मतवादों का उदय हुआ है। पूँजीवाद, साम्यवाद आदि आर्थिक सिद्धांतों का उदय भी इसी युग में हुआ है। हमें यह भी ज्ञात है कि हर नये सिद्धांत की प्रतिक्रिया भी साहित्य में देखने को मिली है। कहीं यह पलायन के रूप में सामने आई है तो कहीं विद्रोह के रूप में। द्वितीय महायुद्ध के पहले तक बड़ी ईमानदारी के साथ अनेक महत्त्वपूर्ण कवि शोषितवर्ग की दीन-हीन अवस्था के प्रति सहानुभूतिपूर्ण भाव व्यक्त करते हुए शोषकों के प्रति अपना आक्रोश प्रकट कर रहे थे। सन् १९२० से १९३० ई० के बीच छायावाद के नाम से जीवन की दोपहरी से ऊब कर अंतर की छाया में जो पलायन किया गया था, उसके विपरीत सन् १९३० से १९४० ई० के बीच प्रगतिवादी कवियों ने काव्य को जीवन की खड़ी दोपहरी में ला खड़ा किया। इसमें बहुत कुछ बहुजन हिताय की भावना थी किंतु पूँजीपतियों को इस साहित्य से घबराहट हुई, ठीक वैसी ही जैसी यूरोप में वर्षों पहले हो चुकी थी। मानव-शक्ति का धन-शक्ति से संघर्ष हो जाने पर यह आवश्यक है कि धनिकों का अहित होता है। इधर प्रगतिशील कवि पूँजीवाद के विरुद्ध इतना तीव्र विद्रोह खड़ा कर देना चाहता था कि अँधेरी कोठरी के सात ताले में बंद तिजोरियाँ कँपकँपा उठे। अतः न जाने कैसे एक ऐसी चाल चली गई कि प्रगति के स्थान पर प्रयोग किया जाने लगा। बस यहीं से प्रयोगवाद का जन्म होता है। जैसा कि हम आगे देखेंगे, प्रयोग नाम का बहुत लंबा जाल फैलाया गया। अथक परिश्रम करके काव्य के नए-नए अछूते विषय चुने गए। भाषा के नए-नए प्रयोग किए गए। अलंकारों को नए ढंग से जड़ना आरंभ किया गया और यह सब केवल इसलिए किया गया कि पूँजीवाद के खिलाफ आग उगलनेवाली लेखनी रुक जाय। 'अज्ञेय' जी ने प्रयोगवादियों का एक नया अखाड़ा तैयार किया और 'सप्तक' पर 'सप्तक' छापकर कुछ पुराने तथा अधिकांश नई प्रतिभा को अपने मत में दीक्षित कर लिया।

कहा नहीं जा सकता कि प्रयोगवाद के कटु आलोचकों के कथनों में कहाँ तक सत्यता है पर इतना तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि जिस युग ने प्रगतिवाद को पीछे धकेलने के लिए प्रयोगवाद नामक लुभावना खिलौना लाया गया था, उस समय ऐसे किसी प्रयोग की आवश्यकता न थी। हमारी सभी समस्याएँ ज्यों की त्यों मुँह बाए खड़ी थीं। पराधीनता की जंजीरें पूर्ववत् कसी हुई थीं। आर्थिक शोषण का कुचक्र ज्यों-का-त्यों चल रहा था। अतः यदि इस बेवक्त की शहनाई को किसी गोपनीय चाल, किसी स्वार्थपूर्ण हथकंडे की उपज कहें अथवा ऐसी आशंका ही करें तो अनुचित नहीं है।

प्रयोगवाद की प्रवृत्तियाँ

परिभाषा—इसके पूर्व हम प्रयोगवाद की प्रवृत्तियों का उल्लेख करें, पहले हम प्रमुख प्रयोगवादियों द्वारा इसकी परिभाषा पर दृष्टिपात करेंगे।

"प्रयोगशील कविता में नए सत्यों या नई यथार्थताओं का जीवित बोध भी है, उन सत्यों के साथ नए रागात्मक संबंध भी, और उनके पाठक या सहृदय तक पहुँचाने यानी साधारणीकरण करने की शक्ति है।"

—अज्ञेय

"प्रयोगों का लक्ष्य है—व्यापक सामाजिक सत्य के खंड अनुभवों का साधारणीकरण करने में कविता को भावानुकूल माध्यम देना जिसमें 'व्यक्ति' द्वारा इस 'व्यापक' सत्य का सर्वबोधगम्य प्रेषण संभव हो सके।"

—गिरजाकुमार माथुर

"प्रयोगवादी कविता में भावना है, किंतु हर भावना के सामने एक प्रश्न-चिह्न लगा हुआ है। इसी प्रश्न चिह्न को आप बौद्धिकता कह सकते हैं। सांस्कृतिक ढाँचा चरमरा उठा है और यह प्रश्न-चिह्न उसी की ध्वनि-मात्र है।"

—धर्मवीर भारती

अज्ञेय जी ने 'तारसप्तक' में प्रयोगवाद के विषय में जो कुछ लिखा है उस पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उन्होंने गजानन माधव मुक्तबोध, नेमिचंद्र, भारतभूषण, प्रभाकर माचवे, गिरजाकुमार माथुर, डॉ० रामविलास शर्मा तथा स्वयं अपनी रचनाएँ संकलित करके सन् १९४३ ई० में 'तारसप्तक' प्रकाशित कराया था। प्रयोगवादियों की रचनाओं के इस प्रथम संग्रह में अज्ञेय जी लिखते हैं—

"उनके तो एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं—राही नहीं राहों के अन्वेषी।.... काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है।.... उनमें मतैक्य नहीं है, सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में उनकी राय अलग-अलग है—जीवन के विषय में समाज और धर्म और राजनीति के विषय में काव्य वस्तु और शैली के,

छंद और तुक के, कवि के दायित्वों के—प्रत्येक विषय में इनका आपस में मतभेद है। यहाँ तक कि हमारे जगत् के ऐसे सर्वमान्य और स्वयं-सिद्ध भौतिक सत्यों को भी वे स्वीकार नहीं करते, जैसे लोकतंत्र की आवश्यकता, उद्योगों का समाजीकरण, यांत्रिक युद्ध की उपयोगिता, वनस्पति घी की बुराई अथवा काननबाला और सहगल के गानों की उत्कृष्टता आदि। सब एक दूसरे की रुचियों, वृत्तियों और आशाओं, विश्वासों पर एक-दूसरे की जीवन-परिपाटी पर और यहाँ तक कि एक-दूसरे के मित्रों और कुत्तों पर भी हँसते हैं।"

यह है अज्ञेयजी का वक्तव्य जो यह स्पष्ट घोषित करता है कि प्रयोगवाद जान-बूझकर चलाई गई एक काव्य-शैली थी, जिसके निर्माता 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' की स्थिति में थे। फिर जब ऐसी स्थिति थी तो भानुमती का यह कुनबा जोड़ने की कौन-सी आवश्यकता थी? 'तारसप्तक' का प्रकाशन क्यों?

उद्देश्य—'प्रथम सप्तक' में प्रयोगवादियों का उद्देश्य कुछ स्पष्ट न हो सका था। उनका रवैया देखकर यही अनुमान किया गया कि वे एक नया झंडा खड़ा करना चाहते हैं, जिसके नीचे दस-बीस प्रतिभाशाली युवक खड़े हो सकें जो साहित्य में हर प्रकार का 'नया प्रयोग' ला सकें और चूँकि सजग-संगठित प्रयास के रूप में यह कार्य चलता (और चलता भी) इसलिए विरोध की भी आशंका कम रह जाती। पहले सप्तक के तो अधिकांश कवि मँजे-मँजाए थे। उनके सजग प्रयोगों की आत्मा में संस्कारों की छाप थी, जिससे अज्ञेयजी का प्रयोग दूसरे प्रयोग की अपेक्षा रखने लगा। फलतः उन्होंने 'प्रतीक' नामक पत्रिका के माध्यम से उदीयमान कवियों को पाठ पढ़ाना शुरू किया। उन्हें सफलता भी मिली और दूसरा 'सप्तक' १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ, जिसमें भवानीप्रसाद मिश्र, शकुंतला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश कुमार मेहता, रघुवीरसहाय तथा धर्मवीर भारती की कविताएँ थीं। इसे ही वास्तव में प्रयोगवादी कविताओं का प्रथम संग्रह स्वीकार करना चाहिए। तीन वर्ष बाद १९५४ ई० से 'नई कविता' नाम से प्रयोगवादी कविताओं का अर्धवार्षिक संग्रह निकलना आरंभ हुआ, जिसके संपादक थे डा० जगदीश गुप्त। 'निकष' में प्रयोगवादी कविताओं के साथ-साथ इस साहित्य की संपूर्ण विधाओं का संग्रह किया जाने लगा। इन सारे संग्रहों को देखकर इनके उद्देश्य को समझ सकना कठिन नहीं है। इनका प्रमुख उद्देश्य और यदि सच पूछा जाए तो एकमात्र उद्देश्य नई विषय-सामग्री और नई शैली को किसी प्रकार खोज निकालना है। अज्ञेयजी के शब्दों में ही "प्रयोग सभी कालों के कवियों ने किए हैं किंतु कवि क्रमशः अनुभव करता आया है कि जिन क्षेत्रों में प्रयोग हुए हैं, आगे बढ़कर अब उन क्षेत्रों का अन्वेषण करना चाहिए, जिन्हें अभी छुआ नहीं गया या जिनको अभेद्य मान लिया गया है।"

डा० रामकुमार वर्मा ने वैचित्र्य तथा चमत्कार-प्रदर्शन के लिए ही इस प्रयोग के प्रति आशंका व्यक्त करते हुए ठीक ही लिखा है—

"........केवल प्रयोग के नाम पर ही किसी रचना को काव्य की श्रेणी में रखने में आपत्ति हो सकती है। अधिकांश प्रयोगवादी रचनाओं को देखने से यह आशंका होती है कि कहीं वैचित्र्य को ही तो काव्य की संज्ञा नहीं दी जा रही है। कहीं-कहीं प्रयोगवादी रचनाओं में नवीनता का दुराग्रह भी दिखाई देता है।"

दोष—डॉ० नंददुलारे वाजपेयी ने प्रयोगवादी रचनाओं को केवल बुद्धिवाद से ग्रस्त स्वीकार किया है। अन्यान्य आलोचकों ने भी इनकी रचना का उद्देश्य नवीनता के प्रति दुराग्रह ही स्वीकार किया है और प्रयोगों के इस बाहुल्य को वास्तविक साहित्य-सर्जन तक नहीं स्वीकार किया है—

"किसी भी अवस्था में यह प्रयोगों का बाहुल्य वास्तविक साहित्य-सर्जन का स्थान नहीं ले सकता। प्रयोग में और काव्यात्मक निर्माण या सर्जन में जो मौलिक अंतर है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, विशेषकर काव्य का क्षेत्र प्रयोगों की दुनिया से बहुत दूर है। कवि सबसे पहले अपनी अनुभूतियों के प्रति उत्तरदायी है। वह उनके साथ खिलवाड़ नहीं कर सकता। उसका दूसरा उत्तरदायित्व काव्य-परंपरा और काव्यात्मक अभिव्यक्ति के प्रति है। वह किसी भी अवस्था में ऐसे प्रयोगों का पल्ला नहीं पकड़ सकता, जिसका इस काव्य के भावगत और भाषागत संस्कारों से तथा उन दोषों के स्वाभाविक विकास-क्रम से सहज संबंध नहीं है।"

इस प्रकार उद्देश्यहीन साहित्यकार प्रयोग के लिए प्रयोग करता दिखाई पड़ता है। यही इसकी पहली कमी है।

इस साहित्य की दूसरी कमी यह है कि यह केवल वर्ग-विशेष का साहित्य है। 'नई कविता' के पुराने सम्पादक डॉ० जगदीश गुप्त के अपने शब्दों में—

"कुछ व्यक्ति ऐसे भावुक होते हैं कि अपनी तन्मयता में कविता का अर्थ बिना समझे उसके संगीत पर ही मुग्ध हो उठते हैं। नई कविता कदाचित् ऐसे व्यक्तियों के लिए भी नहीं है। वह उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्ष्य करके लिखी जा रही है, जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नए कवि के समान है अर्थात् जो उसके समानधर्मा हैं," एक ओर जो पुरानी कविता की अभिव्यंजना-प्रणालियों, शक्तियों और सीमाओं से परिचित हैं और जिनकी परितृप्ति वस्तु और अभिव्यक्ति से नहीं होती या होती है तो संपूर्ण रूप में नहीं, दूसरी ओर जो नई दिशाएँ खोजने में संलग्न नूतन प्रतिभा की क्षणिक असफलताओं और कठिनाइयों के प्रति सहानुभूतिशील होकर नए कवि की वास्तविक उपलब्धि की प्रशंसा करने में संकोच नहीं करते।........बहुत अंशों में नईकविता ऐसे प्रबुद्ध भावुक वर्ग पर आश्रित रहती है........भले ही यह वर्ग

संख्या में कम हो, क्योंकि इसका महत्त्व संख्या से नहीं, उस स्थिति से आँका जाता है, जिससे कि अनेक अनुभवों को संचित करता हुआ यह पहुँचा होता है।

स्पष्ट है कि प्रयोगवादी कवि नई कविता के नाम से कुछ ऐसा प्रयोग कर रहे हैं जो कुछ व्यक्तियों पर चल रहा है। ये कुछ गिने-चुने तथाकथित 'विवेकशील आस्वादक' सचमुच प्रयोगशाला के वे जीव होंगे, जिन्हें खिला-पिला कर मोटा-ताजा रक्खा जाता है, पर साधारण जनता की उपेक्षा करके, सामाजिक विषयों को केवल अपने ही रंगीन चश्मे से देखकर के नया कवि जो यह नारा लगाता है कि वह सामाजिक असंतोष और विषमता का चित्रण कर रहा है, तो यह कितना नया झूठ है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ऐसे कवियों एवं लेखकों के प्रति यदि निम्न विचार व्यक्त करते हैं तो इसमें किसी प्रकार की कोई अनुदारता या कट्टरता नहीं—

"प्रयोगवादी साहित्यिक से साधारणतः उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी रचना में कोई तात्त्विक अनुभूति, कोई स्वाभाविक क्रम-विकास या कोई सुनिश्चित व्यक्तित्व न हो।"

प्रयोगवादी साहित्य की तीसरी कमी है अतिबौद्धिकता-जनित दुरूहता। साधारणीकरण का तो जैसे यहाँ पूर्ण परित्याग कर दिया गया है। सहानुभूतिपूर्ण होकर भी यदि कोई इन रचनाओं को समझने की चेष्टा करे तो नहीं समझ पाएगा। आशंका है कि स्वयं रचनाकार भी एक-दो साल पुरानी अपनी ही रचनाओं को ठीक उसी रूप में समझ पाएगा या नहीं जिस रूप में उसने रचना के समय लिया था।

शैलीगत अंतिम दोषों की ओर संकेत करके हम अपना यह अध्ययन समाप्त करेंगे। पहले कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

"सभ्यता लांड्री की धुली हुई चीज़ नहीं
जगह-जगह मैली है,
मटियाली अर्गनी पर फैली है!
नए-नए धब्बे हैं
नए-नए नाम हैं
कुछ तो हैं चेहरे पर के ब्यूटी-स्पाट-से
मिटते बनते रहते
जो सुबहो-शाम हैं।
उनमें से एक का ज्यादा है फैशन
नाम तो विदेशी है
किन्तु बहुत मिलता है आजकल—
फ्रस्ट्रेशन!"

—राजनारायण बिसारिया

"फलतः
—थे जहाँ वहीं पर ठहरे हैं।
सभी विवादों-संवादों के प्रति
हम लगभग बहरे हैं।"

—अजितकुमार

"वस्तुएँ :
न खुश है, न उदास।
सिर्फ
एक रंग है,
असंख्य रंगों में कोई एक रंग
जिसकी अनुपस्थिति
आकाश में
जगह-जगह
चिपकी हुई है!"

—केदारनाथ सिंह

स्पष्ट है कि भाषा के क्षेत्र में ये कुछ ऐसे प्रयोग कर रहे हैं, जो केवल हास्यास्पद बनकर रह जाएगा। जिस प्रकार छायावादी कवियों ने कुंठित भावों को सुन्दर रूप प्रदान किया था, उसी प्रकार प्रयोगवादी कवि ऊबड़-खाबड़ भावों को कुंठित भाषा में भरने का प्रयोग कर रहे हैं। जिसे ये शैलीगत उपलब्धियाँ कहते हैं वही इनकी असाहित्यिकता एवं अकलात्मकता का कारण है। यदि इस व्यामोह से हट कर कबीर, तुलसी अथवा फिर छायावादियों जैसा भाषा शैली संबंधी प्रयोग भी ये करते तो कोई विशेष आपत्ति किसी को न होती। फिर इनके लिए प्रगतिवादियों की भाषा ही क्या बुरी थी। शैली में ये जो भी प्रयोग लाते संभवतः लोग उसके अभ्यस्त हो जाने पर—

अगर कहीं मैं तोता होता!
तो क्या होता?
तो क्या होता,
तोता होता!
(आह्लाद से झूम कर)
तो तो तो तो ताता ताता
(निश्चय के स्वर में)
होता होता होता होता!

—सत्यप्रिय मित्र

हिन्दी साहित्य के कुछ अन्य वाद

आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास-क्रम में छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद ये तीनों साहित्यवाद मूलतः आधुनिक युग की ही उपज हैं। किन्तु इनके इतर भी कुछ साहित्यवाद आधुनिक युग में देखने को मिलते हैं, जिन पर यहाँ संक्षेप में प्रकाश डाला जाएगा। ये प्रमुख वाद हैं—रहस्यवाद, आदर्शवाद तथा यथार्थवाद। रहस्यवाद का मूल बहुत प्राचीन है, आदर्शवाद भी कम प्राचीन नहीं है और यथार्थवाद इसी आदर्शवाद की प्रतिक्रिया के रूप में चला है।

रहस्यवाद

'रहस्यवाद' शब्द की व्याख्या 'रहस्य' शब्द पर बहुत कुछ आधारित है। जब कुछ अज्ञात होते हुए भी ज्ञान द्वारा अनुमानित था परिकल्पित किया जाता है तो वह रहस्य का विषय बनता है। क्योंकि भेद खुल कर भी नहीं खुल पाता है और रहस्य अन्त तक रहस्य बना रह जाता है। यह भी स्पष्ट है कि रहस्य की बात अभौतिक तत्त्व के लिए ही होगी, क्योंकि जो स्थूल है, भौतिक है उसे कभी न कभी जाना जा सकता है और इस प्रकार उसके प्रति जो जिज्ञासा उठी रहती है वह शान्त हो सकती है। अतः मूलतः रहस्यवाद तात्त्विक चिन्तन का विषय है। यह दर्शन से है। किन्तु जब दार्शनिकों के रहस्यवाद ने साहित्यकारों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया तो उन्होंने भी इसे अपनी रचना का विषय बनाया। कुछ ऐसे भी कवि हुए जिनमें ब्रह्म-जिज्ञासा स्वतः स्वाभाविक ढंग से उद्भूत हो उठी। यहाँ हमें इन्हीं अवस्थाओं का अध्ययन अपेक्षित है।

दार्शनिक रहस्यवाद

दार्शनिक रहस्यवाद का इतिहास लोग ऋग्वेद से आरम्भ करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ऋग्वेद में चिन्तकों ने किसी परम सत्ता के अस्तित्व की कल्पना की थी किन्तु यह विचारधारा पूर्ण विकास पाती है उपनिषदों में। यहाँ ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करते हुए, सर्वत्र उसका अस्तित्व दिखाते हुए आत्मा में भी उसे ढूँढ़ने का उपदेश दिया गया है। आत्मज्ञान ही ब्रह्म-ज्ञान है यह उपनिषेदों का महामन्त्र है। इस ब्रह्म-जिज्ञासा को, जो बल उपनिषदों में दिया गया था, वह बहुत अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ। पारवर्त्ती ग्रन्थकारों ने यहीं से ब्रह्म-निरूपण का सूत्र प्राप्त किया है। इस दार्शनिक रहस्यवाद का परवर्त्ती विकास आगमों में हुआ और तब वहाँ से साहित्य में उतरा। दार्शनिक रहस्यवाद की मूल-भावना अद्वैतवाद से सम्बद्ध है जिसमें ब्रह्म को निरंकार मानते हुए आत्मा तथा परमात्मा की अभिन्नता मानी जाती हैं। इस निराकार

ब्रह्म के अस्तित्व का बोध हो जाने पर स्वभावतः आत्मा उस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए विह्वल हो उठेगी। साधक चेष्टा करेगा कि वह उसे प्राप्त कर ले। यह प्राप्ति और कुछ नहीं आत्मा तथा परमात्मा का तादात्म्य स्थापित होना है। एतदर्थ अनेक प्रकार की धर्म-साधनायें प्रचलित हुईं, जिनका कोई सम्बन्ध हमारे अध्ययन से नहीं है, पर केवल इतना जान लेना आवश्यक है कि या तो ये साधनाएँ ज्ञानमार्ग से सम्बद्ध रहीं अथवा फिर ये योगमार्ग का अवलम्बन ले लेती हैं।

काव्य का रहस्यवाद

काव्य के रहस्यवाद का मूल भी दार्शनिक रहस्यवाद ही है, किन्तु दोनों में उतना ही अन्तर पड़ जाता है, जितना स्वयं काव्य तथा दर्शन में। दार्शनिक रहस्यवाद विशुद्ध साधना तथा ज्ञान का विषय है, जिसमें बुद्धितत्त्व की प्रधानता रहती है जब कि काव्य का रहस्यवाद विशुद्ध हृदय की वस्तु है, भावना से सम्बद्ध। यही कारण है कि कुछ आलोचकों ने इसे भावात्मक रहस्यवाद की संज्ञा दी है।

काव्य का रहस्यवाद तीन मूल तत्त्वों से पोषित है। तीन मूलतत्त्व हैं—

(१) मानव-प्रेम (२) आश्चर्य का भाव तथा (३) विरहासक्ति का भाव।

मानव-प्रेम—भावात्मक रहस्यवाद का प्रथम सोपान है मानव-प्रेम। कवि के हृदय की उदात्त भावनाएँ इस चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं कि वह कण-कण में उसी महती सत्ता का अनुभव करने लगता और तब स्वभावतः वह प्राणिमात्र के प्रति एक अद्भुत अनुराग का भाव रखने लगता है। तुलसीदास की भाँति वह "सियाराम-मय सब जग जानी" की स्थिति में आ जाता है। उसकी यही स्थिति उसे मानव-प्रेम की प्रेरणा देती है।

आश्चर्य का भाव—यह जानते हुए भी कि वह परम सत्ता स्वतन्त्र है, सर्व-व्यापी है, सर्व-शक्तिमान है, बाहर है, भीतर है, चिन्तक या विचारक आश्चर्य में पड़-कर रह जाता है। वह न ऐसा कह पाता, न वैसा और तब "केशव कहि न जाय का कहिए" की स्थिति में पड़कर वह केवल आश्चर्य-चकित होकर रह जाता है। उसकी यह स्थिति बड़ी असाधारण होती है। महादेवी वर्मा के शब्दों में—

> **"शून्य नभ में उमड़ जब दुख भार सी,**
> **नैश तम में सघन छा जाती घटा,**
> **बिखर जाती जुगुनुओं की पंक्ति भी,**
> **जब सुनहले आँसुओं के हार-सी,**
> **तब चमक जो लोचनों को मूँदता,**
> **तड़ित् की मुस्कान में वह कौन है ?"**

विरहाशक्ति का भाव—जब साधक आश्चर्यचकित होकर चारों ओर उस अप्राप्य को ढूँढ़ता है तो स्वभावतः उसे विरहासक्ति का अनुभव हो जाता है। इस स्थिति में आकर वह 'प्रसाद' के शब्दों में कह उठता है—

"हे अनन्त रमणीय कौन तुम?
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो? क्या हो? इसका तो,
भार विचार न सह सकता।"

किंतु विचारों में एक उथल-पुथल मच ही जाती है और कवि या साधक उस परब्रह्म की प्राप्ति के लिए विह्वल हो उठता है।

रहस्यवाद की तीन स्थितियाँ

ऊपर रहस्यवाद के तीन मूलतत्त्वों का उल्लेख किया गया है। ये तीन तत्त्व दार्शनिक तथा साहित्यिक रहस्यवाद में समान रूप से पाये जाते हैं। इनके आगे की तीन स्थितियाँ हैं, जो वास्तव में रहस्यवादी दर्शन के आचार पक्ष से संबद्ध हैं। ये तीन स्थितियाँ हैं—

(१) विरहावस्था, (२) पूर्णपरिचयावस्था अतएव आनंदावस्था (आत्मज्ञानावस्था) तथा (३) सिद्धावस्था।

विरहावस्था—विरहावस्था के संबंध में ऊपर संकेत किया जा चुका है कि यह स्थिति आश्चर्य भाव के उदय के पश्चात् होती है। साहित्य में इस अवस्था का विशेष रूप से चित्रण किया गया है। कबीर, मीरा, महादेवी वर्मा आदि की रचनाओं में हमें इस स्थिति का पूर्ण परिचय मिलता है।

पूर्ण परिचय अतएव आनंदावस्था—यह स्थिति उस समय आती है जब वह अप्राप्य वस्तु अनवरत विरह-भावना से परिचित-सी लगने लगती है, विरह ही परिचय का रूप धारण कर लेता है और वह अलख, अरूप ब्रह्म साधक की अंतरात्मा में एक विशेष रूप धारण करके बैठा-सा प्रतीत होने लगता है। वह उससे कहीं दूर नहीं है। यही स्थिति दार्शनिक शब्दावली में आत्मज्ञान तथा साहित्यिक शब्दावली में आनंदावस्था कहलाती है।

सिद्धावस्था—जब साधक आत्मा में ही परमात्मा की अनुभूति करने लगता है और जब आत्मा-परमात्मा की भिन्नता का अंत हो जाता है तब सिद्धावस्था आती है। यहीं साध्य और साधक का तादात्म्य स्थापित हो जाता है और तब ब्रह्म में लीन साधक कबीर की भाँति कह उठता है—

आतम लीन अखंडित रामा,
कहे कबीर हरिमाँही समाना।

इसी पृष्ठ-भूमि में अब हम रहस्यवाद की परिभाषा पर विचार करेंगे।

रहस्यवाद की परिभाषा

विद्वानों ने अनेक प्रकार से रहस्यवाद को पारिभाषित किया है। इन सबने अपनी परिभाषा में दार्शनिक अद्वैतवाद को ध्यान में रक्खा है। यहाँ हम कुछ परिभाषाओं का उल्लेख करेंगे।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल—"साधना के क्षेत्र में जो अद्वैतवाद है, काव्य के क्षेत्र में वही रहस्यवाद है।"

महादेवी वर्मा—"रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है।"

जयशंकर प्रसाद—"काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति की मुख्य धारा का नाम रहस्यवाद है।"

डॉ० रामकुमार वर्मा—"रहस्यवाद जीवात्मा की उस अंतर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है, जिसमें वह दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपना शांत और निश्चल संबंध जोड़ना चाहता है और वह संबंध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में अंतर नहीं रह जाता।"

परशुराम चतुर्वेदी—"रहस्यवाद शब्द काव्य की एक धारा-विशेष को सूचित करता है। वह प्रधानतः उसमें लक्षित होने वाली उस अभिव्यक्ति की ओर संकेत करता है, जो विश्वात्मक सत्ता की प्रत्येक गंभीर एवं तीव्र अनुभूति के साथ संबंध रखती है।"

डा० त्रिगुणायत—"जब साधक भावना के सहारे आध्यात्मिक सत्ता की रहस्यमयी अनुभूतियों को वाणी के द्वारा शब्दमय चित्रों में सजा कर रखने लगता है, तभी साहित्य में रहस्यवाद की सृष्टि होती है।"

इन परिभाषाओं से हम सरलतापूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जीव, जगत् और ब्रह्म, जो उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय थे, रहस्यवाद के भी विषय हैं। दार्शनिकों ने आत्मा और परमात्मा के बीच रागात्मक संबन्धों के लिये जो अवसर छोड़ रक्खे थे उसका विकास ही साहित्य में रहस्यवाद के रूप में हुआ है। आत्मा और परमात्मा का तादात्म्य स्वयं एक रहस्य है अतः ऐसी रचनाओं को रहस्यवादी कहा गया।

हिन्दी-साहित्य में रहस्यवाद

दो उत्थान-कालों में हिन्दी साहित्य के रहस्यवाद को देखा जा सकता है—

१. मध्यकालीन रहस्यवाद तथा

२. आधुनिक रहस्यवाद।

मध्यकालीन रहस्यवाद—सिद्धों तथा नाथों की रचनाओं में, साहित्यिक रहस्यवाद का स्पष्ट दर्शन होता है, किन्तु इसे हम विशुद्ध रहस्यवाद की संज्ञा नहीं दे सकते हैं, क्योंकि न तो रहस्यवाद के सभी मूल तत्त्व ही इनकी रचनाओं में उपलब्ध होते हैं और न वे तीनों अवस्थाएँ ही जिनका उल्लेख प्रारम्भ में किया जा चुका है, यहाँ दिखाई पड़ती है। यहाँ तो प्रमुखता केवल दार्शनिक रहस्यवाद की कीर्ति है और उसमें भी आत्मा-परमात्मा की अभिन्नता पर ही अधिक बल दिया गया है। इनकी कुछ उलटबासियों तथा कौतूहलपूर्ण सैद्धान्तिक कथनों में भी हमें केवल रहस्यवाद का आभास मात्र होता है। इस बौद्ध-साहित्य के पूर्व जैन-साहित्य में भी 'समाधिज्ञान' की चर्चा सम्बन्धी कुछ रचनाओं में रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। इसका अर्धविकसित रूप सिद्धों तथा नाथों के साहित्य में भी उपलब्ध है। सरहपा का निम्न 'दोहा' देखिये—

"घरे अच्छई बहिरे पुच्छइ। पइ देक्खइ पड़िबेसी पुच्छइ॥
सरह भणइ बढ़! जाणउ अप्पा। णउ सोधेयण धारण जप्पा॥"

(गृह में रहते हुए बाहर खोजता है, पति को देखती है, पर पड़ोसी से पूछती है। सरह कहते हैं मूर्ख! अपने को जानो ध्यान धारणा-जप से उसकी उपलब्धि नहीं होती है।)

नाथ-साहित्य अपनी शून्य साधना में इसी रहस्यवाद का आभास देता है। गोरखनाथ का निम्न उदाहरण देखिये—

"बसती न सुन्य सुन्य न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नावँ धरइगे कैसा॥"

(जो बस्ती में नहीं शून्य में निवास करता है और पुनः शून्य में नहीं बस्ती में निवास करता है वह अगम और अगोचर है। गगन-शिखर पर वह बालक बोलता है उसका क्या नामकरण करोगे?)

किन्तु ये सारे प्रयास अप्रत्यक्ष थे और इन्हें हम विशुद्ध रूप से रहस्यवादी रचनाएँ नहीं कह सकते हैं। हाँ, इनकी धर्म-साधना में कुछ रहस्य अवश्य रहा और इन्हीं रचनाओं ने कबीर के रहस्यवाद के लिए मार्ग प्रशस्त किया। वास्तव में कबीर से ही हिन्दी में रहस्यवाद का सूत्रपात होता है। इनकी रचनाओं में वे तीनों मूल तत्त्व तथा तीनों अवस्थाएँ स्पष्ट रूप में मिलती है। मानव-प्रेम से ओतप्रोत कबीर जागते और रोते हुए पाये जाते हैं। आश्चर्य-भाव तो इस सीमा पर पहुँच जाता है कि वे कह उठते हैं—

सन्तो धोखा कासूँ कहिए।

गुण में निर्गुण निर्गुण में गुणतै,
बाट छाँड़ि क्यों बाहिर ॥

× × ×

जस कथिर तस होत नहि, जस है तैसा सोइ ।
कहत सुनत सुख ऊपजै, अरु परमारथ होइ ॥

कबीर की विरहासक्ति हमें सर्वप्रथम अलौकिक या आध्यात्मिक विरह-भावना का परिचय देती है । इसके पूर्व हिन्दी में विरहासक्ति की ऐसी तीव्रता के दर्शन नहीं हुए थे । इस रहस्यात्मक उक्ति पर ध्यान दें—

"कैसे जीवेगी बिरहिनी, पिया बिना कीजै कौन उपाय ।
बिन आकार रूप नहिं रेखा, कौन मिलेगी आय ।"

किन्तु आगे इस भ्रम की ओर भी जो रहस्य का एक बहुत बड़ा सम्बन्ध है, संकेत है—

अपना पुरुष समुझि ले सुन्दरि देखो तन निरताप ।

× × ×

"सबद सरूपी जिव पिव बूझौ छाँड़ौ भ्रम की टेक ।
कहै कबीर और नहिं दूजा, जुग-जुग हम तुम एक ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि कबीरदास के रहस्यवाद में वे सारे मूल तत्त्व सम्मिलित हैं जो रहस्यवाद के आवश्यक अंग हैं । इसी प्रकार तीनों अवस्थाओं के भी दर्शन हमें यहाँ होते हैं । यही कारण है कि अधिकांश आलोचक कबीरदास को ही हिन्दी में रहस्यवाद का जन्मदाता स्वीकार करते हैं । विरहावस्था, आनन्दावस्था तथा सिद्धावस्था के चित्रों से कबीर-साहित्य भरा पड़ा है ।

कबीर के बाद कुछ अन्य संत कवियों में भी हमें इस तथाकथित साधनात्मक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं ।

यद्यपि कुछ सगुण भक्तों में भी रहस्यवाद की झलक मिलती है, किन्तु जब तक कोई कवि अद्वैतवाद के प्रति ईमानदार नहीं होगा तब तक वास्तविक रहस्यवाद की अभिव्यंजना उसकी रचनाओं में संभव नहीं है । यही कारण है कि सूरदास तथा तुलसीदास के साहित्य में कई ऐसे तत्त्व रहते हुए भी जिनसे रहस्य की योजना हो सकती थी, हम उन्हें रहस्यवादी कवि नहीं स्वीकार करते हैं । सगुण के प्रति विरह-निवेदन रहस्य बन ही नहीं सकता । यह तो तभी संभव है, जब विरह ऐसे निराकार के प्रति हो जो अपनी ही आत्मा में कहीं छिपा हो और घूँघट का पट खोलते ही मिल जाय ।

सूफी कवियों में रहस्यवाद के पुनः दर्शन होते हैं । सिद्धान्ततः यह रहस्यवाद सेमेटिक धर्मसाधना से मेल खाता है, मेल ही नहीं प्रत्युत कुछ अन्य प्रभावों से युक्त

उसका ही परिवर्तित रूप है। भारतीय रहस्यवाद से इसका जो कुछ साम्य है, वह इतना ही कि आत्मा तथा परमात्मा के सम्बंध में दोनों रागात्मक वृत्ति की स्थापना करते हैं। सूफी प्रभाव के कारण जायसी तथा अन्य प्रेममार्गी कवियों के रहस्यवाद की अवस्थाएँ भी भिन्न हैं। किंतु जहाँ तक आत्मा-परमात्मा के दांपत्य भाव का संबंध है, दोनों में पर्याप्त साम्य है। कबीर, दादू आदि संत-कवियों का रहस्यवाद ज्ञान-प्रधान रहा है, जबकि प्रेम-मार्गी शाखा के कवियों का रहस्यवाद भावनामूलक था।

आधुनिक रहस्यवाद—पूर्व मध्यकाल से आरंभ होनेवाली रहस्यवादी काव्य-परंपरा हिंदी-साहित्य के रीतिकाल में लुप्त-प्राय हो जाती है। सगुण भक्ति-काव्य का प्रभाव तथा अति लौकिकता का व्यामोह रहस्यवाद के लिए कोई अवसर नहीं छोड़ता है। कहीं-कहीं संतों से प्रभावित कुछ कवि कुछ ऐसे भाव अवश्य व्यक्त कर देते थे, जिनमें रहस्य का आभास मिल जाता था, किंतु वास्तव में रहस्यवाद का पुनरुत्थान आधुनिक युग में ही हुआ। हमें ज्ञात है कि छायावादी कवियों ने जीव और जगत् (प्रकृति और आत्मा) का निकट संबंध स्थापित कर दिया था। यही भाव जब ब्रह्म के साथ जुड़ गया तो उसने स्वतः रहस्यवाद का रूप ग्रहण कर लिया। एक आलोचक ने छायावाद तथा रहस्यवाद का पारस्परिक संबंध दिखाते हुए उचित ही कहा है, "वास्तव में दोनों एक-दूसरे के इतने निकट और एक-दूसरे के इतना समान हैं कि बिना दोनों के बीच एक विभाजक रेखा बनाए उनका स्वतंत्र अस्तित्व स्पष्ट नहीं हो सकता।........ रहस्यवाद के विषय आत्मा, परमात्मा और जगत् हैं। छायावाद परमात्मा को छोड़ देता है, वह केवल आत्मा और जगत् के प्रदेश में ही विचरण करता है।....छायावाद में जिस प्रकार एक जीवन के साथ दूसरे जीवन की अभिव्यक्ति है, अथवा आत्मा के साथ आत्मा का सन्निवेश है, तो रहस्यवाद में आत्मा के साथ परमात्मा का। एक पुष्प को देखकर जब हम उसे अपने ही जीवन सा सप्राण पाते हैं तो यह हमारी छायावाद की आत्माभिव्यक्ति हुई; किंतु जब उसी पुष्प को हम किसी परम चेतना का आभास या विकास पाते हैं तो हमारी यह अभिव्यक्ति रहस्यमयी भावना या रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के अंतर्गत होगी।"

'अधिकांश छायावादी कवियों ने रहस्यवादी रचनाएँ की हैं। अतः दोनों काव्य-धाराओं में पर्याप्त शैलीगत साम्य है। प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी आदि ने आधुनिक रहस्यवाद को अग्रसर किया था। पर वास्तव में विशुद्ध रहस्यवादी धारा को आगे बढ़ाने वाली महादेवी वर्मा हैं।

आदर्शवाद तथा यथार्थवाद

साहित्य में विषय-वस्तु तथा शैलियों के आधार पर अनेक सिद्धांतों तथा वादों

का जन्म हुआ है। इनमें से आधुनिक युग में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद दो महत्त्वपूर्ण मतवाद हैं। यहाँ हम इन पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

एक वस्तु दो पहलू

प्रत्येक व्यक्ति या वस्तु के दो पहलू होते हैं। मुद्रा के दो पटलों के समान ये दोनों पहलू दो भिन्न प्रकार के रेखा-चित्र उपस्थित करते हैं। साहित्यकार व्यक्ति या वस्तुओं के चरित्रों या धर्मों का चित्रण करता है। यह चित्रण दो प्रकार का हो सकता है। किसी व्यक्ति या वस्तु को उसके वास्तविक रूप में ज्यों का त्यों चित्रित किया जा सकता है अथवा उस व्यक्ति या वस्तु का मनोनुकूल चित्रण। एक स्थूल उदाहरण द्वारा यह बात अधिक स्पष्ट शब्दों में कही जा सकती है—

कोई व्यक्ति वातावरण के प्रभाव से अनेक प्रकार के दुर्गुण अर्जित कर लेता है। यह दुर्गुण उसे उत्तरोत्तर पतनोन्मुख बनाते चले जा रहे हैं। उधर उसके संस्कार तथा उसका शैक्षणिक वातावरण उसके अंतःकरण में संघर्ष की भावना रह-रह कर भरता रहता है, किन्तु वह अपनी दुर्बलताओं के सामने बार-बार घुटने टेक देता है।

उपर्युक्त व्यक्तित्व वाले व्यक्ति का चरित्र-चित्रण कोई साहित्यकार इस रूप में कर सकता है कि आलोच्य व्यक्ति के सारे दुष्कर्म सारी दुर्बलताएँ अपने नग्न रूप में हमारे सामने उपस्थित हो जाएँगी। सात पर्दों में छिपे उसके हजार-हजार काले धब्बों, उसके घिनौने कोढ़ को हमारे सामने खोलकर रख दिया जाएगा और उसकी प्रत्येक फिसलन, प्रत्येक पतन के हर सोपान को तथ्यतः चित्रित कर दिया जाएगा। अस्तु, जो यथार्थ रूप में दर्शा दिया जाय, इसे ही साहित्य में यथार्थवाद कहते हैं।

किन्तु इसके विपरीत दूसरे प्रकार का भी चित्रण किया जा सकता है। आलोच्य व्यक्ति को सर्वप्रथम एक मानव स्वीकार किया जाएगा और उसकी दानवता को कुछ क्षण के लिए पृथक् रखकर उसका मूल्यांकन किया जाएगा। उसकी सारी दुर्बलताओं को चित्रित करते हुए भी मानव-मूल्यों के अस्तित्व को ध्यान में रखा जाएगा और तब हर पतन को कुछ इस प्रकार भुलाने की चेष्टा की जाएगी कि वह गौण बन जाएगा। दुर्बलताएँ कहाँ नहीं हैं, कमियाँ किसमें नहीं हैं, पर इन दुर्गुणों के अतिरिक्त उस व्यक्ति में सद्गुण भी तो हैं। इन्हीं सद्गुणों को प्रकाशित करना यहाँ प्रमुख लक्ष्य बनेगा। आशय यह है कि जहाँ एक यथार्थवादी साहित्यकार ने गुण-दोष दोनों का तथ्यतः चित्रण किया था वहाँ दूसरी विचारधारा वाला साहित्यकार दुर्गुणों को छोड़कर अथवा उन्हें अमहत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करके सद्गुणों का चित्रण करेगा। ऐसे ही चित्रण को साहित्य में आदर्शवाद की संज्ञा दी गई है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि चरित्र-चित्रण के दो रूप हैं। इनके आधार पर ही यथार्थवाद तथा आदर्शवाद नामकरण किया गया है।

आदर्शवाद का आदर्श

प्राचीन भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिकता की प्रधानता थी। भौतिकवाद का तब कोई स्थान न था। जीवन धर्म के कुछ उच्च आदर्शों पर आधारित था। सौभाग्य-वश हमारे साहित्य का श्रीगणेश भी धर्म से ही होता है। धार्मिक साहित्य की विपुल रचना के पश्चात् ही लौकिक साहित्य की रचना आरंभ होती है। परिणाम यह होता है कि शताब्दियों तक हमारा साहित्य धर्म-प्रभावित रहता है—'बड़े भाग मानुष तन पावा' का सिद्धांत आदिकाल से चला आ रहा है। अतः विशुद्ध साहित्य के प्रणेताओं ने भी मानव और उसकी मानवता के प्रति जो कल्पनाएँ कीं वह उच्च आध्यात्मिक तथा नैतिक धरातल पर की गईं। मानव के साथ-साथ दानव भी थे (प्रत्येक मानव मन के किसी कोने में दानव भी छिपा रहता है।) पर साहित्य ने हित की भावना को कभी नहीं छोड़ा और उसने काव्य के प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए दानवता के चित्रण को अशोभनीय एवं मानवता के प्रकाशन को अपना परम श्रेय समझा। साहित्यकार सदा आशामय होता है। बुरी वस्तु सदा बुरी ही रहेगी अथवा वह सबके लिए बुरी होगी, ऐसा उसने कभी नहीं माना, क्योंकि उसने आत्मा और परमात्मा में निकट का संबंध देखा था।

महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि वह केवल सत्य का निरूपण नहीं करना चाहता था, क्योंकि वह साहित्यकार या इतिहासकार या कोरा वैज्ञानिक नहीं। उसे तो सत्य के साथ शिव तथा सुंदर की भी चिंता लगी हुई थी। उसने उसे ही सत्य स्वीकार किया, जिसमें सुंदर और शिव का सन्निवेश हो। उसका सत्य इनकी अपेक्षा रखता था। वहाँ 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' का सिद्धांत सर्वोपरि था।

आदर्शवाद का यह आदर्श नैतिकता की उच्च भाव-भूमि पर आधारित था। हर शुभ सम्भावना इसकी प्रेरणास्रोत थीं। जीवन में जो कुछ शुभ था अथवा जो कुछ सुंदर था उसे ही इन्होंने चिरंतन सत्य माना और उसका निरूपण ही इन्होंने मानव-कल्याण की दृष्टि से हितकर समझा।

आदर्शवाद के गुण-दोष—प्रत्येक वस्तु अपूर्ण है, प्रत्येक वस्तु में गुण-दोष साथ-साथ लगे हुए हैं। आदर्शवाद के भी अपने गुण और दोष हैं। पहले हम इसके गुणों पर विचार करेंगे।

आदर्शवाद के प्रमुख गुण हैं—

१. शिष्टता एवं शालीनता की स्थापना,
२. सौंदर्य की सुखद-कल्पना जो शिव-सापेक्ष है,
३. जीवनोपयोगी सिद्धांतों का प्रतिपादन
४. सामंजस्य सुव्यवस्था एवं पूर्णता का निर्देशन तथा

५. जीवन के प्रति आशापूर्ण दृष्टिकोण प्रदान करना।

आदर्शवाद के उपर्युक्त गुणों के साथ निम्नलिखित दोष भी हैं—

१. प्राचीनता के प्रति अनावश्यक मोह जो रूढ़िवादिता को जन्म देती है,

२. भविष्य की सुंदर एवं मधुर कल्पना के लिए वर्तमान की कटुता एवं वास्तविकता की उपेक्षा पलायनवादिता को प्रश्रय,

३. धार्मिक एवं सांप्रदायिक संकीर्णता का समावेश तथा

४. स्वतंत्र चिंतन में बाधक।

यथार्थवाद का यथार्थ

जैसा कि प्रारंभ में ही संकेत किया गया था, यथार्थवाद एक ऐसी चित्रण-शैली है जिसमें किसी वस्तु पर कोई काल्पनिक रंग चढ़ाये बिना ही उसका चित्रण ठीक उसी रूप में कर दिया जाता है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यथार्थवादी साहित्यकार का लक्ष्य केवल 'फोटोग्राफी' है? क्या वह गुण-दोष दोनों से हमें केवल परिचित भर करा देना चाहता है? और यदि वह केवल यही करता है तो इसमें उसके सर्जन का उद्देश्य क्या है? एक यथार्थवादी साहित्यकार इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहेगा कि जीवन में जितना सुंदर है उससे किसी प्रकार कम असुंदर नहीं है। समाज अपनी असुंदरता पर आवरण डाले रखता है, जिससे हम सहज ही उसे देख नहीं पाते हैं अथवा हम इस असुंदरता से अपनी आँखें मूँद लेने की चेष्टा करते हैं। हम जीवन की वास्तविकता से भाग कर कल्पना-जगत् में काल्पनिक आनंद का भोग करना चाहते हैं पर यह किसी प्रकार श्रेयस्कर नहीं है। अतः गुणों को बना-सँवारकर रख देने से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है, दुर्गुणों या दुर्बलताओं का पर्दाफाश करना, जिससे हमारी आँखें खुल जाएँ। यथार्थवादी साहित्यकार कला का उद्देश्य ही कुछ और मानकर चलता है। वह 'कला उपयोगिता के लिए' का पक्षपाती है। वह जीवन के सम्बन्ध में भी एक भिन्न दृष्टिकोण रखता है। कोरी नैतिकता एवं आध्यात्मिक उपलब्धि ही उसके जीवन का लक्ष्य नहीं होता, प्रत्युत भौतिक सुख-सुविधाओं को भी वह जीवन में कम महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं देता है।

यथार्थवाद के गुण-दोष—जिस प्रकार आदर्शवाद की कुछ अपनी सीमाएँ हैं, कुछ अपनी उपलब्धियाँ हैं, उसी प्रकार यथार्थवाद के भी कुछ गुण-दोष हैं।

इसके गुण हैं —

१. तात्कालिक मानव-जीवन की वास्तविकता से परिचित कराना जिससे हम अपनी स्थिति समझ सकें।

२. सामाजिक अव्यवस्थाओं के प्रति विद्रोही भावनाओं को जगाने में सहायता प्रदान करना।

३. 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' की भावना से उत्प्रेरित तथा

४. सरलता एवं सुबोधता, जिससे सर्वसाधारण भी इस साहित्य को समझ सके।

यथार्थवाद के प्रमुख दोष हैं :—

१. असुन्दर, अशोभनीय एवं अप्रिय के चित्रण से जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण का अप्रत्यक्ष प्रतिपोषण।

२. अतिभौतिकवादी दृष्टिकोण को प्रश्रय देना।

३. अश्लीलता का यथार्थ के नाम पर चित्रण और जो कुछ भी गन्दा है, कुत्सित है, पर ढँका है उसे खोल कर आम रास्ते पर रख देना जिसे जो जानते हैं वे देखें और जो नहीं जानते हैं वे भी देखें और उस गन्दगी को निकट से समझने की चेष्टा करें तथा

४. काव्य-सौंदर्य, अर्थ-गाम्भीर्य तथा शैलीगत विशेषताओं का नितान्त अभाव।

आदर्शवाद तथा यथार्थवाद सम्बन्धी कुछ मत

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी—"ये दोनों साहित्य वे चित्रण की शैली के दो स्थूल विभाग हैं। दोनों ही शैलियाँ लेखक के दृष्टिकोण पर अवलंवित रहती हैं। कला की सौन्दर्य-सत्ता की ओर दोनों का झुकाव रहता है। आदर्शवाद में विशेष या इष्ट के आग्रह द्वारा इष्ट ध्वनित होता है। यथार्थवाद में सामान्य या अनिष्ट चित्रण द्वारा इष्ट की व्यंजना होती है।"

डा० भगीरथ मिश्र—"आदर्शवादी साहित्य व्यक्ति-प्रधान विशेष होता है और उसका नायक अथवा विषय भी ऐसा होता है जो कि जनसाधारण के बीच में कुछ विशेषता रखता है और जिसकी ओर सर्वसाधारण की दृष्टि स्वभावतः खिंच जाती है। उन आकर्षक प्राकृतिक गुणों से युक्त मानव-समाज कुछ विशेष सुखमय एवं संगठित रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह शक्ति और विशेषताओं का आकर्षण धीरे-धीरे प्रेम का रूप धारण कर लेता है और जन-समाज उसके जीवन में उसकी प्रतिष्ठा व पूजा, और उसके चले जाने पर स्मारक और जयंती आदि के रूप में उसका स्मरण करता है। ये विशेषताएँ जीवन की ही विशेषताएँ हैं। आदर्शवाद व्यक्ति-विशेष को लेकर उसके गुणों की ओर हमें खींचता है और उसके चरित्रों का अनुकरण सांसारिक समस्याओं के समाधान के लिए उपयुक्त समझता है। प्रगतिवाद (यथार्थवाद) हमारे अंतर्गत सामाजिक और भौतिक चेतना जाग्रत करता है। समाज के दुःखों की ओर

हमारा ध्यान ले जाता है। और जीवन-समस्याओं को, सामाजिक विषमताओं को विकराल रूप में—जैसा कि हम नित्य जीवन में देखते हैं—उपस्थित करता है।"

वास्तव में आदर्शवाद तथा यथार्थवाद ये दोनों की चरम स्थितियाँ हैं और यही इन दोनों की दुर्बलता है। एक अतिकाल्पनिक जगत् में रमण करता है तो दूसरा घोर वास्तविकता या कठोर सत्यों में सर फोड़ता रहता है। यही कारण है कि दोनों के समन्वय की सिफारिश मुंशी प्रेमचंदजी ने की थी और उन्होंने मध्यम मार्ग का अनुसरण किया जो **आदर्शोन्मुख यथार्थवाद** कहलाया। यहाँ आदर्श तो है किन्तु वह कोरा या थोथी आदर्शवादिता के लिए नहीं, प्रत्युत वह यथार्थ की कठोर भूमि पर खड़ा है। यहाँ साहित्यकार का लक्ष्य होता है जीवन की कुरूपताओं के चित्रण के साथ-साथ मानवमूल्यों के आधार पर उन कुरूपताओं को भी सुन्दर स्वरूप देने या पा जाने की संभावनाओं की कल्पना करना। यह समन्वय निश्चित रूप से साहित्य के लिए श्रेयस्कर होता है।

इनके अतिरिक्त हिंदी कविता में कुछ विशिष्ट वाद प्रवर्तित हुए। जैसे, 'प्रपद्य-वाद' प्रयोगवाद के समानांतर एक काव्यांदोलन था, जिसके प्रवर्तक एवं प्रयोक्ता थे नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार तथा नरेश। इन तीनों कवियों के नामों के आद्यक्षरों के संयोग से नकेन शब्द बना। प्रपद्यवाद के पर्याय में इसे 'नकेनवाद' भी कहा जाता रहा है। प्रयोगवाद और प्रपद्यवाद में प्रधान अंतर यह हैं कि प्रयोगवाद जहाँ प्रयोग को साधन मानता है, वहाँ प्रपद्यवाद साध्य। प्रयोगवाद के नाम पर प्रकाशित तीन सप्तकों में इक्कीस कवि संकलित-घोषित हो चुके हैं। संकलनेतर कवियों में अनेक कवि प्रयोगवादी रचनाएँ करते थे। इनमें नागार्जुन, राजेन्द्रकिशोर, रवीन्द्र भ्रमर, रमेश कुंतलमेघ, राजकमल चौधरी, लक्ष्मीकांत वर्मा, रामदरश मिश्र, रमासिंह, बालकृष्ण राव, दूधनाथ सिंह, प्रभाकर माचवे, शिवचंद्र शर्मा, श्रीराम शर्मा, शांता सिन्हा, लाल-धुआँ, स्नेहमयी चौधरी, मानिक बच्छावत, निशांतकेतु, हर्ष, सिद्धनाथ कुमार, प्रयाग शुक्ल, शिवमंगल, चंद्रमौलि उपाध्याय, सत्यपाल चुघ, रघुवीर सहाय इत्यादि (इनके अतिरिक्त भी अनेक महत्वपूर्ण कवि हैं) कुछ ऐसे नाम हैं, जिन्हें प्रयोगवाद, नई कविता तथा सांप्रतिक कविता में न्यूनाधिक रूप से व्यवस्थित किया जाता रहा है।

अवधेश कुमार ने 'उत्तर प्रपद्य' नामक अपने काव्य-संकलन का प्रकाशन कर प्रपद्यवादोत्तर अभिवृद्धि का जो आत्म-रंजित काव्य प्रतिमान उपस्थित किया है वह समीक्षा-सापेक्ष है।

अभी 'नवगीत' नामक नवीन काव्यांदोलन के डॉ० शंभूनाथ सिंह, राजेन्द्रप्रसाद सिंह, दिनेश भ्रमर, रामनरेश पाठक इत्यादि कुछ उल्लेख्य नाम हैं।

१९३६ ई० में छायावाद का पतन स्वीकार किया जाता है, किंतु अभी भी

उसकी एक चीण धारा सप्राण है। यद्यपि इस धारा में बोध नवीन, किंतु शिल्प छाया-वादी है छंदोबद्धता एवं लयात्मकता के आग्रही किन्तु प्रगति, आधुनिक युगबोध एवं नूतन अभिव्यक्ति से संबद्ध कुछ कवियों को एक संदर्भ में रखा जा सकता है—वे हैं, माखनलाल चतुर्वेदी, महादेवी वर्मा, जानकीवल्लभ शास्त्री, श्रीरंजनसूरिदेव, हंसकुमार तिवारी, रामेश्वर शुक्ल अंचल, पोद्दार रामावतार अरुण, नीरज, शिवमंगलसिंह 'सुमन', विद्यावती 'कोकिल', भगवतीचरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, हरिवंशराय बच्चन, सुमित्रानंदन पंत, रामानंद दोषी, लालधुआँ, इत्यादि।

अभी हिन्दी-कविता में वादों की संक्रांति एवं अस्थिरता की स्थिति है। शुद्ध कविता, सहज कविता, सूर्योदयी कविता, ताजी कविता, साठोत्तरी कविता, लिग्वादल-मोतवादी कविता, अन्यथावादी कविता, शब्दवादी कविता, अकविता इत्यादि अनेक काव्यांदोलनों का उल्लेख होता रहा है। इन काव्यांदोलनों से सम्बद्ध शताधिक कवि हैं। इन काव्यांदोलनों की लहरों ने अभी धारा का रूप ग्रहण नहीं किया है, इसलिए यहाँ विस्तृत मूल्यांकन नहीं है।

गद्य साहित्य

हिन्दी-साहित्य काव्य के क्षेत्र में, पूर्ववर्ती तीन युगों में पर्याप्त उन्नति कर चुका था और वह कई दृष्टियों से भरा-पूरा था। पर एक बहुत बड़ा अभाव खटक रहा था गद्य का। वैसे प्रायः अपने प्रारम्भिक युगों में सभी देशों का साहित्य काव्य के क्षेत्र में ही अपेक्षाकृत अधिक उन्नति कर सका था और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप छापाखाना के आविष्कार के पूर्व गद्य की दिशा में कहीं भी कोई विशेष महत्त्वपूर्ण प्रगति न हो सकी थी।

हिन्दी-गद्य-परम्परा के इतिहास का अध्ययन करने के लिए हमें बहुत अधिक पीछे जाने की आवश्यकता नहीं। यह साहित्य ब्रजभाषा से हमें मिलना आरम्भ होता है। वह भी असम्बद्ध एवं अव्यवस्थित रूप में। यहाँ हम ब्रजभाषा गद्य का संक्षिप्त परिचय उपस्थित कर रहे हैं :—

ब्रजभाषा गद्य

ब्रजभाषा गद्य चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मिलने लगता है। अब तक अनेक ऐसी रचनाओं की खोज की जा चुकी है, जिनकी रचना मुगलकाल में हुई होगी। पर इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता असन्दिग्ध नहीं है। पांडुलिपियों में भाषा-सम्बन्धी मौलिकता का निर्विघ्न दावा करना उचित न होगा। छापाखाना के अभाव में गद्य-ग्रन्थों की प्रतिलिपियों की भाषा-सम्बन्धी मौलिकता का सन्दिग्ध होना अस्वाभाविक भी नहीं है। अब तक जिन ग्रन्थों की खोज हुई है, उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

ग्रन्थ	रचयिता	रचना-काल
१. एक गोरखपंथी ग्रंथ	सम्भवतः गोरखनाथ	चौदहवीं शती
२. शृङ्गार मंडन	गोसाईं विट्ठलनाथ	पंद्रहवीं शती
३. चौरासी वैष्णवों की वार्ता	गोकुलनाथ ?	सोलहवीं शती
४. अष्टयाम	नाभादास	सत्रहवीं शती
५. अगहन माहात्म्य ६. वैशाख माहात्म्य	वैकुंठमणि शुक्ल	सत्रहवीं शती उत्तरार्ध
७. दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता	अज्ञात	सत्रहवीं शती
८. नासिकेतोपाख्यान	अज्ञात	अठारहवीं शती
९. बैताल पचीसी	सूरति मिश्र	अठारहवीं शती
१०. आइने अकबरी की भाषा वचनिका	लाला हीरा लाल	अठारहवीं शती का अन्तिम चरण

अब इनमें कुछ ग्रंथों की भाषा का उदाहरण देखिए—

"श्री गुरु परमानन्द तिनको दंडवत् हैं। हैं कैसे परमानंद, आनंद स्वरूप हैं सरीर जिन्हि को, जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्वि अरु आनंदमय होतु है। मैं जुहौं गौरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हैं।"

—गोरखनाथ

"प्रथम की सखी कहतु हैं। जो गोपीजन के चरन विषै सेवक की दासी करि जो इनको प्रेमामृत में डूबि कै इनके मन्द हास्य ने जीते हैं। अमृत समूह ता करि निकुंज विषै शृंगाररस श्रेष्ठ रसना कीनो सो पूर्ण होत भई।

—विट्ठल नाथ

"नन्ददास जो तुलसीदास के छोटे भाई होते। सो विनकूं नाथ तमासा देखवे को तथा गान सुनवे को शोक बहुत हतो। सो वा देस में सूं एक संग द्वारका जात हतो। जब विन ने तुलसीदास सूं पूंछी तब तुलसीदास जी रामचन्द्र जी के अनन्द भक्त हते।"

—गोकुलनाथ

"तब श्री महाराज कुमार प्रथम वसिष्ठ महाराजँ के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिर ऊपर वृद्धसमाज तिनको प्रनाम करत भए। फिर श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेन्द्रनाथ दसरथ जू के निकट बैठते भए।"

—नाभादास

"सब देवतन की कृपा तें बैकुंठमनि सुकुल श्री महारानी चन्द्रावती के धरम पढ़िबे के अरथ यह जसरूप ग्रन्थ बैसाख महातम भाषा करत भस—एक समय नारद जू ब्रह्मा की सभा से उठि कै सुमेर पर्वत को गए।"

—वैकुंठमणि शुक्ल

"हे ऋषीश्वरो! और सुनो, मैं देख्यो है सो कहूँ। कालै वर्ण महादुख के रूप जम, किंकर देखे। सर्प, बीछू, रीछ, व्याघ्र, सिंह बड़े-बड़े गृध्र देखे।....आगे और जीवन को त्रास देते देखे हैं। सु मेरो रोम रोम खरो होत है।"

—नासिकेतोपाख्यान

"अब शेख अबलफजल ग्रन्थ को करता प्रभु को निमस्कार करि कै अकबर बादस्याह की तारीफ लिखने को कसत करै है अरु कहै है—याकी बड़ाई अरु चेष्टा अरु-चिमत्कार कहाँ तक लिखूँ। कही जात नाहीं।"

—लाला हीरालाल

ऊपर के उदाहरणों से यह स्पष्टतया ज्ञात हो जाता है कि ब्रजभाषा गद्य का कोई सुव्यवस्थित विकास नहीं हो रहा था। काव्य की भाषा में जिस प्रकार का सुधार उत्तरोत्तर होता है और भाषा में जो सशक्तता आती गई है, उसका गद्य में नितान्त अभाव रहा। पर जैसा कि आचार्य शुक्ल ने इंगित किया है ब्रजभाषा गद्य की यह दुर्बलता अहितकर सिद्ध न हुई। गद्य का भी विकास यदि होता आता तो विक्रम की इस शताब्दी के आरम्भ में भाषा-संबंधी बड़ी विषम समस्या उपस्थित होती। जिस धड़ाके के साथ गद्य के लिए खड़ीबोली ले ली गई उस धड़ाके के साथ न ली जा सकती। कुछ समय सोच-विचार, वाद-विवाद में जाता और कुछ समय तक दो प्रकार के गद्य की धाराएँ साथ-साथ दौड़ लगातीं। अतः भगवान् का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिए कि यह भाषा विप्लव नहीं संघटित हुआ और खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी ब्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती है, धीरे-धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नये मैदान में दौड़ पड़ी।

खड़ीबोली का गद्य

खड़ीबोली में लिखे गए गद्य-साहित्य के अध्ययन के पूर्व हमें खड़ीबोली के विकास पर दृष्टि डाल लेनी होगी। कारण यह है कि लोगों में बहुधा यह मूल धारणा व्याप्त है कि अँगरेजों के सहयोग एवं प्रोत्साहन से ही खड़ीबोली हिंदी का विकास सम्भव हो सका है। अतः पहले हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि किस प्रकार खड़ी-बोली को भाषा का रूप प्रदान हुआ और हिन्दी की अन्य बोलियाँ—ब्रज, अवधी आदि

जिनमें पर्याप्त साहित्य लिखा जा चुका था और वास्तव में जो हिंदी की मात्र साहित्यिक भाषाएँ थीं, इस दृष्टि से पीछे छूट जाती हैं।

खड़ीबोली का विकास-क्रम—खड़ीबोली के विकास-क्रम का इतिहास मुख्यतः चार सोपानों में विभक्त किया जा सकता है—

१. सल्तनत-युगीन खड़ीबोली ।
२. मुगलकालीन खड़ीबोली ।
३. उत्तर मुगल एवं पूर्व आंग्ल-कालीन खड़ीबोली । तथा
४. आधुनिक युग की खड़ीबोली ।

इस आधुनिक युग की खड़ीबोली के विकास को भी चार सोपानों में विभक्त किया गया है, जिस पर आगे प्रकाश डाला जाएगा ।

१. सल्तनत-युगीन खड़ीबोली—प्राचीन अपभ्रंश काव्य में ही खड़ीबोली की झलक मिलने लगती है। दक्षिणाचार्य **चिन्होद्योतन** की पुस्तक 'कुवलयमाला कथा' में इसका प्रारम्भिक रूप द्रष्टव्य है । यहाँ 'तेरे मेरे आयु' में 'तेरे-मेरे' स्पष्टतः खड़ीबोली के शब्द हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि मध्यदेश में उस समय खड़ीबोली का प्राचीन रूप बोला जाता था । **हेमचन्द्र** का एक उदाहरण देखिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि हमारा (म्हारा) कन्तु ।
लज्जेजं तु वयंसिघहु जइ भग्ग घर एन्तु ।।

इसमें 'हुआ', 'मारिया', 'हगारा', 'भग्गा' आदि शब्द निस्सन्देह खड़ीबोली के हैं । पर खड़ीबोली का सबसे स्वस्थ और शुद्ध रूप **अमीर खुसरो** की कविता में मिलता है । डॉ० बड़थ्वाल के मतानुसार खुसरो की भाषा में लाख मिलावट होने पर भी, जैसा कि डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने सुझाया है, "खुसरो के नाम से आज जो कविता है—उसमें चाहे जितना ही परिवर्तन क्यों न हो गया हो, निश्चय ही मूल रूप में वह वही भाषा है जिसे हम आज हिन्दी कहते हैं ।"

खुसरो की भाषा का उदाहरण देखिए—

एक थाल मोती से भरा । सबके सिर पर औंधा धरा ।।
चारों ओर वह थाली फिरे । मोती उससे एक न गिरे ।।

× × ×

स्याम वरन की एक है नारी । माथे ऊपर लागे प्यारी ।।
या का अरथ जो कोई खोलै । कुत्ते की वह बोली बोलै ।।

अमीर खुसरो के बाद **कबीर** तथा कुछ अन्य सन्त कवियों की रचनाओं में खड़ीबोली का प्रारूप देखने को मिलता है । आगे चलकर जब ब्रज तथा अवधी का ही

कवियों ने चयन किया तब धीरे-धीरे खड़ीबोली काव्य लुप्त-सा होने लगा और सभी परवर्ती कवियों ने अवधी तथा ब्रज में ही रचना करना आरम्भ कर दिया।

२. **मुगलकालीन खड़ीबोली**—मुगलों के विशाल साम्राज्य में जब वाणिज्य-व्यवसाय की पर्याप्त उन्नति हो गई और अन्तर्देशी व्यवहार व्यापक स्तर पर होने लगा तो पश्चिमी व्यापारियों को पूर्व की ओर बढ़ने का अवसर प्रदान हुआ। इसके पूर्व भी एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना घट चुकी थी। प्रांतीय राज्य का अभ्युदय, जिसके फलस्वरूप पूर्वी भारत के मध्यभाग में कई स्वतंत्र प्रांतीय राज्य खड़े हो गये थे जहाँ पश्चिमी भारत के उन्नतशील व्यापारियों का व्यावसायिक प्राधान्य स्थापित हो जाता है। पश्चिमी क्षेत्र के इन व्यवसायियों की बोल-चाल की भाषा थी खड़ीबोली। स्वभावतः विचार-विनिमय में खड़ीबोली का प्रयोग शिष्ट वर्गों में और विशेषतया व्यावसायिक वर्ग में होने लगा था। उधर मुगलों से प्रभावित समाज में भी खड़ीबोली को ही प्रश्रय मिला। बात यह थी कि विदेशी मुसलमानों को और भारतीय मुगलों को भी खड़ीबोली सरल एवं सुबोध प्रतीत हुई। अतः साहित्य में भले ही खड़ीबोली को ब्रज तथा अवधी के सामने दब जाना पड़ा पर बोल-चाल में इसे उत्तरोत्तर महत्त्व मिलता गया।

अकबर के समय में **गंग भाट** ने 'चंद छंद बरनन की महिमा' नामक एक गद्य ग्रंथ लिखा था। इसकी भाषा-आधुनिक खड़ीबोली के आस-पास है। भाषा का उदाहरण देखिए—"इतना सुनके पातसाहि जी श्री अकबर साहिजी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रासबंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

कुछ फुटकर रचनाएँ भी खड़ीबोली में हुई थीं और गद्य के क्षेत्र में इस खड़ीबोली को कहीं-कहीं अपनाया गया था। साधुओं, फकीरों आदि की भाषा तो निश्चित रूप से खड़ीबोली हिन्दी ही थी, उसे उर्दू कहना तर्कसंगत नहीं है।

३. **उत्तर मुगल एवं पूर्व आँग्लकालीन खड़ीबोली**—इस युग में खड़ीबोली और अधिक साफ सुथरी भाषा के रूप में सामने आती है। साधारण बोल-चाल के रूप में तो, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इसे बहुत अधिक प्रसार मिलता जा रहा था, कुछ क्षेत्रों में, गद्य-रचना के रूप में भी इसे पर्याप्त प्रचार मिल रहा था। इस युग में दो नाम विशेष उल्लेखनीय हैं : (१) **रामप्रसाद 'निरंजनी'** तथा (२) **पंडित दौलतराम**।

'निरंजनी' जी ने सन् १७४१ ई० में 'भाषा योगवासिष्ठ' नामक गद्य-ग्रंथ की रचना की। श्रीवास्तव में खड़ीबोली हिन्दी का यही वह पहला ग्रंथ है जिसकी भाषा

विशुद्ध एवं परिष्कृत है और जिसे हम आधुनिक खड़ीबोली की पहली कड़ी कह सकते हैं। भाषा का उदाहरण देखिए—

"अगस्त जी के शिष्य सुतीक्ष्ण के मन में एक सन्देह पैदा हुआ। तब वे उसके दूर करने के कारण अगस्त मुनि के आश्रम को जा विधि सहित प्रणाम करके बैठे और विनती कर प्रश्न किया कि हे भगवान् ! आप सब तत्त्वों और सब शास्त्रों के जाननहारे हौ, मेरे एक संदेह को दूर करो। मोक्ष का कारण कर्म है कि ज्ञान है अथवा दोनों हैं, समझाय के कहो। इतना सुन अगस्त मुनि बोले कि हे ब्रह्मण्य ! केवल कर्म से मोक्ष नहीं होता और केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, मोक्ष दोनों से होता है। कर्म से अंतःकरण शुद्ध होता है, मोक्ष नहीं होता और अंतःकरण की शुद्धि बिना केवल ज्ञान से मुक्ति नहीं होती।"

इस रचना के लगभग पच्चीस वर्ष पश्चात् पंडित **दौलत राम** ने जैन 'पद्म-पुराण' का भाषानुवाद सात सौ पृष्ठों में किया। यद्यपि इसकी भाषा 'निरंजनी' जी जैसी साफ-सुथरी और परिष्कृत नहीं है तथापि ये दोनों ग्रंथ इसके सबल प्रमाण हैं कि हमारी गद्य-परंपरा अपने स्वाभाविक रूप में गतिशील थी और फोर्ट विलियम कालेज में इसका जन्म न होकर जनता के बीच इसका उद्भव बहुत पहले ही हो चुका था। पंडित दौलतराम की भाषा का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है—

"जंबूद्वीप के भारत क्षेत्र विषै मगध नामा देश अति सुन्दर है, जहाँ पुण्याधि-कारी बसे हैं, इंद्र के लोक समान सदा भोगोपयोग करते और भूमि विषै साँठेन के बाड़े शोभायमान हैं। जहाँ नाना प्रकार के अन्नों के समूह पर्वत समान ढेर हो रहे हैं।"

४. **आधुनिक युग**—अँग्रेजों के आने के पूर्व मध्यदेश की बोल-चाल की भाषा के दो रूप थे—हिन्दी तथा उर्दू। खड़ीबोली हिन्दी का प्रचार संपूर्ण मध्यदेश के शिक्षित एवं शिष्ट वर्ग में हो रहा था तथा उर्दू मुसलमान समाज द्वारा बहु व्यवहृत थी। कुछ ग्रामीण क्षेत्रों के मुसलमान भी खड़ीबोली हिंदी का ही प्रयोग कर रहे थे। अँग्रेजों ने हिंदी तथा उर्दू को इसी आधार पर दो पृथक् भाषाएँ स्वीकार किया था।

जैसा कि प्रारंभ में ही संकेत किया गया था आधुनिक काल के गद्य साहित्य के विकास-क्रम को भी चार-सोपानों में विभक्त किया जा सकता है—

१. प्रथम सोपान—उद्भव-काल (सन् १८४३-१८६८ ई०)
२. द्वितीय सोपान—निर्माण-काल (सन् १८६८-१८९३ ई०)
३. तृतीय सोपान—परिमार्जन काल (सन् १८९३-१९१८ ई०)
४. चतुर्थ सोपान—पूर्ण विकासावस्था (सन् १९१८ से आरम्भ)

यहाँ हम इन चारों सोपानों का अध्ययन पृथक्-पृथक् करेंगे।

प्रथम सोपान—उद्भव-काल (सन् १८४३-१८६८ ई०)

हिन्दी गद्य के विकास का प्रथम सोपान जिसे हम उद्भव काल की संज्ञा दे सकते हैं, उन्नीसवीं शती के द्वितीय चरण से आरंभ होता है। इस समय के प्रसिद्ध लेखक हैं—

१. मुंशी सदासुख लाल, २. सैयद इंशा अल्ला खाँ, ३. लल्लूलाल ४. सदल मिश्र ५. राजा शिवप्रसाद तथा ६. राजा लक्ष्मणसिंह।

इस उद्भव काल की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता तो यह है कि इस युग में कुछ गद्य-साहित्य स्वतंत्र रूप में लिखा गया है और कुछ प्रशासकीय आदेशानुसार। स्वतंत्र रूप में लिखा गया साहित्य मुख्यतः या तो धर्म एवं नीति के रूप में है अथवा फिर कथा के रूप में। प्रशासकीय आदेश से लिखा गया प्रमुख ग्रंथ है लल्लू लाल जी का 'प्रेमसागर'। कथा रूप में इंशा अल्ला खाँ की रानी केतकी की कहानी अधिक प्रसिद्ध है। भाषा की स्थिति ठीक-ठीक समझने के लिए कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं, आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई वह तुरंत ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं।"

—मुंशी सदासुखलाल

"इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी।....जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवा कर छिनवा लूँगी।"

—इंशा अल्लाखाँ

"जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छवि-हीन हुआ। बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी की सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंह की बँकाई निरख धनुष धवकाने लगा; आँखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग मीन खञ्जन खिसाय रहे।"

—लल्लूलाल जी

"इतने में जहाँ से सब सखी सहेली और जात भाइयों की स्त्री सब दौड़ी हुई आई समाचार सुन जुड़ाई, मगन हो हो नाचने, गाने, बजाने लगीं और अगणित रुपया अन्न वस्त्र राजा रानी ने ब्राह्मणों को बोला बोला दान दिया।"

—सदल मिश्र

यहाँ इस तथ्य की ओर संकेत कर देना आवश्यक है कि इन चारों लेखकों में जैसा कि आचार्य शुक्ल ने सूचित किया है इंशा की भाषा सबसे चटकीली, मुहावरेदार और चलती है। लल्लूलाल जी पर ब्रजभाषा काव्य का प्रभाव स्पष्टरूप से दिखाई देता है। किंतु मुंशी सदासुख लाल की भाषा ही परवर्ती गद्यकारों को प्रभावित कर पाती है। भाषा संस्कृत प्रधान हो या बोल-चाल की यह एक प्रश्न आगे चलकर उठता है। इस प्रश्न के मूल में दो कारण थे। पहला कारण था ईसाई मिशनरियों का बोल-चाल की भाषा में अपने मत का प्रचार तथा दूसरा कारण था उर्दू-हिंदी का बिलगाव। स्वभावतः कुछ लोग इसे एक प्रतिक्रिया के रूप में स्वीकार करते हैं पर बात ऐसी नहीं है। यह प्रतिक्रिया न होकर स्वाभाविक प्रक्रिया थी। जब हमारे गद्य-निर्माताओं को खड़ीबोली को सशक्त एवं समृद्धिशालिनी बनाने की चिंता हुई तो स्वभावतः उन्हें संस्कृत की ओर जाना पड़ा जिससे इसका उर्दूपन धीरे-धीरे घटता गया। वस्तुस्थिति के स्पष्टीकरण के लिए पादरियों के प्रवचनों का एक नमूना दिया जा रहा है जो यह दावा करते थे कि वे हिंदी में अपना प्रचार कार्य कर रहे हैं। (यह भी कह देना आवश्यक है कि इनके सभी धर्मग्रंथ 'प्रेमसागर' की भाषा में अनूदित किए गये थे पर अँग्रेजी तथा संस्कृत की शैलीगत विभिन्नता के कारण अनुवाद की भाषा लचर हो गई है।)

"स्त्रीष्टियान ने कहा जो हुआ सो हुआ पर इस समय जिसको हम देखते हैं उसको विचारें क्योंकि यह बात आगे को भी हमारे काम आवेगी। इस स्त्री ने एक दण्ड से तो रक्षा पाई........।"

शासनाधीन गद्य पाठ्य पुस्तकों के रूप में भी सामने आता है। अंग्रेजों ने वर्नाक्युलर स्कूलों में उर्दू तथा हिन्दी की शिक्षा की व्यवस्था जिसके लिए पाठ्य पुस्तकें तैयार कराई गईं। मिशनरियों ने प्रकाशन-कार्य भी अपने हाथ में लिया। इस प्रकार स्कूली हिन्दी को प्रोत्साहन मिला। अँग्रेजों द्वारा राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने इस दिशा में प्रशंसनीय सहयोग दिया। इनकी हिन्दी में उर्दूपन अधिक था। एक नमूना देखिए—

"लेकिन समझने की बात है कि वह इतने बड़े मुल्क का मालिक और राजाधिराज होकर भी इस कदर सीधा सादा और तपस्या ऐसी करता था कि नित एक चटाई पर सोता था और अपने हाथ शिप्रा नदी में से पानी का तँबू भर कर ले आता था।"

—राजा शिवप्रसाद

इनके समकालीन राजा लक्ष्मणसिंह संस्कृत साहित्य का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करने में लगे हुए थे। उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुंतल', 'मेघदूत' तथा 'रघुवंश' जैसे

प्रसिद्ध ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जो आज भी रुचि से पढ़े जाते हैं। भाषा का नमूना द्रष्टव्य है—

"हे मातलि! दानवों को मारने के उत्साह में पहले दिन इधर से जाते हुए हमने स्वर्ग भली भाँति नहीं देखा था, अब तुम कहो इस समय हम पवनों के किस पंथ में चलते हैं?"

—राजा लक्ष्मणसिंह

विरोधी परिस्थिति

सन् १८०० ई० में ही, जैसा कि हमें ज्ञात है, गद्य का प्रवर्त्तन हो चुका था पर हिन्दी गद्य-साहित्य की अटूट परंपरा उसी समय से नहीं चल पाती है। प्रथम चार लेखकों के बाद एक पठार सा आता है और तब राजाश्रय का हिन्दी जगत् में पदार्पण होता है। पर यह बीच का समय हिन्दी के जनसमुदाय में प्रचारित होने का समय अवश्य रहा क्योंकि केवल ईसाई पादरी ही नहीं भारतीय धर्मोपदेशक एवं समाज सुधारक भी खड़ीबोली में, मध्यप्रदेश में अपने मत का प्रचार कर रहे थे। राजा राममोहन राय का नाम ऐसे समाज-सुधारकों में आदर के साथ लिया जा सकता है। सन् १८१५ ई० में उन्होंने वेदांत सूत्रों का हिन्दी अनुवाद करके प्रकाशित किया था। इनकी हिन्दी का एक उदाहरण देखिए—

"जो सब ब्राह्मण सांग वेद अध्ययन नहीं करते सो सब व्रात्य हैं, यह प्रमाण करने की इच्छा करके ब्राह्मण धर्म परायण सुब्रह्मण्य शास्त्री जी ने जो पत्र सांग-वेदाध्ययनहीन अनेक इस देश के ब्राह्मणों के समीप पठाया है, उसमें देखा जो उन्होंने लिखा है—वेदाध्ययनहीन मनुष्यों का स्वर्ग और मोक्ष होने शक्ता नहीं।"

—राजा राममोहन राय

छापाखाने के आविष्कार से लाभ उठाकर भारत में कई सुधी व्यक्तियों ने पत्र निकालने आरम्भ कर दिये थे। कलकत्ते में बंगला तथा अँग्रेजी में कुछ पत्र निकाल रहे थे। हिन्दी प्रेमियों को भी उत्साह मिला। सन् १८२७ में पंडित जुगलकिशोर ने **'उदंतमार्त्तंड'** नामक पत्र निकाला। यही हिन्दी का पहला समाचार-पत्र है। इसकी भाषा का एक नमूना देखिए—

"एक यशी वकील वकालत का काम करते-करते बुड्ढा होकर अपने दामाद को यह काम सौंप के आप सुचित हुआ। दामाद कई दिन काम करके एक दिन आया औ प्रसन्न होकर बोला—हे महाराज! आपने जो फलाने का पुराना औ संगीन मुकद्दमा हमें सौंपा था सो आज फैसला हुआ। यह सुनकर वकील पछता करके बोला तुमने सत्यानाश किया। उस मुकदमे से हमारे बाप बढ़े थे तिस पीछे हमारे बाप मरती समय हमें हाथ उठा के दे गये औ हमने भी उसको बना रखा औ अब तक भली भाँति

अपना दिन कटा औ वही मोकद्दमा तुमको सौंप कर समझाया था कि तुम भी अपने बेटे पोते परोतों तक पलोगे पर तुम थोड़े से दिनों में उसे खो बैठे।"

उधर काशी में राजा शिवप्रसाद ने शिक्षा विभाग में आने के पूर्व सन् १८४५ में "बनारस अखबार" निकाला जिसकी भाषा तात्कालिक प्रभाव के कारण उर्दू फारसी मिश्रित रही—

"....देखकर लोग उस पाठशाले के किते के मकानों की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं और उनके बनने के खर्च की तजवीज करते हैं कि जमा से जियादा लगा होगा और हर तरह से लायक तारीफ के है। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।"

सन् १८०५ में काशी से ही एक दूसरा समाचार-पत्र बाबू तारामोहन मित्र ने **"सुधाकर"** नाम से निकालना आरम्भ किया जिसकी भाषा विशुद्ध हिन्दी रही—

"स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं........।"

पर इन सारे प्रयत्नों पर पानी फेर देते हैं कुछ उर्दू पोषक चाटुकार, जो अँग्रेजों को बराबर यह समझाने को चेष्टा करते रहे कि संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) की शिष्ट भाषा उर्दू है और हिन्दी एक ग्रामीण बोली मात्र है। फलस्वरूप अँग्रेजों ने उर्दू को कचहरी एवं दफ़्तरों की भाषा निर्धारित कर दिया। उन्होंने अपने कार्यालयों में अँग्रेजी-दफ्तर, उर्दू-दफ़्तर जैसा वर्गीकरण किया। हिन्दी को कोई स्थान नहीं दिया गया। भाषा-सम्बन्धी यह सरकारी पक्षपात हिन्दी गद्य के विकास में कितना घातक सिद्ध हुआ यह बाबू बालमुकुंद गुप्त के निम्न कथन से स्पष्ट हो जाता है—

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे वे फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदी भाषा हिन्दी न रहकर उर्दू बन गई।........हिंदी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी-फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।"

पर इतनी सशक्त एवं संवर्द्धनशील परंपरा वाली भाषा को यह राजकीय प्रतिरोध भी न रोक सका और जैसा कि हम आगे देखेंगे, इस गतिरोध के बाद हिन्दी का पुनरुत्थान होता है। खड़ीबोली गद्य की अटूट परम्परा पुनः सर्जित होती है।

द्वितीय सोपान—निर्माण-काल (सन् १८६८-१८९३ ई०)

हिंदी-गद्य के विकास का यह द्वितीय सोपान निर्माण-काल कहा जा सकता है। जिस समय हिन्दी भाषा-भाषियों को यह ज्ञात हो गया कि एक ओर सरकार राजकाज में उर्दू को प्रश्रय देकर नौकरी के प्रलोभन के माध्यम से उर्दू का प्रचार करती जा

रही है और दूसरी ओर अँग्रेजी सभ्यता मुख्यतः भारतीय परंपरा को आघात पहुँचाने पर तुली हुई है तो भारतीयता के पोषकों एवं हिंदी के रक्षकों ने स्थिति सँभालने का निश्चय किया। इसका एक मात्र साधन था हिन्दी में अधिक से अधिक साहित्य-सर्जन और विशेषतया पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हिंदी का प्रचार तथा अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा के लिए उपयुक्त विषय-सामग्री का चुनाव। इस निर्माणकाल में हमें यह प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से दिखाई देती है; इस आन्दोलन के अगुआ हुए भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र। यही कारण है कि इस युग को भारतेन्दु युग के नाम से भी अभिहित किया जाता है।

भारतेन्दु युग की विशिष्टता—भारतेन्दु बाबू को खड़ीबोली हिंदी का जन्मदाता कहा जाता है। इसमें संदेह नहीं कि **भारतेन्दु बाबू** के प्रोत्साहन से ही इस युग में हिंदी पत्र-पत्रिकाओं, निबन्ध-लेखकों, नाटककारों तथा उपन्यासकारों की बाढ़-सी आ जाती है। यद्यपि यह सत्य है कि पाठकों के अभाव में हिन्दी-पत्र-पत्रिकाओं की आयु बहुत कम होती थी। तथापि श्रम और धन लगाकर हिंदी समाचार-पत्र एवं पत्रिका निकालनेवालों का ताँता नहीं टूटता है। भारतेंदु बाबू के अल्प जीवन काल में ही कुल २६ पत्रिकाएँ देश के विभिन्न क्षेत्रों से निकल रही थीं। देश के पूर्वी क्षेत्र में इनकी सीमा कलकत्ता तक थी जहाँ से पाँच पत्र निकले थे। पश्चिमी सीमा जयपुर, अजमेर तथा उदयपुर थी, जहाँ से तीन पत्र निकले थे। इन पत्रों की पश्चिमोत्तरी सीमा लाहौर तथा दक्षिणी सीमा जबलपुर थी। दिल्ली एवं शाहजहाँपुर इनकी उत्तरी सीमाएँ थीं। उत्तर प्रदेश में तो काशी, कानपुर, प्रयाग आदि हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के प्रमुख केन्द्र थे इस प्रकार भारतेन्दु युग में ही बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा पंजाब में हिंदी के पाठक तैयार करने की सफल चेष्टाएँ होने लगी थीं। हिन्दी का प्रचार का लक्ष्य इस युग की **प्रथम** विशेषता है।

इस युग की **दूसरी** विशिष्टता है भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का संरक्षण तदर्थ दो महत्त्वपूर्ण कार्य किए गए थे। एक ओर प्राचीन पौराणिक साहित्य एवं पौराणिक सामग्री को रचना का विषय बनाया गया तथा दूसरी ओर अति आधुनिकता व अति पोंगापंथी का खंडन किया गया। इस प्रकार प्राचीन तथा नवीन सभ्यता के संधिकाल पर खड़े साहित्यकारों ने हमें अपने देश को रूढ़िवादिता से हटकर भी अनावश्यक अँग्रेजियत की चकाचौंक में चकरा जाने से बचाया। स्वयं भारतेंदु बाबू के नाटकों में ही हमें यह प्रवृत्ति देखने को मिल जाती है। वे एक धार्मिक-सामाजिक तथा राजनीतिक क्रांति ला देना चाहते थे। उनकी 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' में धार्मिक क्रांति, 'नील देवी' में सामाजिक क्रांति तथा 'भारत-दुर्दशा' एवं 'भारत-जननी' में राजनीतिक क्रांति को ही प्रोत्साहित किया गया है। बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने

भी अपने नाटकों में भारतेंदु बाबू द्वारा इंगित क्रांति मार्ग को आगे बढ़ाया। उनके भारत सौभाग्य' तथा 'वीरांगना रहस्य' में राष्ट्रीय तथा सामाजिक नवजागरण के बीज हैं। समकालीन नाटककार **प्रतापनारायण मिश्र** ने भी धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक क्रांति का आह्वान अपने नाटकों में किया है। इस युग के अन्य नाटककारों में ही हमें इसी जागरण के शब्द सुनाई पड़ते हैं। पर नाटकों की भाँति उपन्यासों में हमें यह प्रवृत्ति स्पष्टतः देखने को नहीं मिलती है। इसका प्रमुख कारण तो है अँग्रेजी तथा बँगला के उपन्यासों को प्रेरणा-स्रोत बनाना तथा गौण कारण है मनोरंजन एवं कौतूहल की भावना को प्रधानता देना। युग के प्रसिद्ध कथाकार श्री **निवासदास, ठाकुर जगमोहन सिंह, किशोरी लाल, देवकीनन्दन खत्री, श्री गोपालराम गहमरी, बालकृष्ण भट्ट, राधा-कृष्ण दास** आदि ने अपनी रचनाओं में मनोरंजन, कौतूहल तथा सरसता को ही प्रधान लक्ष्य बनाया था। भारतेंदु युग के निबंधकारों में वैसे तो रहस्य विनोद की प्रवृत्ति सर्वत्र पाई जाती है पर स्वयं भारतेंदु जी तथा बालकृष्ण भट्ट ने कुछ गंभीर-निबंध लिखकर राष्ट्रीय नवचेतना को जगाने को चेष्टा की है। इस प्रकार भारतेंदु बाबू के प्रोत्साहन से पूर्ववर्ती गोष्ठी-साहित्य जनता का साहित्य बनने की स्थिति में आया। वह साहित्य हमारी तात्कालिक आवश्यकताओं को पूरा-पूरा ध्यान में रखकर चल रहा था। पर विशुद्ध मनोरंजन एवं कौतूहल को ध्यान में रखकर चलनेवाला तिलस्मी-साहित्य भी कम उपयोगी नहीं सिद्ध हुआ। कहा जाता है कि बाबू देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों को पढ़ने के लिए अनेक उर्दू वालों ने हिन्दी सीखी थी।

तृतीय सोपान—परिमार्जन (सन् १८९३-१९१८)

जिस समय हिंदी-गद्य का भांडार क्षिप्रता से भरा जा रहा था और जिस कार्य में संपूर्ण मध्यप्रदेश ही नहीं, इसके इतर क्षेत्र के लोग भी योगदान दे रहे थे, उस समय सर्जन की ओर ही लोगों का ध्यान अधिक गया था। शुद्धता, सुधार एवं शृङ्गार की ओर कम। हरिश्चन्द्र बाबू के दिखाये हुए मार्ग पर 'हरिश्चंद्री हिंदी' में हमारे निबंध-नाटक-उपन्यास आदि लिखे जा रहे थे। इसमें सन्देह नहीं कि दो ही दशकों में विफल गद्य-साहित्य सर्जित कर दिया गया था आनेवाली पीढ़ी के सम्मुख भाषा-संबंधी कुछ समस्याएँ भी खड़ी हो जाती हैं। इन्हीं समस्याओं के समाधान में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भगीरथ प्रयत्न किया था, जिसमें वे सफल हुए थे। यहाँ हम संक्षेप में द्विवेदी जी के इन्हीं प्रयत्नों का उल्लेख करते हुए उनकी तथा उनके युग के अन्य गद्यकारों की तत्संबंधी उपलब्धियों पर प्रकाश डालेंगे।

द्विवेदीजी की उपलब्धियाँ :—

जिस समय द्विवेदीजी ने हिंदी-जगत् में पदार्पण किया, उस समय खड़ीबोली में साहित्य-निर्माण तो बहुत अधिक हो चुका था और हो रहा था पर भाषा-संबंधी निम्नलिखित समस्याओं की जटिलता भी उपस्थित हो चुकी थी—

१. भाषा की अराजकता,
२. भाषा की व्याकरणहीनता तथा
३. शब्द-भांडार की न्यूनता।

भाषा की अराजकता—देश के विभिन्न भाषा-भाषी क्षेत्रों के लेखकों ने हिंदी को अपना योगदान देना आरंभ किया था और साथ ही शैली के लिए किसी ने अँग्रेजी, किसी ने बँगला तो किसी ने किसी अन्य प्रान्तीय भाषा को अपना आदर्श बनाया था। स्वभावतः भारतेन्दु-युगीन हिंदी में भाषा-संबंधी अराजकता आ गई थी। इस अराजकता को समाप्त करने के लिए द्विवेदीजी ने जोरदार कदम उठाया। 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने आदर्श हिंदी का नमूना प्रस्तुत किया। उन्होंने न केवल स्वयं अच्छी हिंदी लिखी-प्रत्युत अन्य लेखकों को भी इसके लिए सजग एवं सचेष्ट किया। खिचड़ी हिंदी लिखनेवालों को द्विवेदीजी ने डाँट-फटकार भी सुनाई। शैलीगत बाह्य प्रभावों को दूर करने की सिफारिश की और हिंदी गद्य में विशुद्ध हिंदीपन लाने के लिए अपने युग के लेखकों को प्रोत्साहित किया।

भाषा की व्याकरणहीनता—अपने प्रारंभिक विकास-काल में हिन्दी गद्य व्याकरण की उपेक्षा करके चल रहा था। शब्दों के प्रयोग की बहुरंगी विधाएँ देखने को मिल रही थीं। व्याकरण का जैसे कोई बन्धन ही नहीं रह गया था। प्रांतीय भाषाओं के प्रयोग से तो व्याकरण की स्थिति और भी लचर हो गई थी। द्विवेदी जी ने अशुद्ध भाषा लिखनेवालों को कड़ी चेतावनी दी। कहा जाता है कि 'सरस्वती' में प्रकाशित होने वाली रचनाओं के सुधार में वे स्वयं बहुत अधिक श्रम करते थे और इसका परिणाम भी अच्छा निकला। लोगों की यह सामान्य धारणा बन गई कि 'सरस्वती' में प्रकाशित रचनाओं की ही भाषा-शुद्ध हिन्दी कही जा सकती है। अनेक लेखक द्विवेदीजी के ऋणी हैं और हिन्दी साहित्य के अनेक महारथियों की बहुरुपिया हिंदी को एक निश्चित ढर्रे पर लाने के लिए हिंदी-साहित्य भी द्विवेदीजी का ऋणी है।

शब्द-भंडार की न्यूनता—हिंदी में शताब्दियों से केवल पद्य-रचना ही हुई थी। स्वभावतः शब्द-भंडार का अभाव था। हर प्रकार की भाव-व्यंजना के लिए हमें शब्दों की कमी खटक रही थी। यह कमी उस समय और अधिक खलने लगती है, जब गद्य के विषयों का विस्तार होने लगता है। राष्ट्रीय नवजागरण के साथ-साथ जब अँग्रेजी

साहित्य के माध्यम से हम पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य की विभिन्न विधाओं से परिचित होते हैं और उस ओर अग्रसर होने का प्रयास करते हैं तो हमें यह अनुभव होता है कि शब्दों का अभाव है। इस अभाव का अध्ययन द्विवेदी जी ने गंभीरतापूर्वक किया और तब उन्होंने हिंदी के शब्द भाण्डार को भरने की चेष्टा की। उन्होंने प्रान्तज, क्षणभंगुर तथा व्यापक इन तीन वर्गों में हिंदी के शब्दों को बाँटा था। व्यापक शब्दों के प्रयोग को ही उन्होंने प्रोत्साहित किया। नए-नए शब्द भी संस्कृत धातुओं के संबल पर गढ़े गये। इस प्रकार द्विवेदीजी तथा उनके सहयोगी लेखकों के प्रयत्नों के फलस्व रूप कुछ ही वर्षों में हिंदी-गद्य हर प्रकार से समृद्धिशाली हो उठा।

अब तक हम द्विवेदी युग की भाषा की समस्याओं एवं उसके समाधानों की चर्चा कर रहे थे, अब हम युग की विभिन्न साहित्य विधाओं एवं वर्ण्य विषयों पर एक दृष्टि डालेंगे। साहित्य का लगभग सभी विधाओं का पूर्ण विकास द्विवेदी युग में हो जाता है। (काव्य की प्रगति का उल्लेख हमने प्रारम्भ में ही कर दिया है।) गद्य-क्षेत्र में द्विवेदी युग में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध आदि के अतिरिक्त समालोचना साहित्य का भी सूत्रपात होता है। बँगला तथा अँग्रेजी के नाटकों तथा उपन्यासों के अनुवाद तो हुए ही। मौलिक रचनाओं की भी इस युग में कमी नहीं रही है। देवीप्रसाद पूर्ण, बद्रीनाथ भट्ट, मैथिलीशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी आदि द्विवेदी-युग के प्रमुख **नाटककार** थे। अयोध्यासिंह उपाध्याय, लज्जाराम मेहता, ब्रजनन्दन सहाय, मन्नन द्विवेदी, शिवपूजन सहाय आदि **उपन्यास** साहित्य का कोष भर रहे थे। कहानियों के क्षेत्र में तो आश्चर्यजनक उन्नति इस युग में हुई थी। सबसे महत्त्वपूर्ण घटना है प्रसाद जी का अवतरण। जी० पी० श्रीवास्तव, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', राधिकारमण प्रसाद सिंह, चंद्रधर शर्मा गुलेरी आदि इस युग के सुप्रसिद्ध **कहानीकार** थे। **निबंधकारों** में स्वयं द्विवेदीजी, बालमुकुंद गुप्त, माधवप्रसाद मिश्र, अध्यापक पूर्णसिंह आदि का नाम आदर से लिया जा सकता है। हिन्दी में शुद्ध **समालोचना** का श्रीगणेश तो द्विवेदीजी से ही होता है। मिश्रबंधुओं ने भी इस ओर कुछ प्रयत्न किया था। आशय यह कि भारतेन्दु युग में हिंदी-साहित्य में जिन नवीन रूपों को अपनाया गया था, द्विवेदी-युग में उनमें न केवल परिमार्जन हुआ प्रत्युत आशातीत परिवर्द्धन भी हुआ और आने वाले युग के लिए विकासमान पथ प्रशस्त हो गया।

इन लेखकों ने समाज को लक्ष्य में रखकर ही रचना की थी। अतः विषयों की विविधता से भी यह युग परिपूर्ण है। आदर्श की स्थापना की चिन्ता प्रायः सबके साथ लगी हुई थी। प्राचीन भारतीय गौरव की स्थापना में भी सबको लीन देखा जा सकता

है। नव जगारण की झलक भी सर्वत्र मिलती है। राजनीति समाज, धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान, कोमल मानवीय भावनाओं आदि से यह साहित्य भरा हुआ है।

चतुर्थ सोपान—पूर्ण विकासावस्था (सन् १९१८ से)

हिंदी गद्य की पूर्ण विकासावस्था का परिचय देने के पूर्व हमें देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का सिंहावलोकन कर लेना होगा जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। इस चतुर्थ सोपान का आरम्भ होता है सन् १९१८ ई० से। इतिहास के विद्यार्थी इस तथ्य से अवगत हैं कि हमारे राष्ट्रीय नवजागरण के चार सोपानों का इतिहास इस प्रकार विभाजित किया गया है—

१. प्रथम सोपान सन् १८८५-१९०५ ई० तक
२. द्वितीय सोपान सन् १९०५-१९२१ ई० तक
३. तृतीय सोपान सन् १९२१-१९३५ ई० तक तथा
४. चतुर्थ सोपान सन् १९३५-१९४७ ई० तक।

राष्ट्रीय नवजागरण के प्रथम तीन सोपान हिंदी-साहित्य के दो प्रमुख युगों—भारतेन्दु-युग तथा द्विवेदी-युग—में पड़ते हैं। इस समय तक देश के नवजागरण की-धारा प्रायः धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्रों तक ही सीमित रहती है और अँग्रेजी शासन के प्रति खुले विद्रोह की बातें कम सोची जा रही थीं। इसके बाद जब हमारे नेताओं ने यह देख लिया कि पारस्परिक समझौते द्वारा कुछ बनने को नहीं तो विवश होकर विरोध या असहयोग का मार्ग अपनाया जाता है। जलियाँवाले बाग की घटना हमारी आँखें खोल देती हैं। द्विवेदी युग के अंत होते-होते गरमदल ने क्रांति का मार्ग अपनाया और देश के कुछ भागों में इस क्रांति ने रक्तिम रूप धारण कर लिया। असहयोग आंदोलन की असफलता भी देशवासियों को हतोत्साहित न कर सकी और देखते-देखते सम्पूर्ण देश अंग्रेजी-शासन का विरोधी हो गया। उधर अँग्रेजों को समझौते की सूझी और गोलमेज कांफरेंसों की असफल योजना बनने लगी। इस बीच कांग्रेस ने देश की जनता को पूर्णतः जाग्रत कर दिया था। अँग्रेजों की भेद नीति भी चलती रही, पर कोई भी व्यवधान हमारी राष्ट्रीय विचेतना को दबा न सका। अन्त में १९४२ का विद्रोह होता है और तब १९४७ में देश आजाद घोषित कर दिया जाता है। इस प्रकार हिंदी साहित्य का यह वर्तमान युग जो १९१८ ई० से ही आरम्भ हो जाता है एक ओर तो आजादी की खुली लड़ाई का दर्शन करता है और दूसरी ओर स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् नये-नये विकासों का साक्षात्कार करता है।

राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र में, इस युग में अनेक वादों का जन्म हो चुका रहता है। भारतेंदु-युगीन राष्ट्रीयता को अन्तर्राष्ट्रीयता के धरातल पर पहुँचाने वालों

का भी उदय हो जाता है। भारतीयता के प्रतिपोषकों का भी दल खड़ा होता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में तो और भी क्रांतिकारी प्रगति देखने को मिलती है। जिस प्रकार औद्योगिक क्रांति ने वाणिज्य-व्यवसाय को प्रोत्साहन दिया था उसी प्रकार यूरोपीय पुनर्जागरण ने संपूर्ण यूरोप की बुद्धि को झकझोर दिया था और यातायात तथा सन्देश-वाहन के नये साधनों ने संपूर्ण विश्व की विचारधाराओं को परस्पर मिलने का अवसर प्रदान कर दिया। ये सारी उपलब्धियाँ बहुत पहले ही घटित हो चुकी रहतीं, पर इनका पूरा पूरा लाभ द्विवेदी युग के बाद के साहित्यकार ही उठा पाते हैं। जिन राजनीतिक वादों ने हमारे साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया है, उनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं गांधीवाद तथा मार्क्सवाद। भारतीय पुनर्जागरण की जो लहर भारतेंदु युग के पूर्व ही उठ चुकी थी और जिसके फलस्वरूप साहित्यकारों ने स्वदेश का गौरव-गान आरंभ किया था वह आवश्यकता एवं अनिवार्यतावश आद्योपांत चलती रही। यह तो स्वतंत्रता-संग्रामकालीन साहित्य की परिस्थितियाँ हैं। अब हम स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् की ओर संकेत करेंगे। स्वतंत्रता के पश्चात् देश के नेतागण राष्ट्रीय विकास में लग गए और साहित्यकारों में से एक दल स्पष्टतः देश-भक्ति की ओर उन्मुख हुआ तो संभवतः 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को चरितार्थ करने के लिए इस देश-भक्ति को रूढ़िवादिता समझ कोई रूस की तो कोई अमरीकों की ओर देखने लगा। यहीं पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी का मतभेद हो जाता है। पुरानी पीढ़ी पूर्ववत् अपने इतिहास-पुराण से तथा अपनी प्रकृति से सामग्रियाँ बटोरती रही, हाँ, विदेशी ज्ञान से भी लाभ उठाने में वह नहीं झिझकती थी, पर नई पीढ़ी सब कुछ नया ढूंढ़ रही थी। काव्य के क्षेत्र में जो नये-नये साहित्यिक वाद खड़े हुए थे उसका परिचय दिया जा चुका है, यहाँ केवल आदर्शवाद, यथार्थवाद तथा प्रगतिवाद की ओर संकेत करना चाहेंगे, क्योंकि इन तीन वादों का संबंध ही हमारे गद्य साहित्य से अधिक है। इन्हीं तीनों प्रमुख धाराओं में बहती हुई हमारी साहित्य सरिता आगे बढ़ी है।

हिंदी-गद्य के विकास के इस चतुर्थ सोपान में अनेक महत्त्वपूर्ण लेखकों का अवतरण होता है। नाटक के क्षेत्र में प्रसादजी का नाम सर्वाधिक आदर के साथ लिया जा सकता है। गोविंदवल्लभ पंत, मिलिंद, सुमित्रानंदन पंत, भगवती प्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविंददास आदि वर्तमान युग के सुप्रसिद्ध नाटककार हैं। उपन्यासकारों में मुंशी प्रेमचंद, वृन्दावन लाल वर्मा, उग्र, चतुरसेन शास्त्री, भगवतीचरण वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, यशपाल, नागार्जुन आदि का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनमें से अनेक लेखकों ने कहानियाँ भी लिखी हैं। इन लेखकों की सामग्रियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रायः दो विषयों की ओर इनका ध्यान गया था। एक तो देश-जाति संबंधी और दूसरा

नारी-पुरुष संबंधी। इनमें अधिकांश लेखक तो अपनी रचनाओं के लिए भारतीय इतिहास तथा पुराणों की ओर जाते हैं। प्रसादजी के नाटकों से हम परिचित हैं। इसी प्रकार वृन्दावन लाल वर्मा के उपन्यासों की सामग्रियों से भी परिचित हैं। गांधीवाद तथा आर्यसमाज से प्रभावित साहित्यकारों ने अछूतोद्धार विधवा विवाह आदि को भी अपनी रचना का विषय बनाया है। सत्याग्रह तथा अन्य राष्ट्रीय आन्दोलनों की भी स्पष्ट झलक इस साहित्य में देखने को मिलती है। आदर्श और यथार्थ का झगड़ा भी इसी युग में खड़ा होता है और मुंशी प्रेमचंदजी इसी समय आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का एक मध्यम मार्ग निकालते हैं। पर न तो वह समझौते का युग था और न वैसी परिस्थितियाँ ही थीं। तब सभी प्रायः चरमवादी थे। राजनीति की उग्रवादिता का कुछ प्रभाव साहित्यकारों पर भी पड़ रहा था। इसी समय यथार्थ के नाम पर नग्नता एवं अश्लीलता के भी दर्शन होते हैं। नारी पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों को व्यक्त करने की चेष्टा में कई लेखक व्यस्त होते हैं पर समस्या सुलझाने में सफलता कुछ ही को मिल पाती है। यह अवश्य है कि वर्तमान युग निराशावादी साहित्य को अपनाने में हिचकने लगा। वह उज्ज्वल भविष्य की कल्पना में यथार्थ को भुलाकर भी डूब जाना चाहता था। पर निराशा को पास फटकने नहीं देना चाहता था। विषयों की कोई निश्चित सीमा नहीं रह गई थी। विदेशी साहित्य से भी प्रेरणा मिल रही थी। शैलीगत वैभिन्य भी इस युग के साहित्य की अपनी विशेषता है। नाटक के क्षेत्र में नवीन प्रयोग प्रसाद तथा लक्ष्मीनारायण मिश्र द्वारा किए गए। अँग्रेजी नाटकों की प्रणाली पर एकांकी नाटक भी लिखे गए। उपन्यासों में इस प्रकार का कोई नया प्रयास तो नहीं किया गया पर नए-नए विषयों को स्थान देकर उपन्यास का चित्र पर बहुत विस्तृत कर दिया गया। इसी प्रकार कहानियों में भी नये विषयों को स्थान दिया गया।

वर्तमान युग के गद्य साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है **समालोचना** साहित्य का विकास। इसी युग में आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे सुप्रसिद्ध आलोचक एवं इतिहासकार का उदय होता है। श्यामसुंदरदास, हजारीप्रसाद जी द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी आदि की साहित्यिक सेवाओं से हिंदी का समालोचना-साहित्य समृद्ध हुआ। इसी युग में हिंदी साहित्य के कुछ महत्त्वपूर्ण इतिहास भी लिखे गए और समालोचना-शास्त्र, भाषा-विज्ञान आदि विषयक ग्रंथों की भी रचना की गई जिनका हिंदी में नितांत अभाव था। वर्तमान युग के **निबंधकारों** में आचार्य शुक्ल, धीरेन्द्र वर्मा, प्रसाद, महादेवी, हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा गुलाबराय का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

हिंदी गद्य की विकासावस्था को उस समय पूर्णता, प्राप्त होती है (यद्यपि साहित्य में पूर्णता का कोई गणित जैसा मापदंड नहीं) जब इसमें उपयोगी साहित्य का भी सर्जन होने लगा। अब तक विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी होने के

कारण इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान आदि समाज के ज्ञान-विज्ञान संबंधी विषयों की उच्च स्तरीय पुस्तकें अँग्रेजी में ही थीं, पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् अनेक विश्वविद्यालयों में हिंदी माध्यम स्वीकार कर लिया गया। फलतः जहाँ हमारे कुछ साहित्यकार ललित साहित्य के सर्जन में लगे हुए थे वहाँ कुछ लोगों ने उपयोगी साहित्य के निर्माण में अपना योगदान देना आरंभ कर दिया। प्रारंभ में यह कार्य अनुवाद के रूप में ही हुआ था पर आगे चलकर मौलिक रचनाएँ भी होने लगीं। यात्रा-विवरण, जीवनियों, डायरियों आदि के रूप में इस साहित्य का सूत्रपात बहुत पहले महापंडित राहुल ने कर दिया था, आने वाली पीढ़ी को अपनी आवश्यकतानुसार उसे अपने ढाँचे में ढाल लेना था। आचार्य शुक्ल ने हमें एक स्वस्थ एवं उपयुक्त शैली भी दे दी थी जिसमें हर प्रकार का गद्य लिखा जा सकता था। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वर्तमान युग हिंदी गद्य का पूर्ण विकासावस्था का युग सिद्ध हुआ है। आज तो नई कविता के साथ-साथ नई कहानियाँ भी लिखी जा रही हैं, उपन्यास में भी नयापन आ रहा है और आशा की जाती है कि नई पीढ़ी जिसके विषय में यहाँ कुछ नहीं कहा गया है, कुछ ही वर्षों में कुछ कहने लायक दे देगी।

हिन्दी गद्य की विभिन्न-विधाओं का विकास

नाटक

उत्पत्ति

'वाल्मीकि रामायण', 'हरिवंश पुराण' तथा भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के आधार पर हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि नाट्यकला विशुद्ध भारतीय उपज है और जो लोग 'यवनिका', 'यवनी' तथा 'शकारि' आदि शब्दों के आधार पर इसे यूनानी उपज स्वीकार करते हैं, उनका मत भ्रमपूर्ण है। प्राचीन भारतीय इतिहास में सम्पन्न प्रेक्षागृहों का उल्लेख भी हमारे इस मत की पुष्टि करता है। अतः भारतीय नाट्यकला की मौलिक उपज में किसी प्रकार का कोई संदेह नहीं है। महाकवि भास तथा कालिदास हमारे प्राचीन नाटककार हैं, जिनकी रचनाओं से इतिहास परिचित है।

हिन्दी नाट्य साहित्य के अभाव का कारण

जब हम हिंदी-साहित्य में नाटकों की किंचित् अविकसित स्थिति देखते हैं तो स्वभावतः संदेह की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और हम यह सोचने के लिए बाध्य हो जाते हैं कि जहाँ संस्कृत तथा प्राकृत नाटकों की इतनी सशक्त परम्परा रही और जहाँ हिंदी में ब्रजभाषा तथा अवधी में इतना सफल काव्य लिखा गया, वहाँ नाट्य-साहित्य का अभाव क्यों रह गया। यह अभाव कुछ अटकलों का सर्जन करके रह जाता है और कुछ लोग इसके भ्रामक कारणों का प्रचार करने लगते हैं। हम देखते हैं कि भारतेन्दु के

पूर्व हिंदी में एक दर्जन से भी कम नाटक मिलते हैं। कुछ लोग राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव को इसका कारण ठहराते हैं। कुछ लोग गद्य के अभाव को तो कुछ मुसलमानी शासन को इसके मूल में स्वीकार करते हैं। पर वास्तव में ये मूल कारण नहीं हैं। हिंदी में नाटकों के अभाव के मूल कारण तीन हैं—

१. संस्कृत नाटकों का गिरा हुआ स्तर

२. जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण तथा

३. हिंदी-साहित्य का युद्धरत आदि काल।

हमें ज्ञात है कि दसवीं शताब्दी से ही संस्कृत-साहित्य अपनी मौलिकता खो देता है और वह साहित्य की प्रत्येक विधा से छिछलेपन और पिष्टपेषण का प्रदर्शन करता है। नाटक के क्षेत्र में तो इसका स्तर और भी निम्न हो जाता है। इस युग के प्रसिद्ध नाटककार मुरारि, राजशेखर, जयदेव आदि की रचनाओं में नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण अभाव देखने को मिलता है। हिंदी का वीरगाथा-काल विरासत में यही अनुत्पादक एवं अप्रभावोत्पादक नाट्य-साहित्य पाता है। जीवन के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण नाटक के लिए सदा अहितकर सिद्ध हुआ है, क्योंकि नाटक के मूल में ही मानव की उत्साह भावना निहित है। मध्यकालीन संतों ने 'जगत् मिथ्या' को हजार ढंग से हजार बार सिद्ध करने की जो चेष्टा की थी और उस पर राजनीतिक पराभव ने जो दुहरी छाप लगाई थी, उसने पूर्व मध्यकालीन हिंदी साहित्यकारों को नाटक के प्रति उदासीन बनाने में योग दिया। आदि कालीन रक्तपात तो और भी घातक सिद्ध हुआ था। मध्यकाल में कुछ शान्तिपूर्ण वातावरण अवश्य सर्जित हुआ था पर वह केवल धार्मिक लीलाओं तक ही सीमित रह गया। इन्हीं प्रबल कारणों ने हिंदी में नाट्य-साहित्य के उद्भव को पीछे छोड़ दिया।

हिन्दी नाट्य-साहित्य का विकास

हिंदी नाट्य-साहित्य के विकास का इतिहास, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, बहुत प्राचीन नहीं है। सुविधा के लिए हम अपना यह अध्ययन निम्नलिखित सोपानों में करेंगे—

१. भारतेन्दु-पूर्व युग २. भारतेन्दु-युग

३. द्विवेदी युग तथा ४. वर्तमान युग

भारतेन्दु पूर्व-युग—भारतेन्दु बाबू के पूर्व नाट्य-साहित्य का आविर्भाव अवश्य हो जाता है पर न तो उन रचनाओं में नाटक के तत्त्व हैं और न साहित्यिकता ही। केवल नाम गिनाने भर को ही ये नाटक लिए जा सकते हैं। सन् १४३६ ई० में **बनारसी दास** ने 'समय सार', १६१० ई० में **प्राणचन्द चौहान** ने 'रामायण महानाटक', १७००

ई० में **रघुराय नागर** ने 'सभासार' तथा १७१५ ई० में **लच्छिराम** ने 'करुणाभरण' नामक नाटकों की रचना की थी। ये सभी नाटक प्रायः छंदोबद्ध हैं और इनमें नाटक तत्त्वों का कितना अभाव है। इनके अतिरिक्त भी रीतिकाल तथा भारतेन्दु के पूर्व युग में कई नाटकों की रचना हो चुकी थी, जिनमें कुछ महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—**हृदयराम** का 'हनुमन्नाटक', **देव कवि** का 'देवमाया प्रपंच', **महाराजा विश्वनाथ सिंह** का 'आनन्द रघुनन्दन', **महाराजा जसवन्त सिंह** का 'प्रबन्ध चन्द्रोदय', **ब्रजबासी दास** का 'प्रबन्ध चन्द्रोदय', **हरिराम** का 'सीता स्वयम्बर' तथा **नेवाज कवि** का 'शकुन्तला', **अमानत** का 'इन्दर सभा' पर आचार्य शुक्ल ने ठीक ही यह घोषणा की है कि "भारतेन्दु के पहले 'नाटक' के नाम से जो दो-चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिख गये थे, उनमें महाराजा विश्वनाथ सिंह के 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था।" वास्तव में भारतेन्दु के पूर्व यही प्रथम मौलिक नाटक सही अर्थों में है। इसके बाद दूसरा स्थान आता है भारतेन्दु जी के पिता बाबू **गिरिधरदास** के 'नहुष' का। अनूदित नाटकों में महत्त्वपूर्ण नाम है **राजा लक्ष्मणसिंह** के 'अभिज्ञान शाकुंतल' का जिसमें गद्य भाग तो खड़ीबोली में है पर पद्य ब्रजभाषा में खड़ीबोली में लिखा गया हिंदी का यह प्रथम अनूदित नाटक है।

इन नाटकों की विषय-सामग्री का स्रोत इतिहास-पुराण है। इनमें कुछ भावात्मक विषयों से भी संबद्ध हैं।

भारतेन्दु-युग—हिंदी नाटकों का वास्तविक इतिहास **भारतेन्दु** बाबू से ही आरम्भ होता है। इन्होंने ही सर्वप्रथम हिंदी में मौलिक नाटकों की रचना की थी। इनके मौलिक नाटक हैं—

१. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति
२. सत्य हरिश्चंद
३. प्रेम जोगिनी
४. चंद्रावली
५. विषस्य विषमौषधम्
६. भारत-जननी
७. भारत-दुर्दशा
८. नील देवी तथा
९. सती प्रताप (अपूर्ण)

अनूदित नाटक हैं—

१. विद्यासुन्दर, २. धनंजय, ३. पाखण्ड विडम्बन, ४. कर्पूर-मंजरी तथा ५. मुद्राराक्षस।

इनमें प्रथम बँगला तथा शेष संस्कृत नाटकों के अनुवाद हैं। जैसा कि अन्यत्र संकेत किया जा चुका है, भारतेन्दु बाबू ने राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक नव-जागरण को सदा अपना लक्ष्य बना रखा था। उनके नाटकों में यह स्वर स्पष्ट सुनाई पड़ता है।

नाटककारों में लाला श्री निवासदास, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाकृष्णदास आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। युग के अन्य नाटककार थे किशोरीलाल गोस्वामी, देवकीनन्दन खत्री, खंगबहादुर मल, अम्बिकादत्त व्यास, बलदेवप्रसाद मिश्र, तोताराम वर्मा, दामोदर शास्त्री, ज्वाला प्रसाद मिश्र, दुर्गाप्रसाद इत्यादि।

प्रतापनारायण मिश्र तथा **राधाकृष्णदास** इस युग के प्रभावशाली नाटककार थे। मिश्रजी के चार नाटक हैं 'गौ-संकट', 'कलि प्रभाव', 'जुआरी ख्वारी', तथा 'हम्मीर हठ'। राधाकृष्णदास की रचनाएँ हैं 'दुखिनी बाला', 'पद्मावती' तथा 'महाराणा प्रतापसिंह, जिनमें अन्तिम पुस्तक को अधिक प्रसिद्धि मिली।

भारतेन्दु-युगीय नाटकों की साहित्यिक उपलब्धियों की दृष्टि से हमें निराशा ही होती है किन्तु, इसमें संदेह नहीं कि इस युग के नाटकों ने युग की नस को कहीं-कहीं पहचाना है और जन-जागरण को प्रेरित करने का प्रयास किया है। अभिनय की ओर भी ध्यान दिया गया था। स्वयं भारतेन्दु बाबू ने भी अभिनय में भाग लिया था। अनूदित तथा मौलिक नाटकों की एक नई परम्परा चलाने की दृष्टि से तो यह युग बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। बंगला तथा अँग्रेजी नाटकों की कुछ विशेषताओं को स्वीकार करते हुए ये नाटककार आनेवाली पीढ़ी का पथ-प्रदर्शन कर गए हैं।

द्विवेदी युग—सुधारवादी द्विवेदी युग वस्तुगत एवं शैलीगत पूर्णता की उपलब्धि का युग है। इसमें कोरे सर्जन को गद्य की ही दिशा में थोड़ा अंकुश लगाया गया था। लेखकों को जैसे सजग कर दिया गया था कि कूड़ा-कर्कट से साहित्य नहीं भरना है। इसका एक ओर तो हितकर परिणाम हुआ पर दूसरी ओर हर प्रकार से अपूर्ण नवोदित नाट्य-साहित्य को एक आघात लगता है। अपने नाट्य-साहित्य की कमियों को साहित्यकार पहचान रहे थे। परिणाम यह होता है कि इस युग में मौलिक नाटकों की अपेक्षा अनुवाद कार्य ही अधिक होता है। हम इस युग में अनुवादकों के अतिरिक्त अनेक मौलिक प्रतिभा संपन्न लेखकों को भी अँग्रेजी, बँगला अथवा संस्कृत के नाटकों का अनुवाद करते पाते हैं। पर मौलिक रचनाओं का भी नितांत अभाव नहीं है। भारतेंदु युग की सीमाओं से ऊपर उठकर देवीप्रसाद पूर्ण, बद्रीनाथ भट्ट, माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने अनेक महत्त्वपूर्ण मौलिक नाटकों की रचना की थीं।

अनुवादों की प्रधानता थी, अतः पहले हम अनुवाद ग्रंथों की चर्चा करेंगे। जैसा कि ऊपर कहा गया है, बँगला, अँग्रेजी तथा संस्कृत से अनुवाद किए गए थे। बँगला से अनुवाद करने वालों में **रूपनारायण पांडेय, रामकृष्ण वर्मा** तथा **गोपालराम गहमरी** के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। अब बँगला साहित्य के प्रमुख नाटककार

द्विजेंद्रलाल राय, गिरीश बाबू तथा रवींद्र बाबू की रचनाओं से हिंदी जगत् परिचित हुआ। अँग्रेजी नाटककारों में से शेक्सपियर ही हिंदी वालों का ध्यान आकृष्ट करते हैं और **पुरोहित गोपीनाथ** का नाम ही महत्त्वपूर्ण अनुवादकों में लिया जा सकता है, जिन्होंने 'रोमियो जूलियट,' 'ऐज यू लाइक इट' तथा मर्चेंट आव वेनिस' का अनुवाद प्रस्तुत किया था। शेक्सपियर के 'मैकवेथ', 'ओथेलो' तथा 'हैमलेट' का भी हिंदी-अनुवाद हुआ था। संस्कृत से अनुवाद करनेवालों में दो नाम उल्लेखनीय हैं—**लाला सीताराम बी० ए०** तथा **सत्यनारायण कविरत्न**। कालिदास, हर्ष तथा शूद्रक की रचनाओं के अनुवाद ही अधिक हुए थे।

इन अनुवाद-ग्रंथों की उपलब्धियों के संबंध में केवल इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि इनमें से बँगला के अनुवादों ने पद लालित्य, भावावेश एवं रमणीयता के अवसर जुटाए; अँग्रेजी अनुवादों ने नाट्य-साहित्य को जीवन के अधिक निकट लाकर सुख-दुखमय, हास-करुणामय संपूर्ण जीवन को अपनी परिधि में घेर लेने की प्रेरणा दी और संस्कृत अनुवादों ने विकास की ओर तीव्रगति से अग्रसर होने वाली खड़ीबोली अधिकाधिक शक्ति प्रदान की।

मौलिक नाटककारों में जिनका नामोल्लेख प्रारंभ में ही किया गया है **देवी प्रसाद पूर्ण** ने 'चंद्रकला भानुकुमार' नामक केवल एक, पर प्रसिद्ध साहित्यिक नाटक लिखा था। **बद्रीनाथ भट्ट** ने इस युग में सर्वाधिक सफल नाटकों की रचना की थी। जिस युग में भट्ट जी का अवतरण हुआ था वह अँग्रेजी राज्य के विरुद्ध मीठी प्रतिक्रिया का युग था पर नवजागरण के फलस्वरूप समाज में नवस्फूर्ति आ चुकी थी। भट्टजी ने युग की आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा और ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि सभी तत्त्वों को अपनी रचनाओं में उचित स्थान दिया। इनके नाटकों की संख्या भी अधिक हैं। 'कुरुवन दहन', 'चुंगी की उम्मीदवारी', 'चन्द्रगुप्त', 'गोस्वामी तुलसीदास', 'वेनचरित', 'दुर्गावती', 'लबड़धोंधों', 'विवाह विज्ञापन', 'मिस अमेरिकन' आदि इनके प्रसिद्ध नाटक हैं जिनमें से कुछ की रचना उत्तर द्विवेदी-युग में हुई थी। पर अपनी समकालीन सभी रचनाओं को पीछे छोड़ जानेवाली रचना **माखनलाल चतुर्वेदी** का 'कृष्णार्जुन युद्ध' है जिसकी पौराणिक कथावस्तु में भी आधुनिक राष्ट्रीय नवजागरण की प्रत्येक धड़कन स्पष्टरूप से सुनाई पड़ती है। केवल साहित्यिक दृष्टि से ही नहीं रंगमंचीय दृष्टि से भी यह नाटक पूर्ण सफल उतरा है।

वर्तमान युग—इस युग का उपयुक्त नामकरण प्रसाद युग रक्खा जा सकता था पर नाटक की कुछ नई शैलियों तथा नए रूपों का सर्जन प्रसादेतर युग में होता है, इसलिए प्रस्तावित नामकरण में असुविधा का बोध होता है। इसी युग में हिन्दी नाट्य-साहित्य में पूर्णता, परिपक्वता तथा पुष्टता के दर्शन होते हैं। अब भारतेन्दु-युग की

सारी दुर्बलताओं का पूर्णतः अन्त हो जाता है तथा द्विवेदी-युग की अनुवादी छाप एवं रूढ़िवादिता का बन्धन टूट जाता है। अब हिन्दी नाट्य-साहित्य अपना एक स्वतंत्र रंगमंच खड़ा करता है, जिसमें संस्कृत, बंगला, अँग्रेजी आदि नाटकों के अनुपयोगी एवं असामयिक बंधनों को छोड़कर उनके उपयुक्त एवं सामयिक प्रतिबंधों को ईमानदारी से स्वीकारा गया। इस अभियान के अगुआ होते हैं **प्रसादजी**। प्रसादजी ने ही हिन्दी नाट्य-साहित्य को यह नई दिशा प्रदान की। जिस समय प्रसाद जी का अवतरण हुआ था वह राजनीति क्षेत्र में खुला विद्रोह का युग था। ऐसी स्थिति में एक जागरूक साहित्यकार अपने इतिहास के उन पृष्ठों को हमारे सम्मुख रखता है, जिसमें जातीय उत्थान के निमित्त किए गए व्यापक बलिदानों के विवरण थे, जिनमें राष्ट्रीय एकता, त्याग, तपस्या, स्वदेश-गौरव आदि उदात्त गुणों की अमरगाथा थी। प्रसाद जी के नाटक हैं—'स्कंदगुप्त', 'अजातशत्रु', 'चंद्रगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी', 'विशाख', 'कामना', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'राज्यश्री', 'सज्जन', 'करुणालय', 'प्रायश्चित' तथा 'एक घूँट'। हम देखते हैं कि प्रसादजी ने पौराणिक-युग से लेकर हर्षवर्द्धन के युग तक के भारतीय इतिहास से अपनी सामग्री का चयन किया है। भारतीय इतिहास का यह युग राजनीतिक सुदृढ़ीकरण विदेशी आक्रमणकारियों के दमन, विश्वविख्यात बौद्ध धर्म के उन्नयन, ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान तथा कुल मिला-जुलाकर गौरवमय भारतीय जनजीवन का युग था। इस युग की स्मृति दिला कर प्रसादजी ने पराधीनता के प्रति हमारे मन में घोर घृणा का भाव भरा और हमें अपने स्वर्णिम अतीत को पुनः प्राप्त करने की प्रेरणा दी। सफलता तो यह है कि प्राचीन कालीन घटनाओं एवं पात्रों को भी कुछ इस प्रकार चित्रित किया गया है कि वे हमारी आधुनिता पर आघात नहीं लगा पाते हैं।

ऐतिहासिक नाटकों की जो परंपरा प्रसादजी ने चलाई वह युग के अन्य नाटककारों द्वारा भी अपना ली गई। इस युग के अन्य प्रसिद्ध नाटककार हैं हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र तथा सेठ गोविंददास। **हरिकृष्ण प्रेमी** का 'रक्षा बन्धन' अधिक प्रसिद्धि पा सका। इनके अन्य नाटक है 'स्वप्न भंग', 'आहुति' तथा 'विषपान'। प्रेमीजी के समय में हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की समस्या उपस्थित हो चुकी थी। इस समस्या ने उन्हें आकृष्ट किया और राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिए उन्होंने 'रक्षा-बन्धन' लिखा। **भट्टजी** ने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा भाव नाट्यों की रचना सफलतापूर्वक की। पौराणिक नाटक हैं 'अंबा', 'सगर-विजय', 'आदि युग' 'मनु और मानव', 'कुमारसंभव' आदि। ऐतिहासिक नाटकों में 'विक्रमादित्य', 'दाहर' तथा 'मुक्तिपथ' एवं सामाजिक नाटकों में 'कमला' तथा 'अंतहीन' का नाम उल्लेखनीय है। इनके भावनाट्य हैं 'मत्स्यगंधा', 'राधा' तथा 'विश्वामित्र'। **पंडित लक्ष्मीनारायण**

मिश्र ने हिन्दी नाट्य साहित्य को एक नई दिशा देने की सफल चेष्टा की और वर्तमान-युग में समस्या नाटकों की रचना को इनसे ही प्रेरणा प्राप्त हुई 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' इनकी सुप्रसिद्ध रचनाएँ हैं, जिनका हिन्दी नाट्य-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। मनोवैज्ञानिक चित्रण में इन्हें अद्वितीय सफलता मिली है। **सेठ गोविंददास** की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं 'प्रकाश', 'हर्ष' और 'कर्त्तव्य'। इनमें अभिनेता अधिक हैं जो नाटक की प्रमुख विशेषता होती है। इन पाँच प्रसिद्ध नाटककारों के अतिरिक्त वर्तमान युग में कुछ अन्य साहित्यकारों ने भी नाट्य साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया था। इनमें गोविन्दवल्लभ पंत, मिलिंद, सुमित्रानन्दन पंत, भगवती प्रसाद बाजपेयी, उपेन्द्रनाथ अश्क, सत्येन्द्र, पृथ्वीनाथ शर्मा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी एकांकी : उद्भव और विकास

हिन्दी नाट्य साहित्य के इतिहास का अवलोकन कर लेने के पश्चात् अब हम हिन्दी एकांकी नाटकों के उद्भव एवं विकास का अध्ययन करेंगे। प्रसंगवश यहाँ नाटक तथा एकांकी का भेद दिखा देना विषयान्तर न होगा। एतदर्थ हम सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध एकांकीकार डॉ० रामकुमार वर्मा का मत उद्धृत करना चाहेंगे। वे लिखते हैं—

"एकांकी नाटकों में अन्य प्रकार के नाटकों से विशेषता होती है। उनमें एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का संयमन करती हुई चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई अप्रधान प्रसंग नहीं रहता।"

डॉ० रामचरण महेन्द्र ने अन्य नाटक तथा एकांकी का स्पष्ट भेद करते हुए लिखा है—

"एकांकी का नाटक से वही सम्बन्ध है जो कहानी का उपन्यास से अथवा खण्डकाव्य का महाकाव्य से। नाटकों में जीवन का विस्तार, लम्बाई और परिधि का विस्तार है, क्षेत्र जीवन की भाँति सुविस्तृत है। एकांकी का क्षेत्र सीमित है। परिधि संकुचित है और जीवन का एक पहलू ही चित्रित करने का अल्प काल है।"

आशय यह कि नाटक तथा एकांकी का स्थूल भेद है आकार और प्रकार। आकार का बन्धन एक अंकों वाला है और प्रकार में हम जीवन की किसी एक प्रधान घटना और उसकी सीमित नाटकीय परिसमाप्ति को ले सकते हैं।

उद्भव—अब हमें यह देखना है कि हिन्दी एकांकी के उद्भव के मूल में कौन-सा प्रभाव है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ इसे विशुद्ध भारतीय उपज मानते हैं और वे यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि संस्कृत साहित्य में नाटक के एक अंक वाले निम्न सत्रह रूप हमें पहले से ही उपलब्ध थे—

१. व्यायोग, २. प्रहसन, ३. भाण, ४. वीथी, ५. नाटिका, ६. गोष्ठी, ७. सट्टक, ८. नाट्य रासक, ९. प्रकाशिका, १० उल्लाप्य, ११. काव्य, १२. प्रेखण, १३. श्रीगादित, १४. विलासिका, १५. प्रकरणिका, १६. हल्लीश तथा १७. अंग।

संस्कृत के सुसिप्रद्ध एकांकी नाटक भास के 'उरुभंग' तथा नीलकंठ के 'कल्याण सौगांधिक' से सभी परिचित हैं।

उधर हिंदी एकांकी के उद्भव के मूल में पाश्चात्य प्रभाव को स्वीकार करते हुए डॉ० रामकुमार कहते हैं कि "पश्चिम के अनुकरण में इधर कुछ वर्षों से हिंदी में एकांकी नाटक भी लिखे जाने लगे हैं।" डॉ० रांगेय राघव भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए लिखते हैं—

"....रंगमंच के अभाव के कारण पूर्ण नाटकों के लिए क्षेत्र न था। स्कूल और कॉलेजों में हिंदी-शिक्षा के प्रचार के साथ-साथ विद्यार्थियों के लिए इस प्रकार के नाटकों की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिनमें कम से कम सामान की आवश्यकता पड़े और कम समय में ही उनको तैयार किया जा सके; साथ ही वह अपने में पूर्ण हों तथा मनोरंजन, सामाजिक शिक्षा तथा सुधार का माध्यम बन सकें। दूसरी ओर कॉलेजों में अँग्रेजी शिक्षा के कारण उनके सामने उस साहित्य के एकांकी आए। इस पाश्चात्य प्रभाव और अपनी सीमित परिस्थितियों ने हिंदी में एकांकी नाटकों को जन्म दिया।"

इस प्रकार आलोचकों का एक वर्ग एकांकी के उद्भव में संस्कृत एकांकियों की देन स्वीकार करता है तो दूसरा इसे पाश्चात्य प्रभाव मानता है। पर वास्तव में ये दोनों चरमवादी मत हैं। वास्तविकता दोनों के बीच में है। संस्कृत एकांकियों से प्रभावित होकर हिंदी में एकांकी लिखे गए थे पर इनके विकास में पाश्चात्य प्रभाव को स्वीकार करना पड़ेगा। शिवदानसिंह चौहान ने ठीक ही लिखा है कि—

"हिंदी के आधुनिक एकांकी नाटकों का संबंध हम संस्कृत के प्राचीन रूपकों से जोड़ सकते हैं....हिंदी में नाटकों की परंपरा का सूत्र-पात करने वाले भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने जो एकांकी लिखे उनमें से विषस्य विषमौषधम भाण रूपक है और 'धनंजय विजय' व्यायोग की कोटि में आता है और 'अँधेर नगरी' तथा 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' प्रहसन हैं और 'भारत दुर्दशा' एक रूपक है।

"....हिंदी आधुनिक एकांकियों में हमें कला-संबंधी जिस मौलिक नवीनता के दर्शन होते हैं वह एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटककारों की कला से प्रभावित है।....हमारे नाटककारों की विषय-वस्तु चाहे ऐतिहासिक या पौराणिक अथवा वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत या सामाजिक संघर्षों से संबंध रखती हो, उसे नाटकीय रूप देने में वह जिस कलात्मक क्षमता का परिचय देते हैं, उसका संस्कार एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव से हुआ है।"

विकासावस्था

हिंदी एकांकी के विकासावस्थाओं को निम्नलिखित चार युगों में विभक्त किया जा सकता है—

१. भारतेंदु युग,　　२. द्विवेदी युग,
३. प्रसाद युग तथा　　४. वर्तमान युग

भारतेंदु युग—स्वयं भारतेंदु बाबू ने ही सर्वप्रथम सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियों पर करारा व्यंग्य करते हुए अनेक एकांकी नाटकों की रचना की थी, जिनका उल्लेख प्रारम्भ में ही किया जा चुका है। इनके समकालीन **श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, प्रेमघन, बालकृष्ण भट्ट** तथा **प्रतापनारायण मिश्र** ने भी कुछ एकांकी नाटक लिखे थे। इस युग के नाटकों की उल्लेखीय विशेषता है राष्ट्रीय नवजागरण को प्रति-बिंबित करना। कला की दृष्टि से ये एकांकी सफल भले ही न कहे जाएँ पर भावी एकांकियों के बीज-स्वरूप उनका महत्त्व है और साथ ही "उनमें तत्कालीन आधुनिक जीवन का यथार्थ चित्रण है, उद्देश्य की सांकेतिकता है, रङ्ग-निर्देश भी है और संवादों की चुस्ती भी और क्रिया-क्षिप्तता और गतिशीलता भी है।"

द्विवेदी युग—इस युग के एकांकीकारों का कुछ ध्यान शैलीगत विशेषताओं की ओर जाता है और वे संस्कृत की रूढ़ियों से पृथक् हटने की चेष्टा करते हैं। भारतेंदु-युगीन दुर्बलताओं को भी वे पूरी तरह पहचानते हैं और एकांकी-रचना में सजगता बरतते-से दिखाई पड़ते हैं। संभवतः इस समय तक पाश्चात्य एकांकियों से वे पूर्णतया परिचित हो चुके रहते हैं। यही कारण है कि अब वे भारतेंदुयुगीन नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि से मुक्ति पाते हैं। पद्य का तो वे पूर्ण परित्याग कर देते हैं। विषयों में कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता है। समाज, राष्ट्र तथा धर्म इन्हें समान रूप से पूर्ववत् आकृष्ट करते हैं। **पं० बद्रीनारायण भट्ट, सियारामशरण गुप्त, पंडित बेचन शर्मा उग्र, रामसिंह वर्मा, सुदर्शन** आदि इस युग के प्रमुख एकांकीकार थे।

प्रसाद युग—भारतेंदु तथा द्विवेदी युग में अनेक एकांकी नाटकों की रचना हो चुकी थी, पर एकांकी के तत्त्वों को पूर्णतः ध्यान में रखकर, यदि सच पूछा जाय तो, एक भी एकांकी नहीं लिखा गया था। यह कार्य तो संपादित होता है **प्रसाद जी के** 'एक घूंट' द्वारा जिसकी रचना प्रसाद जी ने सन् १६३० में की थी। हम डॉ० नगेन्द्र के मत से पूर्णतः सहमत हैं कि "सचमुच हिंदी एकांकी का प्रारंभ प्रसाद के 'एक घूंट' से हुआ है। प्रसाद पर संस्कृत का प्रभाव है—इसलिए वे हिंदी एकांकी के जन्मदाता नहीं कहे जा सकते, यह बात मान्य नहीं है। एकांकी की टेकनीक का 'एक घूंट' में पूरा निर्वाह है।" प्रसाद युग के अन्य एकांकीकार हैं **सुदर्शन, जैनेंद्रकुमार, चन्द्रगुप्त, विद्या-**

लंकार, **गोविंदवल्लभ पंत** इत्यादि। पर इनमें एकांकी कला को पूर्ण सफलता नहीं मिल पाई है।

वर्तमान युग—जिन पाश्चात्य प्रभावों तथा अपनी सीमित परिस्थितियों की बात डा० रांगेय राघव ने की है, उस दृष्टि से एकांकियों का प्रारम्भ वास्तव में वर्तमान युग से, डा० रामकुमार वर्मा अथवा श्रीभुवनेश्वर प्रसाद मिश्र की रचनाओं से होता है। **डा० रामकुमार** के 'बादल की मृत्यु' का प्रकाशन १९३० ई० में हुआ था। इनके अन्य एकांकी संग्रह हैं 'पृथ्वीराज की आँखें', 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा' तथा 'विभूति'। **श्रीभुवनेश्वर** का 'कारवाँ' नामक संग्रह सन् १९३५-३७ में प्रकाशित हुआ था और कुछ आलोचक कला की दृष्टि से इसे ही प्रथम आधुनिक एकांकी मानते हैं। मिश्रजी के कई एकांकी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। **उपेंद्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट, सेठ गोविंददास, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचंद्र माथुर, विष्णु प्रभाकर** आदि इस युग के अन्य एकांकीकार हैं।

इन एकांकियों की मूलप्रवृत्ति बौद्धिकता की ओर अग्रसर होना है। ये राजनीति, समाज नीति, इतिहास के दायरे को छूते चलते हैं। अभिनेयता की ओर लोग विशेष ध्यान रखते हैं।

ध्वनि रूपक

रेडियो के लिए लिखे गए ध्वनिरूपकों का भी इधर जोर बढ़ रहा है। **गिरजा कुमार माथुर, अमृतलाल नागर** इस दिशा में अच्छा कार्य कर रहे हैं।

उपन्यास

मूल

एकांकी नाटकों की भाँति उपन्यास भी पूर्णतः आधुनिक युग की देन है। यद्यपि कुछ आलोचक संस्कृत के 'कादंबरी', 'दशकुमार चरित' आदि कथा-ग्रंथों को उपन्यास स्वीकार करते हैं और इस प्रकार वे हिन्दी-उपन्यास का मूल संस्कृत साहित्य में दिखाते हैं। पर यह मत भ्रामक है। हिन्दी-उपन्यासों का उद्भव निश्चित रूप से आधुनिक मूल और विशेषतया बँगला उपन्यासों से प्रभावित होकर होता है। उपन्यास-कला तथा उसके तत्वों की कुछ सीमा तक उपेक्षा कर देने वाले आलोचक ही हिन्दी उपन्यासों के प्राचीन मूल की बात करते हैं। ईसी प्रकार हिन्दी का प्रथम उपन्यास किसे माना जाय इस बात पर भी मतभेद है। श्री कृष्णलाल हिन्दी उपन्यास के क्रमिक विकास का मूल 'तोता-मैना', 'सारंगा-सदावृक्ष' जैसी कहानियों में खोजते हैं।

हिंदी उपन्यास के उद्भव एवं विकास का अध्ययन हम निम्नलिखित सोपानों में कर सकते हैं—

१. उद्‌भव काल, २. विकासोन्मुख काल,
३. सर्वाङ्गीण विकास युग तथा ४. बहुमुखी धारा युग।

उद्‌भव काल

हिंदी उपन्यास के उद्‌भव के संबंध में आचार्य शुक्ल का कथन है कि "अँग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था।" डा० रामकुमार वर्मा का मत भी ऐसा ही है—

"हिंदी के सर्वप्रथम मौलिक उपन्यासकार लाला श्रीनिवासदास जी हैं। उन्होंने केवल एक उपन्यास लिखा था 'परीक्षागुरु'। इस उपन्यास की भूमिका में उन्होंने यह स्पष्ट लिख दिया है कि यह अँग्रेजी उपन्यासों के अनुकरण में रचित एक कृति है।"

'परीक्षागुरु' को हिंदी का प्रथम उपन्यास मानते हुए भी उपन्यास-कला की दृष्टि से शुक्लजी ने पंडित किशोरीलाल गोस्वामी को ही हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यासकार स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

"....साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए।.... और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे पर वास्तव में वे उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वहीं घर करके बैठ गए।"

इसी प्रकार बाबू देवकीनंदन खत्री के संबंध में शुक्ल जी का मत है—

"पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनन्दन खत्री थे।" पर आगे ही शुक्ल जी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इनके उपन्यास "वास्तव में कलाप्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं, इससे ये साहित्य-कोटि में नहीं आते।"

इस प्रकार श्रीनिवासदास, किशोरीलाल गोस्वामी तथा देवकीनंदन खत्री ये तीन नाम ही उद्‌भव-काल में प्रधान हैं। **श्रीनिवासदास** के 'परीक्षागुरु' का उल्लेख किया जा चुका है। **किशोरीलाल गोस्वामी** ने छोटे-बड़े ६५ उपन्यास लिखे। 'तारा', 'चपला', 'तरुण तपस्विनी', 'रजिया बेगम', 'लीलावती', 'राजकुमारी', 'हीराबाई', 'लवंगलता', 'लखनऊ की कब्र', 'हृदयहारिणी' आदि इनके कुछ प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

देवकीनन्दन खत्री ने इस युग में कई उपन्यासों की रचना की थी। इनमें 'नरेन्द्र मोहिनी', 'कुसुम कुमारी', 'वीरेन्द्रवीर' अधिक प्रसिद्ध हुए। युग के अन्य उपन्यासकार हैं ठा० **जगमोहन सिंह** ('श्यामा स्वप्न'), **अंबिका दत्त व्यास** ('आश्चर्य-वृतान्त'), **राधाकृष्ण दास** ('निस्सहाय हिन्दू'), **पं० बालकृष्ण भट्ट** ('नूतन ब्रह्मचारी', 'सौ अजान और एक सुजान')।

मौलिक उपन्यासों के साथ-साथ **अनुवाद-कार्य** भी चलता रहा। इस युग में बँगला तथा अँग्रेजी से जो अनुवाद किए गए वे बहुत अधिक प्रभावोत्पादक तो नहीं सिद्ध हुए पर इनसे उपन्यास के प्रति लोगों की कुछ रुचि अवश्य बढ़ी। भारतेंदु बाबू, राधाकृष्ण दास, गदाधर सिंह, राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र आदि ने अनेक उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किए।

विकासोन्मुख काल—जिन प्रमुख उपन्यासकारों का नामोल्लेख उद्‌भव-काल में किया गया है और जिन्होंने उपन्यास-रचना की ओर कदम बढ़ाया था उनमें से कुछ उपन्यासकार इस विकासोन्मुख काल में आशातीत सफलता प्राप्त करते हैं। **देवीकनन्दन खत्री** की सुप्रसिद्ध रचनाएँ 'चन्द्रकांता', 'चन्द्रकांता संतति' तथा 'भूतनाथ' इसी विकासोन्मुख काल में प्रकाशित होती हैं। खत्री जी के उपन्यास कल्पना के पंखों को भी हवा देते हैं और हर प्रकार की असंभव घटनाओं को संभव बना देते हैं, पर इनकी अपनी एक विशेषता है मनोरंजन तथा कौतूहल। जैसा कि प्रसंगवश अन्यन्त्र कहा जा चुका है ये उपन्यास हिंदी पाठकों की संख्या में आश्चर्यजनक वृद्धि कर देते हैं और बहुतों ने तो इन्हें पढ़ने के लिए ही हिंदी सीखी थी। खत्री जी ने अपनी एक परंपरा चला दी और इस परंपरा को आगे बढ़ाते हुए **गोपाल राम गहमरी** ने 'गुप्त कथा' नामक जासूसी उपन्यासों की एक मासिक पत्रिका का सन् १८९४ में प्रकाशन आरंभ किया। इसके माध्यम से इन्होंने जासूसी उपन्यासों का एक ढेर लगा दिया। तिलिस्मी तथा जासूसी उपन्यास लिखने वाले दूसरे उपन्यासकार हैं **देवकी प्रसाद शर्मा, रामलाल वर्मा, मदनमोहन पाठक** इत्यादि।

उद्‌भव-काल के अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यासकार **किशोरीलाल गोस्वामी** के अधिकांश उपन्यास इसी युग में लिखे गए थे। इनके उपन्यासों में एक ओर तो बँगला उपन्यासों का प्रभाव दिखाई पड़ता है दूसरी ओर मौलिक कलात्मकता के भी दर्शन होते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने इनकी विशेषता की ओर संकेत करते हुए लिखा है—

"इन्होंने सामाजिक तथा ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के उपन्यास लिखे और उनमें विभिन्न पात्रों को अपनेपन के साथ प्रकट होने का भी अवसर दिया। इनकी रचनाओं में दोष यही है कि इन्होंने उसमें काम-भावना की अभिव्यक्ति को प्रधानता दे दी है। जिसमें कुछ सम्माननीय ऐतिसाहिक पात्रों के साथ खिलवाड़ हो गया है। इनकी रचनाओं में उस ऐय्यारी तथा तिलस्म का प्रारम्भिक रूप भी मिल जाता है, जिसे अपनी रचनाओं में प्रमुखता देकर श्री देवकीनंदन खत्री आगे चल कर प्रसिद्ध हुए।"

इस युग के अन्य उपन्यासकार हैं **हरिऔध** ('ठेठ हिन्दी का ठाठ' व 'अधखिला

फूल)', लज्जाराम मेहता ('धूर्त रसिकलाल', 'हिन्दू गृहस्थ', 'आदर्श दंपति'), **ब्रजनन्दन सहाय** ('राधाकान्त', 'सौन्दर्योपासक') आदि।

जिस प्रकार भारतेंदु युग के नाटककार प्राचीन भारतीय गौरव का गुणगान तथा अति आधुनिकता की आलोचना समय-समय पर कर लिया करते थे उसी प्रकार इस युग के कुछ उपन्यासकार भारतीय इतिहास एवं समाज को अपनी रचना का विषय बनाकर नवजागरण को प्रोत्साहित करना चाहते थे।

उधर **अनुवादों की परंपरा** भी चलती रही। पहली पीढ़ी वाले अनुवादक तो अनुवाद-कार्य में लीन थे ही, कुछ नए अनुवादक भी सामने आते हैं। अब केवल बँगला तथा अँगरेजी तक ही यह कार्य सीमित न रह कर उर्दू, मराठी, गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं के प्रसिद्ध उपन्यासों के भी हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किए गए। रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी, कार्त्तिक प्रसाद खत्री, पं० ईश्वरी प्रसाद शर्मा, रूपनारायण पांडेय, गङ्गाप्रसाद गुप्त, हरिऔध आदि इस युग के प्रसिद्ध अनुवादक हैं।

इन अनुवादकों ने हिंदी भाषा एवं साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया था। मौलिक उपन्यासों का स्तर ऊँचा उठाने में तो ये कुछ सीमा तक सहायक हुए ही थे।

सर्वांगीण विकास युग—जिस प्रकार प्रसाद जी के आगमन से हिंदी नाट्य साहित्य में एक सर्वथा नया प्राण और नया रूप प्रस्फुटित हो उठा, उसी प्रकार **प्रेमचंद** जी के हिंदी-साहित्य में पदार्पण के साथ ही कथा-साहित्य को एक-नई दिशा मिल जाती है। उपन्यास-कला के क्षेत्र में तो अभूतपूर्व विकास देखने को मिलता है। अब तक का उपन्यास-साहित्य न तो उपन्यास के सभी मूलभूत तत्त्वों को समेट कर चल रहा था और न वह जन-जीवन के वास्तविक चित्र उपस्थित कर रहा था। और हम जानते हैं कि गद्य जीवन की ठीक-ठीक व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा इसमें भी उपन्यास तो इस व्याख्या को और अधिक प्रभावोत्पादक बनाता है। इतिहास किसी देश-काल के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों या वर्गों की बाह्य रूप-रेखा मात्र हैं; उपन्यास ही वास्तव में अपने युग के जन-जीवन का वास्तविक एवं प्राणवान् इतिहास है। यही उपन्यास का मुख्य उद्देश्य भी है। पर जब हम इस दृष्टि से देखते हैं तो हमें निराशा ही प्राप्त होती है, क्योंकि प्रेमचंद के पूर्व हिंदी का एक भी उपन्यास न तो मूल तत्त्वों—कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, उद्देश्य, कथोपकथन देश-काल तथा शैली की दृष्टि से खरा उतरता है और न कलात्मक प्रौढ़ि का ही परिचय देता है। यह कार्य संपन्न होता है मुंशी प्रेमचंद के उपन्यासों द्वारा। इसे यदि प्रेमचंद युग कहा जाए तो और अधिक उपयुक्त नामकरण होगा। प्रेमचंद जी ने द्विवेदी युग में लिखना आरंभ किया, छायावादी युग तक आते-आते उनकी उपन्यास एवं कहानी कला पूर्ण विकासावस्था को पहुँच जाती है और तत्पश्चात् जब हिंदी-साहित्य में प्रगतिवाद का सूत्रपात हुआ तो उस विशेष युग में भी

उनकी लेखनी महत्वपूर्ण सर्जन करती रही। इस दृष्टि से हम इन्हें महाकवि मैथिली-शरण गुप्त की कोटि में रख सकते हैं। प्रेमचंद ने समाज की हर अवस्था, हर वर्ग को अपनी रचना का विषय बनाया पर कृषकों की विभिन्न समस्याओं को उन्होंने विशेष-रूप से ध्यान में रक्खा। इनकी इन्हीं उपन्यासगत विशेषताओं को देखते हुए इन्हें भारत का गोर्की कहा जाता है। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कर्मभूमि', 'गबन', 'गोदान' आदि इनके उपन्यास हैं जिनमें समकालीन भारत के राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण अंग प्रकाशित हो उठे हैं। उपन्यास-कला की दृष्टि से हम इन्हें ही प्रारंभिक सफल मौलिक हिंदी उपन्यास कह सकते हैं।

प्रेमचंद के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम आता है **वृन्दावनलाल वर्मा** का जिन्होंने सर्वप्रथम सफल ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सर्जित करने में तथा शुष्क ऐतिहासिक घटनाओं में भी औचित्यपूर्ण कल्पना भरने में जैसी सफलता वर्मा जी को मिली है वैसी हिंदी के अन्य किसी उपन्यासकार को नहीं मिल सकी है। इसके कुछ प्रसिद्ध उपन्यास हैं—'गढ़कुंडारम्', 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी' इत्यादि। राष्ट्रीय नवजागरण को वर्मा जी के उपन्यासों से बहुत अधिक प्रेरणा मिली थी।

इसी समय पांडेय बेचन शर्मा उग्र के भड़का देने वाले तथाकथित 'घासलेटी' उपन्यास प्रकाश में आते हैं, जिनमें यथार्थ की नग्नता देखने को मिलती है। 'चंद हसीनों के खुतूत', 'दिल्ली का दलाल', 'सरकार तुम्हारी आँखों में', 'शराबी' आदि उग्र जी के कुछ प्रसिद्ध उपन्यास हैं, जिनमें "अप्राकृतिक कृत्यों से लेकर स्त्री विक्रय जैसे नारकीय व्यापार देखने को मिल जाते हैं।" भले ही लेखक का उद्देश्य सुधारवाद रहा हो पर इस साहित्य में अनगढ़ कोमल चरित्र वालों की वासना के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिया।

उपन्यास के रूप में प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता की दृष्टि में **भगवतीचरण वर्मा** का नाम ही मुंशी प्रेमचंद के बाद आता है। इनका सुप्रसिद्ध उपन्यास है 'चित्रलेखा', 'तीन वर्ष', 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' तथा 'आखिरी दाँव'। इनके तीन उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

इस युग के अन्य प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं **चतुरसेन शास्त्री** ('हृदय की परख', 'हृदय की प्यास', 'वैशाली की नगरवधू', 'सोमनाथ', 'वयरक्षामः' आदि) प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाने वाले **पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक** ('माँ', 'भिखारिणी', 'संघर्ष'), **राजा राधिकारमण सिंह** ('राम-रहीम', 'पुरुष और नारी', 'टूटा तारा', 'पूर्व और पश्चिम', 'देव और दानव', 'हवेली और झोपड़ी') सुप्रसिद्ध छायावादी कवि **प्रसाद** ('कंकाल', 'तितली') तथा प्रगतिवादी कवि **निराला** ('कुल्ली भाट', 'बिल्लेसुर बकरिहा', 'अप्सरा') ने भी उपन्यास-साहित्य की अभिवृद्धि में योग दिया। सांस्कृतिक

उपन्यास लिखने में **महापंडित राहुल सांकृत्यायन** ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की। उनके कुछ प्रसिद्ध उपन्यास हैं 'अनाथ', 'जययौधेय', 'जीने के लिए', 'सूदखोर की मौत', 'त्यागो नहीं दुनिया को बदलो'। **इलाचंद जोशी, अमृतलाल नागर, अज्ञेय** ('शेखर एक जीवनी' 'नदी के द्वीप') आदि इस युग के अन्य प्रसिद्ध उपन्यासकार हैं।

बहुमुखी धारा—उपन्यास-कला उत्तरोत्तर विकसित होती गई। हिंदी के पाठकों ने इसे अपनाया फलतः लेखकों को प्रोत्साहन मिला। वर्तमान युग का लोकप्रिय साहित्य उपन्यास ही सिद्ध हुआ है। प्रेमचंद के परवर्ती उपन्यास-साहित्य पर एक विहंगम दृष्टि डालते हुए इसकी बहुमुखी धारा की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराते हुए प्रकाशचंद गुप्त ने लिखा है—

"प्रेमचंद की किसान-परंपरा को तजकर हिंदी उपन्यास अनेक नई शाखाओं में बढ़ा—तत्त्व और रूप—दोनों ही दृष्टि से एक धारा निम्न मध्यम वर्ग के जीवन उनकी निराशाओं और असफलताओं को अपनाती है। इसके प्रमुख परिचायक जैनेंद्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, अश्क आदि हैं। इसकी धारा व्यक्तिवादी, अहंवादी, नाशवादी दृष्टिकोण की अपनाती है। इसके प्रतिनिधि—भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय आदि हैं। एक धारा मनोविश्लेषण शास्त्र के प्रभाव में कुंठित अत्तृप्त वासनाओं को अभिव्यक्ति करती है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि पं० इलाचंद जोशी रहे हैं। एक अन्य धारा भारतीय श्रमजीवी वर्ग की अग्रगामी शक्तियों से संबंध जोड़ती है और भविष्य की धरती को संजोती है। इसके प्रमुख प्रतिनिधि—यशपाल रांगेय, राघव, पहाड़ी, भगवतशरण उपाध्याय, नागार्जुन, अमृतलाल नागर आदि हैं।"

जिन विभिन्न धाराओं का ऊपर उल्लेख किया गया है उनमें प्रगतिवादी या अधिक स्पष्ट शब्दों में मार्क्सवादी विचार धारा से प्रभावित उपन्यासों की ही वर्तमान युग में प्रधानता रही है। **यशपाल** ('दादा कामरेड', 'देश द्रोही', 'झूठा सच') **नागार्जुन** (बच्चनमा', 'बाबा बटेसरनाथ', 'रतिनाथ की चाची'), **अमृतलाल नागर** ('बूंद और समुद्र' 'महाकाल'), **राजेंद्र यादव** ('उखड़े हुए लोग') आदि उपन्यासकार वर्गसंघर्ष का चित्रण अत्यंत सफलतापूर्वक कर सके। उच्चवर्गीय समाज की दुर्बलताओं तथा निम्नवर्गीय लोगों की विवशताओं के चित्रण में इन्हें आशातीत सफलता मिली है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'बाण भट्ट की आत्मकथा' नामक एक अनोखा उपन्यास लिखा है। हमारा उपन्यास साहित्य उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर है और हमें नये उपन्यासकारों से अधिक आशाएँ हैं।

इधर कुछ दिनों से आंचलिक उपन्यासों की भी धूम मची हुई है। फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, उदयशंकर भट्ट मार्कंडेय आदि के नाम इस

क्षेत्र में विशेष उल्लेखनीय हैं। 'आंचलिक' नाम १९५४ ई० में प्रकाशित रेणु के उपन्यास 'मैला आँचल' की भूमिका में सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ था। तब से इस नाम को अर्थविस्तार मिलता गया है।

हिन्दी कहानी

उद्भव

लिखित कहानी साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिए जिस वातावरण की आवश्यकता पड़ती है, वह हमें बहुत बाद में उपलब्ध होता है। अतः स्वभावतः मौखिक कहानियों का सूत्रपात तो हिंदी प्रदेश में बहुत पहले ही हो चुका था, पर इसका लिखित रूप पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन पर ही देखने को मिला। हिंदी कहानी के उद्भव के संबंध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। एक वर्ग लगभग सन् १८०० ई० में लिखी गई। **इंशा अल्ला खाँ** की 'रानी केतकी की कहानी' को हिंदी की प्रथम कहानी मानता है तो दूसरा वर्ग इसके सौ वर्ष बाद 'सरस्वती' में प्रकाशित **किशोरी लाल-गोस्वामी** की 'इंदुमती' को हिंदी की प्रथम कहानी स्वीकार करता है। 'रानी केतकी की कहानी' का बड़ा आकार देखकर कुछ लोग इसे उपन्यास मानते हैं पर यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इसका बृहताकार औपन्यासिक न होकर बृहत् कहानी-सा ही है। दूसरे इंशा अल्ला खाँ और किशोरी लाल गोस्वामी के बीच की लंबी अवधि कहानी-शून्य नहीं रही है। इसी बीच **राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद'** की कहानी 'राजा भोज का सपना', 'वीर सिंह का वृतांत' तथा 'आलसियों का कोड़ा' राधाचरण गोस्वामी की 'यमलोक की यात्रा' एवं **भारतेंदु बाबू**-कृत 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' आदि कहानियाँ लिखी गई थीं।

यदि हम थोड़ा और पीछे जाएँ तो ब्रजभाषा में भी हिंदी कहानियों का मूल देखने को मिल जाएगा। यद्यपि संस्कृत तथा पाली प्राकृत के भरे-पूरे कथा साहित्य से ब्रजभाषा साहित्य बहुत अधिक प्रेरणा नहीं प्राप्त कर सका है—यदि ऐसा हुआ होता तो पुराण, बौद्ध-जातक, पंचतंत्र, हितोपदेश, बृहत् कथासरित्-सागर, वैताल पंचविंशतिका, सिंहासन द्वात्रिंशिका, दशकुमार चरित्र आदि की परंपरा केवल 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' या 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' अथवा सूरति मिश्र की 'बैताल पच्चीसी' (१७१० ई०) तक ही यह साहित्य सीमित नहीं रह गया होता। इतनी सुसंपन्न एवं समृद्धि-पूर्ण कहानी-परंपरा से ब्रजभाषा-साहित्य लाभान्वित न हो सका, उसका मूल कारण है ब्रजभाषा काव्य का इसके गद्य पर अत्यधिक प्राधान्य, जिससे गद्य विकास ही अवरुद्ध हो गया था। और हम देखते हैं कि ज्योंही गद्य के विकास की चिंता लोगों को आधुनिक युग में होती है तो सर्वप्रथम इन्हीं कहानियों की ओर लोगों

का ध्यान जाता है। सन् १७०३ ई० में किसी अज्ञात लेखक ने (सदल मिश्र नहीं) 'नासिकेतोपाख्यान' नामक कथा-पुस्तक लिखी। सूरति मिश्र का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। मौलिक कहानियाँ भले ही हिंदी में बाद में आई हों पर अनुवादों द्वारा इनका श्रीगणेश हम हिंदी-गद्य के विकास के साथ-साथ ही मान सकते हैं और इस दृष्टि से धार्मिक ग्रंथों के प्रारंभिक अनुवाद या भावानुवाद आदि को हम हिंदी कहानियों की कोटि में ले सकते हैं। और लल्लू लाल तथा सदल मिश्र को हिंदी कथा-साहित्य के उद्भव में योग देते हुए पा सकते हैं।

हिंदी कहानी का विकास

खड़ीबोली में मौलिक कहानियों का जन्म निश्चित रूप से सन् १९०० में किशोरीलाल गोस्वामी से हुआ और यह वर्तमान युग तक गतिशील है। कहानी के विकास-सोपानों को हम निम्नलिखित चार वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—

१. प्रयोग-काल, २. प्रसाद-युग,
३. प्रेमचंद-युग तथा ४. प्रगतिवादी युग।

कुछ आलोचकों ने तकनीक एवं प्रवृतियों के आधार पर हिंदी कहानी के विकास को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया है:—

१. प्रसाद स्कूल, २. प्रेमचंद स्कूल,
३. जैनेंद्र स्कूल, ४. अज्ञेय स्कूल तथा
५. यशपाल स्कूल।

इस वर्गीकरण के अनुसार राजा राधिकारमण सिंह, राय कृष्णदास, चंडी प्रसाद 'हृदयेश', विनोदशंकर व्यास, सियाराम शरण गुप्त, उग्र, सुमित्रानन्दन पंत आदि **प्रसाद स्कूल** में, सुदर्शन, कौशिक, चतुरसेन, ज्वालादत्त शर्मा, वृंदावनलाल वर्मा, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि **प्रेमचंद स्कूल में**; इलाचंद्र जोशी, अंचल, रांगेय राघव, पहाड़ी आदि **जैनेंद्र स्कूल में**; कमलाकांत वर्मा, प्रभाकर माचवे, माखनलाल चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, धर्मवीर भारती आदि **अज्ञेय स्कूल में** तथा जानकीवल्लभ शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतराय को **यशपाल स्कूल** में परिगण्य हैं पर ऐतिहासिक अध्ययन में हमें कुछ तिथि-क्रमानुसार चलना पड़ता है, अतः हम प्रथम वर्गानुसार अपना अध्ययन करेंगे।

प्रयोग काल—इस काल में पाँच प्रमुख नाम आते हैं—

१. किशोरीलाल गोस्वामी—'इंदुमती', 'गुलबहार'।
२. गिरिजा कुमार घोष—'पार्वती नंदन' (अनुवाद)
३. बंगमहिला—'दुलाई वाली'।
४. भगवानदास—'प्लेग की चुड़ैल'।

५. रामचंद्र शुक्ल—'ग्यारह वर्ष का समय'।

६. गिरिजादत्त वाजपेयी—'पंडित और पंडितानी'।

इन कथाकारों ने भाषा-परिमार्जन के साथ-साथ कथा-तत्त्व को विकसित करने में योग दिया था। 'दुलाई वाली' तो बहुत ही लोकप्रिय कहानी सिद्ध हुई थी। 'पंडित और पंडितानी' को भी लोगों ने रुचि से पढ़ा था। हिंदी कहानियों का यह प्रयोग अनुवादों से भी कुछ शक्ति ग्रहण करता है। गिरिजाकुमार घोष ने बँगला की अनेक कहानियों का हिंदी-अनुवाद प्रस्तुत किया था।

प्रसाद-युग—वास्तव में **प्रसाद** जी से आधुनिक हिंदी कहानियों का विकास-क्रम आरंभ होता है। इन्होंने सर्वप्रथम १९११ ई० में 'ग्राम' नामक अपनी पहली कहानी 'इंदु' नामक पत्रिका में प्रकाशित की, तदनंतर इनकी अनेक प्रसिद्ध कहानियाँ इस पत्रिका में प्रकाशित हुई। इनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं 'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आँधी' और 'इंद्रजाल'। प्रसादजी की कहानियाँ भावुकतापूर्ण हैं और इनमें उनकी काव्यात्मकता तथा नाटकीयता स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। हृदय को स्पर्श करनेवाली इनकी कहानियों ने न केवल भाषा के सौंदर्य में नया निखार ला दिया, प्रत्युत शैलीगत संपन्नता का भी परिचय दिया। सांस्कृतिक वातावरण सर्जित करने में प्रसादजी को अद्वितीय सफलता मिली है। चरित्र-चित्रण, कथोपकथन, वातावरण आदि सभी दृष्टियों से इनकी कहानियाँ पूर्ण हैं! प्रसादजी के युग में ही जी० पी० श्रीवास्तवा ने हास्यरस की कहानियाँ की रचना की। इनकी पहली कहानी 'पिकनिक' 'इंदु' में प्रकाशित हुई थी। इस युग के दूसरे प्रसिद्ध कहानीकार थे **राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह** जिनकी 'कानों में कंगना' नामक कहानी बहुत अधिक लोकप्रिय हुई थी।

सन् १९१३ में 'सरस्वती' ने **विश्वंभरनाथ शर्मा 'कौशिक'** की पहली कहानी 'रक्षाबधंन' प्रकाशित करके कहानी-साहित्य में एक नई कड़ी जोड़ दी। इन्होंने लगभग तीन सौ कहानियाँ लिखीं, जो 'चित्रशाला', 'कलामंदिर,' 'प्रेम प्रतिमा,' 'मणिमाला', 'कल्लोल', 'पेरिस की नर्तकी' आदि कहानी-संग्रहों में संग्रहीत हैं। पर इनमें से अधिकांश कहानियाँ परवर्ती हैं। हिन्दी कहानी-जगत् में एक आश्चर्य स्वरूप **गुलेरी जी** की कहानी 'उसने कहा था' सन् १९१५ में प्रकाशित हुई। इसके पूर्व गुलेरी जी 'सुखमय जीवन' नामक कहानी लिख चुके थे। पर इनकी ख्याति इस एक ही कहानी 'उसने कहा था' से ही हुई और ये हिन्दी के अद्वितीय कहानीकार माने जाने लगे। आज तक इतनी प्रभावोत्पादक कहानी हिन्दी-साहित्य में नहीं आ सकी है। आचार्य शुल्क ने इस कहानी की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"इसमें पक्के यथार्थवाद के बीच, 'सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर' भावुकता का चरम उत्कर्ष, अत्यंत निपुणता के साथ संपुटित है। घटना इसकी ऐसी है, जैसी

बराबर हुआ करती हैं पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झांक रहा है—केवल झाँक रहा है, निर्लज्जता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। कहानी भर में कहीं प्रेम की निर्लज्ज प्रगल्भता वेदना की वीभत्स विवृत्ति नहीं है। सुरुचि के सुकुमार से सुकुमार स्वरूप पर कहीं आघात नहीं पहुँचता। इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।"

ज्वालादत्त शर्मा, चतुरसेन शास्त्री तथा विश्वंभरनाथ जिज्जा इस युग के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं। प्रसादयुगीन कहानियों की भाव-भूमि बहुत अधिक व्यापक है। प्रसादजी आदर्श की स्थापना में लगे हुए थे, 'कौशिक' तथा ज्वालादत्त शर्मा घटनापूर्ण पारिवारिक कहानियों की रचना कर रहे थे, जी० पी० श्रीवास्तवा कहानियों द्वारा हमें गुदगुदा रहे थे और गुलेरी तथा चतुरसेन शास्त्री यथार्थवादी कहानियों द्वारा हमें जीवन की वास्तविकता से परिचित करा रहे थे। कलात्मकता की ओर भी इन कथाकारों का पूरा-पूरा ध्यान था। इस प्रकार विषय-वस्तु तथा शैली दोनों दृष्टियों से प्रसाद-युग ने सफलता के प्रथम सोपान को पार किया और इसने आने वाली पीढ़ी का मार्ग सरल बना दिया।

प्रेमचंद-युग—प्रसाद-युग में कहानी कला जिस प्रगति-पथ पर बढ़ रही थी उसमें आश्चर्यजनक अभिवृद्धि ला देने वाले कथाकार **प्रेमचंद** का आविर्भाव होता है। इस कथाकार ने उपन्यासों की भाँति अपनी कहानियों को भी जनता की आवाज बनाने की सफल चेष्टा की। अब तक जिन विषयों को अछूता रक्खा गया था अथवा जिनकी पूर्ण उपेक्षा की गई थी, प्रेमचंद ने उन्हीं विषयों पर रचना करना अपना परम पावन धर्म समझा। मध्यम वर्ग की सामान्य प्रवृत्तियाँ, दुर्बलताएँ उसकी विवशताएँ, किसान वर्ग की असहायता, उसकी चरित्रगत विलक्षणताएँ, सामान्य मानव-मन का स्वाभाविक हास-रुदन, तृष्णा, तृप्ति-अतृप्ति आदि वे सारे तत्त्व जो हमारे जीवन से अपना घनिष्ठ लगाव वैसा ही रखते हैं, जैसा माया और जीव का है, प्रेमचंद की लेखनी को आमंत्रित करते हैं। किसान मजदूरों की तो जैसे ये नस-नस पहचानते थे। उनकी हर-प्रवृत्ति, उनकी निवृत्ति, उनका त्याग, उनका मोह, उनकी स्वार्थपरता, उनकी निःस्वार्थता आदि के बहुत ही मार्मिक चित्र मुंशी जी की कहानियों में मिलते हैं। इनकी कहानियों के अनेक संग्रह हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी,' 'कामनातरु', 'कफ़न', 'बूढ़ी काकी' आदि इनकी कुछ कहानियाँ बहुत अधिक प्रसिद्ध हैं।

इस युग के अन्य प्रसिद्ध कहानीकार हैं प्रेमचंद के वास्तविक उत्तराधिकारी **सुदर्शन**; भावात्मक कहानीकार **'हृदयेश'**; **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी**; सफल छायावादी कवि **पन्त, महादेवी व निराला**; सुप्रसिद्ध उपन्यासकार पांडेय **बेचन शर्मा उग्र, वृन्दावनलाल वर्मा, भगवतीचरण वर्मा** आदि। **भगवतीप्रसाद वाजपेयी,**

शिवपूजन सहाय, रायकृष्णदास, नवीन, इलाचन्द्र जोशी आदि ने भी कहानी-साहित्य की अभिवृद्धि में, इस युग में योगदान दिया था।

प्रगतिवादी युग—वास्तव में इस युग का सूत्रपात मुंशी प्रेमचंद की कहानियों से ही हो जाता है और यथार्थ के चित्रण में मौलिकता का परिचय सर्वप्रथम मुंशी प्रेमचंद ने ही दिया था पर उनका यह यथार्थ आदर्शोन्मुख रहा। मुंशी जी के समय में ही कुछ ऐसे कथाकारों का उदय हो चुका था जो हमारे दैनिक वैयक्तिक जीवन से लेकर समाज के सामान्य जीवन की कुरूपताओं का नग्न चित्र उपस्थित करना चाहते थे। उनका यह कार्य प्रारम्भ में तो दुस्साहस ही माना गया पर जब उनकी एक पीढ़ी बन जाती है और साथ ही यथार्थ के नाम पर केवल घिनौने चित्रों को ही प्रस्तुत न करके सत्य एवं शिव का संबंध सुन्दर से जोड़ने वाले प्रगतिवादी कथाकार सामने आए तो फिर यह दुस्साहस एक सर्वथा सफल प्रयोग सिद्ध होने लगा। हिन्दी के अनेक सफल उपन्यासकारों ने इस नवीन कथा शैली में योग दिया। फलतः जहाँ पहले केवल विशिष्ट घटनाओं को ही कहानी में प्रधानतः स्थान दिया जाता था या फिर घटना के परिणामों पर भावात्मकता द्वारा मार्मिक प्रभाव डाल कर पाठकों की कोमल वृत्तियों को झकझोरा जा रहा था वहाँ अब हृदय और बुद्धि तत्त्व का, समन्वय किया जाने लगा। प्रारम्भ में तो ये कहानियाँ मार्क्सवादी विचारधारा तक ही सीमित रह गईं और वे तत्कालीन कथा साहित्य की सामाजिक एवं राजनीतिक उदासीनता की प्रतिक्रिया के फल-स्वरूप सामने आईं, पर आगे चलकर ये हर ओर फैली हुई दिखाई पड़ती हैं। इस पीढ़ी के प्रमुख कथाकार हैं **अज्ञेय** (जो इसके जनक भी हैं), **जानकीवल्लभ शास्त्री, राहुल सांकृत्यायन, भगवतशरण उपाध्याय, अमृतराय** आदि। **रामवृक्ष बेनीपुरी** तथा **नलिन विलोचन शर्मा** का भी अनुदान प्रशंसनीय है। नलिन विलोचन शर्मा ने मध्यवित्तीय परिवारों के मनोरोग का जैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

और आज इनकी कहानियों को भी पुरानी मानते हुए '**नई कहानी**' का युग चल रहा है। राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश, कमलेश्वर, आनन्द प्रकाश जैन, मार्कण्डेय, मन्नू भंडारी, रमेश बक्षी, शमशेरसिंह आदि इस धारा के प्रमुख कहानीकार हैं।

देश-विदेश की कहानियों के अनुवाद भी आज बहुत अधिक प्रकाश में आ रहे हैं। इन अनुवादों से भी हमारा कथा साहित्य बढ़ रहा है।

निबन्ध

उद्भव

साहित्य की अन्य विधाएँ—कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी आदि में जहाँ रचनाकार श्रोता या पाठक की अपेक्षा अपनी कृति से ही अधिक चिपका रहता है, वहाँ

निबंध में वह पाठक से अपना अन्तरंग-संबंध स्थापित करता है, न्याय करने का प्रयास करता है। रचना इस सम्बन्ध-स्थापन का माध्यम मात्र होती है। अपने मन के भावों को सीधे-सीधे बिना किसी छल-छद्म के, बिना किसी साज-सज्जा के पाठक पर व्यक्त कर देना निबंधकार का प्रमुख लक्ष्य रहता है। यही कारण है कि लेखक की वैयक्तिकता की जितनी अधिक छाप निबंध में देखने को मिलती है उतनी साहित्य की किसी अन्य विधा में नहीं, गीति-काव्य में भी वह झिलमिल आभा-सी रहती है। निबंध की इसी विशेषता ने हमारे साहित्यकारों को उस समय सर्वाधिक आकृष्ट किया, जब वे खड़ी-बोली हिन्दी के विकास में तथा भारतीय जनता के नवजगरण में लीन हुए। उस समय निबंध ही उनका एक मात्र सशक्त आधार बना। अतः भारतेन्दु-युग में नाटकों के साथ-साथ निबंध-रचना की ओर तीव्र गति से हमारे साहित्यकार अग्रसर हुए। यद्यपि तब तक खड़ीबोली का पूर्ण विकास नहीं हो पाया था और भावाभिव्यक्ति के लिए साधन-संपन्न शैलियों का भी निर्माण-काल चल रहा था। तथापि मन में भावों का अक्षय भांडार भरे हुए ये प्रारंभिक लेखक कभी-कभी तो कबीर-दादू जैसे संतों की भाँति भावों को भाषा से ऊपर उठा देते हैं और जहाँ कहीं भी खड़ीबोली की कोई असमर्थता दीख पड़ी तो अपने भावों को आंचलिक भाषा का संबंध देकर पाठकों तक पहुँचा दिया और अधिक सीधे ढंग से। आशय यह कि युग की आवश्यकता ने हिन्दी में निबंधों को जन्म दिया। इसका प्रारंभिक उद्भव हुआ, पत्र-पत्रिकाओं में, सामयिक एवं घटनाप्रधान विषयों के संपुट में और चरम विकास हुआ गंभीर तात्त्विक-दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, पुरातात्त्विक, वैज्ञानिक, एवं कला संबंधो शास्त्रीय विवेचनों में। हिन्दी निबन्ध साहित्य के विकास काल को निम्नलिखित तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है—

१. भारतेन्दु-युग
२. द्विवेदी-युग तथा
३. शुक्ल-युग।

भारतेंदु-युग

हिंदी-गद्य-साहित्य का विकास देखते समय हमने यह देखा था कि गद्य की तीन शैलियाँ भारतेंदु के पूर्व प्रचलित थीं। पहली शैली ब्रजभाषापन या पंडिताऊपन लिए हुए थी, जिसका प्रयोग सदासुखलाल तथा सदल मिश्र ने क्रमशः 'प्रेमसागर' तथा 'नासिकेतोपाख्यान' में किया था। दूसरी शैली संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली का कुछ खड़ापन ब्रजभाषा की मधुरिमा लिए थी जिसका प्रयोग राजा लक्ष्मणसिंह ने 'मेघदूत' तथा 'रघुवंश' के अनुवादों में किया था और तीसरी अरबी-फारसी शब्दों से युक्त विशुद्ध खड़ीबोली की शैली, जिसका प्रयोग राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' ने अपनी पाठ्य पुस्तक संबंधी अपनी अनेक रचनाओं में किया था।

अतः भारतेंदुयुगीन निबंधकारों के सम्मुख शैलीगत एक समस्या यह तो थी ही (यह मान लेने के पश्चात् भी कि ब्रजभाषा के प्रयोगों से बचते हुए शुद्ध खड़ीबोली का प्रयोग करना है) कि अरबी-फ़ारसी के शब्दों को बिल्कुल छोड़ दिया जाए या इनका आवश्यकतानुसार प्रयोग किया जाए। ध्यातव्य है कि कचहरियों तथा दफ्तरों में उर्दू के प्रयोग ने हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश के शिक्षित समाज की बोलचाल की भाषा में भी अरबी-फ़ारसी के शब्दों को बहुव्यवहृत बना दिया था। अब जब निबंध द्वारा लेखक अपने पाठकों से तादात्म्य स्थापित करने की बात सोचने लगा तो कुछ लोग स्वभावतः इन विदेशी शब्दों का प्रयोग कर जाते थे और कुछ जान-बूझ कर इन शब्दों को बिठा देते थे कि भावों की अभिव्यक्ति ठीक-ठीक हो सके। पर इनके विरुद्ध कुछ लोग प्रादेशिक भाषा के शब्दों के प्रति, ऐसी स्थिति में अधिक आस्था रखते दिखाई पड़ते हैं। इसी समय कुछ ऐसे भी थे जो अपनी मस्ती में यह सब कुछ नहीं देखते थे और वे जब जैसे बना अपनी बात कह डालते थे, भले ही किसी को उसमें अरबी-फ़ारसी या ब्रज-भाषा की खिचड़ी मिले या भाषा का विचित्रालय। भारतेंदु-युगीन निबंध के विषयों की भी यही स्थिति है। (इस युग के कुछ प्रमुख निबंधकारों का उल्लेख करते समय तक इस विषय पर प्रकाश डालेंगे।) किसी भी साहित्य-विधा के निर्माणकाल में यदि शैली तथा विषय-वस्तु संबंधी इस प्रकार का वैभिन्य देखने को मिले तो हमें आशान्वित होना चाहिए। हम देखते हैं कि भारतेंदुयुगीन निबंधकारों के बाद द्विवेदी युग में निबंध-साहित्य की आशातीत उन्नति होती है। भारतेंदुयुग के निबंध-लेखकों के विषय में डा० रामविलास शर्मा ने ठीक ही कहा है—

"जितनी सफलता भारतेंदुयुग के लेखकों को निबंध-रचना में मिली, उतनी कविता और नाटक में भी नहीं मिली। इसका एक कारण यह था कि पत्रिकाओं में नित्य प्रति लिखते रहने से उनकी शैली खूब निखर गई थी। दूसरी बात यह कि निबंध ही एक ऐसा माध्यम था, जिसके द्वारा उस युग के धक्काड़ लेखक बेतकल्लुफी से अपने पाठकों से बात कर सकते थे....उस युग के लेखक तटस्थ रहते हुए अपनी बात पाठक से कह कर संतोष न कर सकते थे। वे उससे आत्मीयता का संबंध स्थापित करना चाहते थे और एक मित्र की भाँति घुल-मिलकर उसे अपनी बात समझाना चाहते थे।........ सहज आत्मीयता के भाव ने भाषा को खूब स्वाभाविक बना दिया।........इसीलिए भारतेंदुयुग की गद्य-शैली के सबसे चमत्कारपूर्ण निदर्शन निबंधों में ही मिलते हैं।"

भारतेंदु-युगीन निबंधकार—इस युग के प्रमुख निबंधकार हैं भारतेंदु बाबू, पं० बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण प्रेमघन; पं० अंबिकादत्त व्यास, बाबू बालमुकुंद गुप्त, पं० राधाचरण गोस्वामी इत्यादि।

भारतेंदु बाबू ने ऐतिहासिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विषयों

पर अनेक निबंध लिखे थे। इन निबंधों में विषयानुसार शैलीगत भिन्नता देखने को मिलती है। अपनी पत्रिकाओं के लिए इन्हें हर वर्ग एवं हर स्तर के पाठकों के लिए लेख लिखने पड़ते थे। इनके कुछ निबंध हैं—'हम मूर्तिपूजक हैं,' 'श्रुति, रहस्य', 'सूर्योदय' 'होली' 'मित्रता' इत्यादि। इनके निबंधों में हमें पाँच प्रकार की शैलियाँ मिलती हैं,—

१. वर्णनात्मक, २. भावात्मक, ३. विश्लेषणात्मक, ४. विचारात्मक तथा ५. व्यंग्यात्मक। इनमें भावात्मक तथा विश्लेषणात्मक शैली की प्रधानता देखने को मिलती है।

बालकृष्ण भट्ट इस युग के दूसरे निबंधकार हैं, जिनका स्थान हिंदी-साहित्य में महत्वपूर्ण है। कुछ आलोचक तो इनसे ही हिंदी-निबंधों का सूत्रपात तक मानते हैं। इन्होंने अपने युग की लगभग सभी समस्याओं को अपनी रचना का विषय बनाया था। इनके निबंध बड़ी धूम से 'हिंदी-प्रदीप' में छपते रहे। 'साहित्य-सुमन' तथा 'भट्ट निबंधावली' में इनके निबंधों का संग्रह किया गया है। भट्टजी का उद्देश्य था साहित्य की श्रीवृद्धि करना। अतः सामान्य सामाजिक विषयों से लेकर गूढ़ समस्याओं, साधारण मनोरंजन से लेकर गूढ़ातिगूढ़ मनोवैज्ञानिक विषयों तथा रचनात्मक आनंददायक विषयों से लेकर सर्जनात्मक संतुष्टि तक की सीमा को इनकी लेखनी छूती है। भाषा अधिक परिमार्जित तथा मुहावरेदार है। अँग्रेजी भाषा के शब्दों का भी प्रयोग कहीं-कहीं किया गया है। भारतेंदु बाबू की भाँति इनकी रचनाओं में भी शैली-वैभिन्य देखने को मिलता है। पर इनकी व्यंग्यात्मक शैली ही अधिक प्रिय मानी गई है। यह इनके स्वभावानुकूल भी थी। भावात्मक तथा विचारात्मक शैलियाँ भी सफल बन पड़ी हैं। इनके कुछ प्रसिद्ध निबंध हैं—'सभ्यता और साहित्य,' 'कल्पना-शक्ति', 'आत्म-निर्भरता', 'धर्म का महत्त्व', 'मनुष्य की बाहरी आकृति मन की एक प्रतिकृति है,' 'चन्द्रोदय' इत्यादि। भावात्मक शैली का एक अति प्रसिद्ध उदाहरण दृष्टव्य है—

"यावत् मिथ्या और दरोग की किबलेगाह इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है? अनुमान करते-करते हैरान गौतम से मुनि "गौतम" हो गए। कणाद तिनका खा खाकर किनका बीनने लगे, पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्वों की कल्पना करते-करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गए। व्यास ने इन तीनों दार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे, यह संपूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं सब कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है।"

प्रतापनारायण मिश्र इस युग के अन्य उल्लेखनीय निबंधकार हैं जिन्होंने 'ब्राह्मण' तथा 'हिंदी' 'हिन्दू' हिंदोस्तान' नामक पत्रों का संपादन करके उस प्रारंभिक युग में

हिंदी को बल प्रदान किया। इन पत्रों द्वारा इन्होंने नवजागरण को भी प्रोत्साहित किया था। मिश्रजी ने समाज-सुधार, हिंदी-प्रचार, देश सुधार आदि गंभीर विषयों पर तो रचना की ही, साधारण मनोरंजन एवं मनबहलाव आदि से संबद्ध सामान्य विषयों पर भी इन्होंने निबंध लिखे हैं। इनके दोनों लक्ष्य थे—लोक-रंजन और लोक-रक्षण। इनके निबंधों के कुछ शीर्षक देखिए—'उपाधि', 'प्रताप चरित्र', 'ना', 'नास्तिक', 'अपव्यय', 'आप', 'बालक', 'युवावस्था', 'कांग्रेस की जय', 'धरती माता', 'पेट', 'बज्र मूर्ख' इत्यादि। मिश्रजी स्वतंत्र प्रकृति के व्यक्ति थे और इन्होंने जनसाधारण के लिए साहित्य-सर्जन किया था। फलतः भाषा में भी इन्होंने स्वतंत्रता से काम लिया है और यत्र-तत्र लोकभाषा के शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया है। 'गपक', 'सेंत-मेंत,' 'मूड़', 'गोड़' आदि शब्द प्रायः इनकी रचनाओं में मिल जाते हैं। अन्य भाषाओं के प्रचलित शब्दों को अपनाने में भी, ये नहीं हिचके हैं। मुहावरे भी मुक्त होकर आये हैं। कुल मिला-जुलाकर भाषा का एक अस्थिर रूप देखने को मिलता है। व्याकरण की उपेक्षा करने में भी ये नहीं चूके हैं। अपनी मस्ती और स्वच्छंदता में ये केवल विषय को ही महत्त्व दे पाते थे, भाषा-शैली आदि जब जैसे जिधर-चली जाय, चिंता नहीं। इनकी शैली के साधारणतः दो रूप देखने को मिलते हैं—(१) व्यंग्यात्मक तथा (२) विचारात्मक। शैली का एक उदाहरण है—

"यह टकार नीरस सी होती है, इससे इसके संबंधी आरटिकिल में किसी नटखट सुंदरी की चटक-मटक भरी चाल और गालों पर लटकती हुई लट, मटकती हुई आँखों के साथ हट अरे हट ! की बोलचाल का सा मजा तो ला न सकते थे, केवल टटोल-टटाल के थोड़ी सी एडीटरी की टेक निभा दी है। आशा है इसमें की कोई बात टेंट में खोस रखिएगा तो टका-पैसा भर गुण ही करेगा। बोलो टेढ़ी टाँग वाले की जय।"

तीसरा महत्त्वपूर्ण नाम है **बदरीनारायण 'प्रेमघन'** का। आचार्य शुक्ल ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—

"....(प्रेमघन) की शैली सबसे विलक्षण थी। वे गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले—कलम की कारीगरी समझने वाले—लेखक थे और कभी-कभी ऐसे पेचीले मजमून बाँधते थे कि पाठक एक-एक डेढ़-डेढ़ कालम के लम्बे वाक्य में उलझा रह जाता था। अनुप्रास और अनूठे पद-विन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता है।........उनके लेख अर्थगर्भित और सूक्ष्म विचारपूर्ण होते थे। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था, वही उनकी हिन्दी का था।"

'आनन्द कादम्बिनी' पत्रिका में ये अपने लेख ही बहुधा छापा करते थे। इनके कुछ लेखों के शीर्षक हैं—

'हमारी मसहरी', 'फाल्गुन', 'मित्र', 'ऋतु-वर्णन', 'परिपूर्ण पावस' इत्यादि।

इन महत्वपूर्ण निबन्धकारों के अतिरिक्त भारतेन्दु युग के अन्य निबन्धकार हैं—**अम्बिकादत्त व्यास, ठाकुर जगमोहन सिंह, श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी** इत्यादि।

द्विवेदी-युग

द्विवेदी-युग की प्रमुख विशेषता की ओर संकेत करते हुए हमने अन्यत्र यह कहा था कि जहाँ भारतेन्दु युग में उन्मुक्त साहित्य-निर्माण-कार्य हुआ वहाँ द्विवेदी युग में भाषा की शुद्धता, व्याकरण बद्धता, शालीनता आदि की ओर ही, विशेष ध्यान दिया जाने लगा। अब जो कुछ जैसे-तैसे कह देने की बात नहीं रह गई थी; पग-पग पर सावधानी बरतने का प्रयास किया जा रहा था। पर यह बन्धन सबको समान रूप से मान्य न था। इसीलिए कभी-कभी साहित्यकारों में नोक-झोंक भी चल जाया करती थी। प्रयोग-सम्बन्धी मतभेद भी कभी-कभी देखने को मिल जाते हैं। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तथा बालमुकुन्द गुप्त में इसी प्रकार के मतभेद उपस्थित हो गए थे।

इस युग के निबन्धकार अब बौद्धिकता की ओर अधिक झुक जाते हैं। भारतेन्दु-युगीन मरजी और सहृदयता का अब वह प्राधान्य निबन्धों में नहीं रह गया। विषय भी वर्णनात्मक कम और विचारात्मक अधिक हो जाते हैं। अब प्रायः लोग चिन्तन या विचार-प्रधान विषयों को ही निबन्ध के लिए उपयुक्त समझने लगते हैं। जहाँ पहले हर स्तर के अखबारी पाठकों को ध्यान में रक्खा जाता था, वहाँ अब केवल सुशिक्षित व्यक्तियों को ही निबन्ध का पाठक समझा जाने लगा। परिणाम यह हुआ कि इस साहित्य की सीमा अपेक्षाकृत संकुचित हो गई। पर जो कुछ लिखा गया उसमें कुछ स्थायी महत्त्व की सामग्री भी आई। कुछ ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक निबन्ध शास्त्रीय महत्त्व के हैं। यहाँ हम कुछ प्रमुख निबन्धकारों की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

महावीरप्रसाद द्विवेदी—इस युग के सर्वप्रथम निबन्धकार हैं। ये इस युग में वही स्थान और महत्त्व रखते हैं, जो भारतेन्दु बाबू का अपने युग में है। जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है 'सरस्वती' के माध्यम से द्विवेदीजी ने खड़ीबोली का परिमार्जन किया था। "इस युग की सम्पूर्ण साहित्यिक प्रगति को इनके निबन्धों से ही प्रेरणा मिली थी। अँगरेजी साहित्य के विकास के एक चरण में जिस प्रकार डाक्टर जॉनसन ने सम्पूर्ण अधिकार अपने हाथ में ले लिए थे, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य के विकास के इस युग में सम्पूर्ण स्वत्व द्विवेदी जी के हाथों में रहा।" —डॉ० रामकुमार वर्मा।

द्विवेदी जी के निबन्धों के छः संग्रह उपलब्ध हैं—

१. रसज्ञ-रंजन, २. अद्भुत आलाप, ३. साहित्य-सन्दर्भ, ४. लेखांजलि, ५. साहित्य सीकर तथा ६. विचार-विमर्श।

आचार्य शुक्ल के अनुसार तो ये बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहे थे। पर द्विवेदीजी ने अपने विचार से साहित्य के विद्यार्थियों को हर प्रकार से समझाना-बुझाना आवश्यक समझा था इसीलिए व्यास-शैली को उन्होंने अधिक अपनाया है। वैसे इनके निबन्धों में आलोचनात्मक तथा गवेषणात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं।

इस युग के दूसरे महत्त्वपूर्ण निबंधकार हैं **बालमुकुन्द गुप्त** जो कलकत्ता से हिंदी सेवा कर रहे थे। इनकी विनोद-प्रियता तथा उत्कट राष्ट्रीय-चेतना को देखते हुए हम इन्हें भारतेंदु-द्विवेदी युग की समन्वित प्रवृत्तियों को लेकर चलनेवाला कह सकते हैं। इनमें व्यंग्यात्मकता की प्रधानता भी देखने को मिलती है। राजनीतिक जागरूकता तथा हिंदी-प्रेम से तो ये परिपूर्ण थे। इन्हें सदा अँगरेजों की 'अँग्रेजियत' से चिढ़ थी। बालमुकुन्दजी के निबंधों के विषय राजनीति से ही अधिक लिए गए थे। इनके निबंधों का संग्रह गुप्त निबंधावली नाम से प्रकाशित हो चुका है। इनकी ख्याति इनके 'शिवशंभु का चिट्ठा' नामक मनोरंजक निबंधों से ही अधिक हुई। इन निबंधों में गहरा राजनीतिक व्यंग्य है। यह व्यंग्य भी भावात्मकता की पराकाष्ठा पर पहुँचाकर पाठक को चुपके से 'चिकोटी' काटनेवाला होता है। उर्दू में कलम माँजने के बाद ये हिंदी में आए, फलतः इनकी हिंदी में एक अजीब रवानी है, वह फड़कती हुई है। कभी-कभी इनके छोटे-छोटे वाक्य काव्य-सा आनन्द देते हैं। 'शिवशंभु का चिट्ठा' का निम्नलिखित उदाहरण देखिए—

"इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा—बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुई। अंधेरा छाया, बूंदें गिरने लगीं; साथ ही तड़तड़ घड़घड़ होने लगी। देखा ओले गिर रहे हैं। ओले थमे; कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई। 'बम भोला' कह कर शर्माजी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लालडिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु शर्मा के बरामदे की छत पर बूंदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।"

माधव प्रसाद मिश्र द्विवेदी-युग के तीसरे उल्लेखनीय निबंधकार हैं। इन्होंने सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक सभी विषयों पर निबंध-रचना की है। भाषा-सौंदर्य के लिए ये अपने युग के निबंधकारों में अधिक प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा-संस्कृत-गर्भित तथा प्रवाहमय है और शैली भावावेशपूर्ण है। इनकी इस शैली का एक उदाहरण देखिए—

"आर्यवंश के धर्म-कर्म और भक्तिभाव का वह प्रबल प्रवाह—जिसने एक दिन बड़े सन्मार्ग विरोधी भूधरों का दर्प-दलन कार उन्हें रज में परिणत कर दिया था—और इस परम पवित्र वंश का वह विश्व व्यापक प्रकाश—जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम भी न छोड़ा था अब कहाँ है ?"

द्विवेदी-युग के चौथे सफल निबंधकार हैं **अध्यापक पूर्णसिंह**। यद्यपि इन्होंने बहुत अधिक नहीं लिखा है पर, जो कुछ लिखा है वह हर दृष्टि से पूर्ण है। अध्यापक-पूर्णसिंह की भाषा-शैली की प्रशंसा लगभग सभी आलोचकों ने मुक्तकंठ से की है। लाक्षणिकता इनकी शैली की एक प्रमुख विशेषता है। भाषा शुद्ध एवं चुस्त है। कहीं कोई शब्द अनावश्यक नहीं है। कहीं-कहीं नारकीय सौंदर्य भी देखने को मिल जाता है। भावों की गहराई और लाक्षणिक प्रयोग ये दोनों गुण इनके निबंधों को ऊँचे बौद्धिक स्तर पर उठा देते हैं। 'आचरण की सभ्यता', 'वीरता' तथा 'मजदूरी और प्रेम' इनके प्रसिद्ध निबंध हैं।

सर्वश्री **गोविन्द नारायण मिश्र** तथा बाबू **शिवपूजन सहाय** इस युग के अन्य उल्लेखनीय निबन्धकार हैं, जिन्होंने देशी निबन्ध-साहित्य के कोष की अभिवृद्धि की। सहाय जी की सरलता एवं सहृदयता तो उनके निबंधों में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है।

शुक्ल युग

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के युग में ही एक ऐसी प्रतिभा का उद्भव हो रहा था जिसने आगे चलकर हिंदी गद्य-साहित्य के एक बहुत बड़े अभाव को दूर करने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। प्रसिद्ध आलोचक बाबू गुलाबराय ने ठीक ही लिखा है कि "आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध-क्षेत्र में पदार्पण करने से निबंध-साहित्य में एक नया जीवन आया। द्विवेदी-युग में विषय-विस्तार और परिमार्जन तो पर्याप्त हुआ, किन्तु उस काल में उतना विश्लेषण और गहराई में जाने की प्रवृत्ति न उत्पन्न हो सकी।" हम देखते हैं कि भारतेंदु-युग में निबंध एक हल्की-फुल्की रचना के रूप में प्रस्तुत है और द्विवेदी युग में इसमें थोड़ी गंभीरता दिखाई देती है, पर शुक्ल जी के आविर्भाव के पश्चात् तो निबंध की अवधारणा ही मूलतः परिवर्तित हो जाती है। अब लेखकों की दृष्टि गंभीर विषयों की ओर ही नहीं गंभीर शैली की ओर भी गई। केवल छिछले स्तर की छिछली बातों तक ही सीमित निबंध को अब चिंतन की अथाह गहराई में उतार दिया गया। इस युग के प्रवर्तक आचार्य शुक्ल का निबंध-सम्बन्धी मत जान लेने से स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। वे लिखते हैं—

"यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है........। निबंध या

गद्य-विधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करते हैं………।"

"आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विशेषता हो।…….व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की शृङ्खला रखी ही न जाय या जान-बूझ कर जगह-जगह से तोड़ दी जाय………।"

आगे शुक्लजी ने हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है, कि निबंध के विषय गंभीर-से-गंभीर और सरल-से-सरल हो सकते हैं। वे कहते हैं, "….वस्तु के नाना सूक्ष्म ब्योरों पर दृष्टि गड़ानेवाला लेखक किसी छोटी-से-छोटी, तुच्छ-से-तुच्छ बात को गंभीर विषय का स्वरूप देकर, पांडित्यपूर्ण भाषा की पूरी नकल करता हुआ सामने रख सकता है। पर सब अवस्थाओं में कोई बात अवश्य चाहिए।" निबंध की शैलीगत विशेषता पर प्रकाश डालते हुए शुक्लजी लिखते हैं—

"इस अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजन-प्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता खड़ी हो सकती है जहाँ नाना अर्थ-संबंधों का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परंपरा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी।"

आचार्य शुक्ल का उपर्युक्त मत न केवल उनके अपने निबंधों के विषयगत एवं शैलीगत आदर्शों का आधार बनता है, प्रत्युत इसकी एक नई परंपरा स्थापित होती है और हम देखते हैं कि आगे के सभी लेखक शुक्लजी की भाषा को ही आदर्श मानते हुए उससे परोक्ष या अपरोक्ष रूप में प्रभावित होते हैं।

शुक्लजी के निबंधों का पहला संग्रह सन् १९३० में प्रकाशित हुआ था और सन् १९३९ में कुछ नए निबंध जोड़कर 'चिन्तामणि' के नाम से इसका प्रकाशन हुआ। इनके कुछ प्रमुख निबन्ध हैं—'भाव या मनोविकार', 'उत्साह', 'श्रद्धा', 'भक्ति', 'घृणा' 'प्रेम और ग्लानि', 'ईर्ष्या', 'भय', 'क्रोध', 'कविता क्या है' आदि। स्पष्ट है कि शुक्ल जी मनोवैज्ञानिक तथा आलोचनात्मक निबंध अधिक लिखते थे।

(शुक्लजी की भाषा शैली के कई उदाहरण दिए जा चुके हैं अतः पुनरावृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं।)

इस युग के प्रमुख निबन्धकार हैं नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० नगेन्द्र, डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, राय कृष्ण-दास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, माखनलाल चतुर्वेदी आदि। इनमें से प्रथम छः निबन्धकार मुख्यतः अपने गम्भीर चिन्तन प्रधान निबन्धों के लिए ही अधिक प्रसिद्ध हैं और शेष भावात्मक शैली के कलाकार हैं।

हिन्दी निबन्ध-साहित्य उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर बढ़ रहा है। सौभाग्य की बात है कि उपयोगी साहित्य के लेखक एवं विभिन्न समाज शास्त्रों के विद्वान् भी अब हिन्दी में लेख लिखने लगे हैं। साप्ताहिक एवं मासिक पत्रिकाओं द्वारा हिन्दी निबन्ध-साहित्य की अभिवृद्धि में बहुत अधिक सहायता मिल रही है। कुछ वैज्ञानिक भी इस दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। आशा है निकट भविष्य में विभिन्न ज्ञान-विज्ञान एवं कला सम्बन्धी शास्त्रीय एवं मनोरंजक लेख हिन्दी में आ जाएँगे।

निबन्ध की एक विशिष्ट शैली है व्यक्तिगत निबन्ध, जो अंग्रेजी की निबन्ध-Personal essay की पीठिका पर निर्मित हुआ (से ललित निबन्ध या रम्य रचना की संज्ञा भी दी जाती है। इस विधा में अशोक के फूल (डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी), खरगोश के सींग (डॉ. प्रभाकर माचवे) झूठ-सच (सियारामशरणगुप्त), छितवन की छाँह (डॉ. विद्या निवास मिश्र), आईना बोल उठा (आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा) इत्यादि उल्लेख्य ग्रंथ हैं।

व्यक्तिगत निबन्धकारों में उल्लेखनीय नाम हैं— सियारामशरण गुप्त, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, आचार्य नलिन विलोचन शर्मा, डॉ. विद्यानिवास मिश्र, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा, कामता प्रसाद सिंह 'काम', केसरी कुमार, डॉ. स्वर्णकिरण, विवेधी राय, माधव, डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल, भदंत आनंद कौसल्यायन, लक्ष्मीकांत झा, यशपाल, रामवृक्ष बेनीपुरी, भगवतशरण उपाध्याय, शैलेंद्रनाथ श्रीवास्तव, रामेश्वर-नाथ तिवारी, सुखदा पांडेय, हरिशंकर परसाई, जगदीश पांडेय, कुबेरनाथ राय, रामेश्वरप्रसाद सिंह काश्यप, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, प्रतापनारायण मिश्र, पूर्णसिंह, डॉ. दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी, रामचन्द्र शुक्ल, राय कृष्णदास, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, अज्ञेय, डॉ. संसारचन्द्र, निशांतकेतु, महादेवी वर्मा, श्रीनारायण चतुर्वेदी, महावीर-प्रसाद द्विवेदी, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, डॉ. राम विलास शर्मा इत्यादि।

हिन्दी-समालोचना

उद्भव

यदि कवियों के गुण-दोष-विवेचन को, जैसा कि हमारे देश में प्राचीन काल से ही प्रचार था, अथवा टीकाओं को आलोचना के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिया जाय तो हमें इस कोटि की आलोचना का आभास ब्रजभाषा-साहित्य से ही हिन्दी में मिलने लगता है। हमें ज्ञात है कि भक्त कवियों के परिचयात्मक ग्रंथ नाभादास कृत 'भक्तमाल' में कभी-कभी कवि की काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख कर दिया गया है। उदाहरणार्थ सूरदास जी के सम्बन्ध में कहा गया है—

"उक्ति ओज अनुप्रास वरन,-अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी॥

प्रीतिबिम्बित दिविदिष्ट, हृदय हरिलीला भासो।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासो॥
बिमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर-कवित सुनि कौन कबि जो नहिं सिर चालन करै॥

इस प्रकार के पदों को हम संस्कृत के उन श्लोकों की परंपरा में स्वीकार कर सकते हैं जिनमें कवियों की स्तुति या निंदा की गई थी। 'सूर-सूर तुलसी ससी, की तुकबंदी भी हमें इसी परंपरा की स्मृति दिलाती है।

रीतिकाल में भी ऐसी अनेक रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें छंदोबद्ध प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। पर इन्हें हम समालोचना नहीं कह सकते हैं। हाँ, रीतिकाल में पिंगल शास्त्र पर जो कार्य हुए उनमें मौलिकता का अभाव होते हुए भी साहित्यालोचन के रूप में हमें आलोचना के एक अंग पर कुछ साहित्य अवश्य उपलब्ध हो जाता है।

विकास

ऊपर टीकाओं की बात कही गई थी। कुछ दिनों तक टीकाओं को भी आलोचना का एक अंग माना जाता रहा। संस्कृत-ग्रंथों की टीकाओं की परंपरा से प्रभावित होकर हिन्दी में भी टीकाएँ निकलीं। पर इनसे हमारी आलोचना का विकास नहीं होता है।

यदि ऐसा हुआ होता तो बहुत पहले रीतिकाल में ही अनेक आलोचना-ग्रंथ लिखे गए होते।

हिंदी आलोचना-साहित्य के इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए हम निम्नलिखित चार-युगों में विभक्त कर सकते हैं—

१. रूढ़िगत युग
२. पाश्चात्य प्रभाव-युग तथा
३. शोध-युग।

रूढ़िगत युग—दोष विवेचन के रूप में हिंदी समालोचना का उद्‌भव भारतेन्दु युग से ही हो जाता है जब विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक परिचय जैसे लेखों अथवा दोष-निरूपण जैसी टिप्पणियों में इसका दर्शन होता है। 'कविवचल-सुधा', हरिश्चंद मैगजीन', 'हिंदी प्रदीप', 'ब्रह्मण' आदि ने समालोचना के प्रारंभिक विकास को और बढ़ाकर स्वयं भारतेंदु बाबू ने टिप्पणी या पुस्तक-परिचय, मुद्राराक्षस की भूमिका तथा 'नाटक' नामक अलोचनात्मक निबंध लिखकर आलोचना का मार्ग प्रशस्त किया। पर इसे हम विशुद्ध समालोचना के अर्थ में नहीं ले सकते। लेखों के रूप में पुस्तकों की समालोचना का महत्त्वपूर्ण कार्य इस युग में **बदरीनारायण चौधरी** ने आरंभ किया।

इन्होंने 'आनंद कादम्बिनी में लाला श्रीनिवासदास की पुस्तक 'संयोगिता स्वयंवर' की कटु आलोचना की। इस युग में अन्य निबंधकारों ने भी दोष-निरूपण या पुस्तक-परिचय संबंधी कुछ लेख लिखे थे, पर उन लेखों को समालोचना नहीं कहा जा सकता है।

पुस्तक के रूप में आलोचना का आरंभ पहले-पहल **आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी** 'हिंदी कालिदास की आलोचना' लिख कर करते हैं। जिसमें लाला सीताराम बी० ए० के अनूदित नाटकों के दोषों का निरूपण किया गया था। पर अनुवाद की आलोचना की सीमा कितनी संकुचित हो सकती है, यह स्वतः सिद्ध है। द्विवेदीजी ने तदनंतर 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा', 'नैषध चरित चर्चा' आदि कुछ ऐसे आलोचनात्मक ग्रंथों की रचना की, जिसमें संस्कृत के कवियों की प्रसिद्ध काव्यगत विशेषताओं का उल्लेख किया गया था।

'कालिदास की निरंकुशता' में संस्कृत के विद्वानों द्वारा इंगित कालिदास के भाषा-संबंधी दोषों को द्विवेदीजी ने दिखाया है। इस प्रकार संस्कृत के प्रसिद्ध कवियों पर विभिन्न संस्कृत के विद्वानों के मतों को ही इन आलोचनाओं में स्थान दिया गया है। यही कारण है कि आचार्य शुक्ल ने द्विवेदीजी की इन पुस्तकों के विषय में कहा है कि "इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न में समझना चाहिए, स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।"

किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि द्विवेदीजी ने आलोचना के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया। वास्तविकता तो यह है आलोचना के व्यावहारिक लाभ की उपलब्धि तो हमें द्विवेदीजी की आलोचना से ही होती है। स्वयं शुक्ल जी ने ही हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट कराते हुए लिखा है—

"यद्यपि द्विवेदीजी ने हिंदी के बड़े-बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिंदी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी-जी न उठ खड़े होते तो जैसे अव्यवस्थित व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उनकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गया और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।"

द्विवेदी युग की आलोचना को आगे बल मिलता है। **मिश्रबंधुओं** के 'हिंदी नवरत्न' से। **मिश्र बंधुओं** ने यह घोषित किया था कि देव हिंदी के सबसे बड़े कवि हैं। **पंडित पद्मसिंह शर्मा** ने बिहारी पर एक सुन्दर ग्रंथ लिखकर सप्तशती परंपरा का विस्तारपूर्वक उल्लेख करते हुए बिहारी की काव्यगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला

था और यद्यपि इसमें बिहारी का पक्षपात किया गया था, तथापि इनके ग्रंथ का साहित्यिक महत्त्व भी कम नहीं है। इसी पुस्तक के बाद देव-बिहारी का झगड़ा आरंभ होता है और अब लोग किसी एक कवि के गुण-दोष-निरूपण के स्थान पर तुलनात्मक समीक्षा की ओर मुड़ जाते हैं। इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य **पं० कृष्णबिहारी मिश्र** बी० ए०, एल-एल० बी० ने 'देव और बिहारी' लिखकर किया। इस पुस्तक का उत्तर देने के लिए और उधर मिश्रबंधुओं की छूटों की सफाई करने के लिए **लाला भगवानदीन** ने 'बिहारी और देव' नामक ग्रंथ लिखा। 'बिहारी-देव' का यह 'झगड़ा' भले आदमियों को आगे नहीं आकृष्ट कर सका। हाँ, कुछ नीम-हकीम बिहारी के दोहों का विशुद्ध राजनीतिक या विशुद्ध आध्यात्मिक अर्थ निकालने की अट कलबाजियाँ जरूर लगाते रह गए और कुछ लोग आज भी ऐसी कलाबाजियाँ दिखा रहे हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी समालोचना की कुछ उन्नति द्विवेदी-युग तक हुई पर जैसा कि आचार्य शुक्ल ने कहा है, उसका स्वरूप प्रायः रूढ़िगत (Conventional) ही रहा।

पाश्चात्य प्रभाव-युग—जिस प्रकार उपन्यास, एकांकी नाटक आदि को पाश्चात्य साहित्य ने पर्याप्त प्रेरणा दी थी, उसी प्रकार रूढ़िगत या परंपरित आलोचना को संकुचित दायरे से निकालकर एक ऊँची भाव-भूमि एवं कला के पद पर आसीन कराने में पाश्चात्य आलोचना ने पर्याप्त प्रोत्साहन दिया है। किंतु यहाँ 'प्रभाव' शब्द का प्रयोग सीमित अर्थ में ही किया गया है। हमारा आलोचना-साहित्य इस युग में **आचार्य शुक्ल** द्वारा अनुप्राणित होता है, जिन्हें भारतीय तथा यूरोपीय साहित्य-शास्त्र पर समानाधिकार प्राप्त था। शुक्लजी ने आलोचना के ही पहलू पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया था और इसके सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक पक्षों को समान रूप से महत्त्व प्रदान किया था। वे न तो केवल गुण-दोष-निरूपण से ही संतुष्ट होना श्रेयस्कर समझते थे और न भावात्मक प्रशस्तियों तक ही आलोचना की इतिश्री मानते थे। समालोचना का उच्च आदर्श सामने लानेवाले आचार्य शुक्ल ने तुलसीदास, सूरदास तथा जायसी पर विस्तृत आलोचना पुस्तकों के रूप में लिखी जो 'गोस्वामी तुलसीदास,' 'भ्रमरगीत-सार' तथा 'जायसी ग्रंथावली' के नाम से प्रकाशित हुई। इस युग के दूसरे प्रसिद्ध आलोचक हैं **लाला भगवानदीन** जिनकी आलोचनाएँ 'सूर पंचरत्न', 'दोहावली' तथा 'दीनदयाल गिरि ग्रंथावली' में सम्मलित हैं। 'कबीरवचनावली' में **अयोध्या-सिंह उपाध्याय** तथा 'कबीर ग्रंथावली' में **डाक्टर पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल** की आलो-चनाएँ प्रकाश में आयीं। **पं० कृष्णशंकर शुक्ल** ('केशव की काव्यकला'), **पंडित गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश'** ('गुप्तजी की काव्य-धारा'), **पंडित रामकृष्ण शुक्ल** ('सुकवि-

समीक्षा'), **श्री माधवजी** ('मीरा की प्रेम-साधना'), **पं० शांतिप्रिय द्विवेदी** ('हमारे साहित्य-निर्माता'), **डॉ० नगेंद्र** आदि इस युग के प्रसिद्ध आलोचक हैं।

पुस्तकों और कवियों की आलोचना के अतिरिक्त इस युग के प्रारंभ में ही **सैद्धांतिक आलोचना** के क्षेत्र में कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य हुए थे। **बाबू श्यामसुन्दरदास**-कृत 'साहित्यालोचन', **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी**-कृत 'विश्व-साहित्य' दो ऐसे ग्रंथ थे जो आलोचकों का दृष्टिकोण व्यापक बनाने में सफल सिद्ध हुए। 'साहित्यालोचन' की प्रणाली पर आचार्य शुक्ल के युग में जो कार्य हुए उनमें **नलिनीमोहन सान्याल** का 'समालोचना-तत्त्व', **लक्ष्मीनारायण सुधांशु** का 'काव्य में अभिव्यंजनावाद', **गुलाबराय** का 'सिद्धांत और अध्ययन', **रामदहिन मिश्र** का 'काव्य-दर्पण' और **नलिनविलोचन शर्मा** का 'दृष्टिकोण' अधिक प्रसिद्ध है।

आचार्य शुक्ल की परंपरा को आगे बढ़ानेवाले आलोचकों में **पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, चन्द्रबली पांडेय, डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० जगन्नाथप्रसाद शर्मा** इत्यादि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पाश्चात्य प्रभावों का विशिष्ट रूप देखने को मिलता है प्रभावाभिव्यंजक तथा मार्क्सवादी समीक्षाओं में। छायावाद के आगमन के तुरत बाद ही बंगाल से होती हुई प्रभावाभिव्यंजक आलोचना-पद्धति हिंदी में आई जिसे वास्तव में आज समीक्षा मानने में भी लोगों को आपत्ति है। इसी प्रकार प्रगतिवाद की देन है मार्क्सवादी समालोचना। **डॉ० रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, अमृतराय** आदि इस धारा के प्रमुख आलोचक हैं। 'नई कविता' के युग ने कुछ नए आलोचकों को भी जन्म दिया है जिनमें प्रथम नाम **लक्ष्मीकांत वर्मा** का लिया जा सकता है।

शोध-युग—जिस समय हिंदी आलोचना प्रगतिपथ पर अग्रसर थी, उसी समय विश्वविद्यालयों के हिंदी-विभाग के शोध-छात्रों द्वारा हिंदी-साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में गवेषणात्मक कार्य आरंभ कराया गया। इन कार्यों द्वारा जो शोध-प्रबंध प्रकाशित हो रहे हैं उनसे हमारे आलोचना-साहित्य की अभिवृद्धि हो रही है। कुछ शोध-प्रबंध तो बहुत अधिक लाभप्रद एवं महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं।

गद्य की कुछ अन्य विधाओं का विकास

नाटक, उपन्यास, कहानी, समालोचना आदि के उद्‌भव एवं विकास का अध्ययन कर लेने के पश्चात् अब हम हिंदी-गद्य की कुछ अन्य विधाओं के उद्‌भव एवं विकास का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे। ये विधाएँ हैं जीवनी, आत्मकथा, रेखाचित्र एवं संस्मरण, यात्रा-साहित्य, अंतर्वीक्षा, रिपोर्ताज या सूचनांकन, पत्र-साहित्य, दैनिकी-लेखन इत्यादि।

जीवनी-साहित्य

जीवनी-लेखन की परंपरा संस्कृत-साहित्य में काफी प्राचीन है। कुछ सुप्रसिद्ध रचनाकारों ने ऐतिहासिक महत्त्व की जीवनियाँ लिखी हैं। इनमें बाणभट्ट का 'हर्ष-चरित', संध्याकर नन्दी का 'रामचरित', आनंदभट्ट का 'बल्लालचरित', जयसिंह का 'कुमारपालचरित', पद्मगुप्त का 'नवसाहसांकचरित', विल्हण का 'विक्रमांकदेवचरित' आदि जीवनियाँ सातवीं शती ई० के प्रथम चरण से लेकर बारहवीं शती के प्रथम चरण के बीच लिखी जा चुकी थीं।

यह परंपरा ही हिंदी को विरासत में मिलती है। इन्हें हम विशुद्ध अर्थ में केवल जीवनी न कहकर प्रशस्ति कह सकते हैं। इसी प्रकार के प्रशस्ति-काव्य हिंदी के आदिकाल में 'रासो' नाम से मिलते हैं जिनसे हम भली भाँति परिचित हैं। पर संस्कृत-चरितकाव्यों में इतिहास को इतना अधिक ऊहापोहयुक्त नहीं बनाया गया था।

मध्यकाल में राजाओं के चरित के बाद संतों के चरित की बारी आती है। कारण स्पष्ट है, साहित्य संतों एवं भक्तों की कुटिया में प्रश्रय पाता है। 'मूल गोसाईं-चरित', 'भक्तमाल', 'चौरासी अथवा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता' के नाम इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं।

उत्तर मध्यकाल में साहित्य अधिकांशतः राजाश्रय में चला जाता है और एक बार फिर प्रशस्ति-गायकों को अवसर मिलता है।

पर हम इन प्रयत्नों को विशुद्ध जीवनी के अर्थ में नहीं ले सकते हैं। वास्तव में जीवनी-लेखन की भारतीय परंपरा का सूत्रपात मुसलमान इतिहासकारों से होता है, जिन्होंने गुलाम, खिलजी, तुगलक, सैयद तथा मुगल राजवंशों या उनके कुछ शासकों का इतिहास लिखा है। यद्यपि इनमें भी रीतिकालीन आलंकारिकता का अभाव नहीं है, तथापि इन्हें बहुत अंशों तक जीवनी कहा जा सकता है। पर हिंदी-साहित्य से इसका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है।

हिंदी-साहित्य में जीवनी का प्रारंभ कवि-परिचयों से होता है। **भारतेंदु बाबू** के कुछ लेखों से हम आधुनिक जीवनी-साहित्य का प्रारंभ स्वीकार कर सकते हैं। पुस्तकाकार रूप में **मिश्रबंधुओं** का 'हिंदी नवरत्न' ही प्रथम जीवनी-ग्रंथ है। तदनंतर **बाबू श्यामसुन्दरदास** तथा **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** ने कवियों की जीवनियाँ लिखीं। कवि-परिचय के पश्चात् सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक नेताओं की जीवनियाँ भी विभिन्न लेखकों द्वारा प्रकाश में लाई गईं।

जीवनी-साहित्य को अभी पूर्णता तो नहीं प्राप्त हो सकी है पर भविष्य आशामय है। यदि मँजेमँजाये साहित्यकारों का सहयोग मिले तो इस दिशा में क्षेत्र व्यापक है।

आत्मकथा

आत्मकथा-लेखन एक कठिन कला है, जिसमें ईमानदारी की आत्म-चुनौती लेखक को पग-पग पर मिलती रहती है। कुछ सच्चे कलाकार ही इसमें सफल हो पाये हैं। हिंदी में आत्मकथा निश्चित रूप से अँग्रेजो-साहित्य की देन है। पर इसका हमारे देश में नितांत अभाव भी न था। वास्तव में आत्मपरिचय देना हमारे साहित्य-कार हेय समझते रहे, फिर भी अपने ग्रंथों के आरंभ में कुछ कवियों ने अपने कुल का परिचय दिया है। पर इसे हम आत्मकथा नहीं कह सकते। यत्र-तत्र अपने विषय में स्फुट वक्तव्य देनेवाले केवल अपनी दीनता का ही उल्लेख करते रहे।

हिंदी-साहित्य में **स्वामी दयानन्द** के 'आत्मचरित' तथा 'कल्याणमार्ग का पथिक' से आत्मकथा का आरम्भ माना जा सकता है। आत्मकथा का कुछ आभास हमें **भारतेन्दु बाबू, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** तथा **बाबू श्यामसुन्दर दास** के संस्मरणों में मिल सकता है। **स्वामी भवानी दयाल संन्यासी** तथा **श्री वियोगीहरि** ने भी आत्मकथाएँ लिखी हैं। इस साहित्य की अभिवृद्धि में कुछ राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं ने भी योग दिया है। इनमें **गाँधीजी, पं० नेहरू, हरिभाऊ उपाध्याय** तथा **डॉ० राजेन्द्रप्रसाद** के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। साहित्यकारों में **बाबू गुलाबराय** ('जीवन की असफलताएँ'), **श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, राहुल सांकृत्यायन, सेठ गोविन्ददास** इत्यादि के नाम इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

रेखाचित्रों, संस्मरणों आदि में बहुधा आत्मकथात्मक सामग्री का संक्रमण हो जाता है। विशुद्ध आत्मकथाओं का हिंदी-साहित्य में अभी बहुत अधिक अभाव है। जब तक आत्मनिरीक्षण और आत्मप्रकाशन के साथ-साथ दोषात्मस्वीकृति (कनफेशन) का अदम्य साहस नहीं युक्त हो जाता है, तब तक आत्मकथाओं की दुर्बलताएँ नहीं जायेंगी और इन दुर्बलताओं के रहते हुए सुन्दर साहित्य का सर्जन सम्भव नहीं है।

रेखाचित्र एवं संस्मरण

हिंदी-साहित्य में रेखाचित्र एवं संस्मरण का उद्‌भव मूलतः पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से माना जाना सर्वथा उचित है। यह तथा इसी प्रकार की कुछ गद्य-विधाएँ, जिनपर आगे प्रकाश डाला जायगा, अँग्रेजी साहित्य की देन हैं। हमारे साहित्यकारों ने अपनी इस कमी की आपूर्ति करके हिंदी-साहित्य का बहुत बड़ा हित किया है।

रेखाचित्र के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए एक आलोचक ने ठीक ही लिखा है—"रेखाचित्र 'विषय' का विभिन्न परिप्रेक्ष्य में विभिन्न कोणों (ऐंगिल्स) से अंकित चित्र है, जिसमें बाह्याकृति का रूपात्मक चित्रण अधिक, अन्तस् का कम, केवल उतना जितना रूपात्मक चित्रण से स्वतः झलक जाता है''''जैसे चित्रकार के स्केच की मूक

रेखाएँ हृदयस्थ भावों को उभार देती हैं। रेखाचित्र में चित्रित 'विषय' के साथ जहाँ लेखक का अनुभूतिपरक सम्पर्क स्थापित हो जाता है और इस तरह लेखक भी स्वतः उसका पात्र बन जाता है, वहीं रेखाचित्र और संस्मरण की सीमा है। वहीं से रेखाचित्र संस्मरण बन जाता है।"

रेखाचित्र—वास्तव में रेखाचित्र और संस्मरण में भेद करना कुछ कठिन है। दोनों एक-दूसरे से इतने संश्लिष्ट हैं कि दोनों के बीच सरलतापूर्वक विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती है। यही कारण है कि जहाँ एक आलोचक किसी रचना की गणना रेखाचित्र में करता है तो दूसरा उसे ही संस्मरण की कोटि में रखता है।

सौभाग्यवश रेखाचित्र ने हमारे साहित्यकारों को बहुत अधिक आकृष्ट किया है। अनेक सफल कवियों तथा कथाकारों ने भी रेखाचित्रों की रचना में योग दिया है। गद्य की यह विधा चित्रोपम स्वरूप के लिए पर्याप्त स्थान सुरक्षित रखने के कारण अधिक आकर्षक सिद्ध हुई है। सन् १९३६-३७ से रेखाचित्रों की रचना आरम्भ हो जाती है। **श्री पद्मसिंह शर्मा** का 'पद्मपराग' तथा **श्रीराम शर्मा** की 'बोलती प्रतिमा' से हम इसका आरम्भ स्वीकार कर सकते हैं। शर्माजी ने 'ऊधो का लेना न माधो का देना', 'हरनामदास', 'वरदान', 'वसीयत', 'फिरोजाबाद की कालकोठरी', 'रत्ना की अम्मा' आदि अनेक रचनाओं द्वारा इस साहित्यप्रकार को आगे बढ़ाया। शर्माजी के इस साहित्य में लोकजीवन की झाँकी के साथ-साथ अदम्य साहसिकता, अपार राष्ट्रीयता, सामाजिक दुर्बलताओं की कटु आलोचना ओजस्विनी शैली में प्राप्त होती है। **महाप्राण निराला** की दो रचनाएँ—'बिल्लेसुर बकरिहा' तथा 'कुल्ली भाट' जिसे लोग उपन्यास की कोटि में रख देते हैं—मूलतः रेखाचित्र ही हैं। 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ' तथा 'पथ के साथी' ये तीन पुस्तकें **महादेवी वर्मा** के सफल रेखाचित्र के रूप में स्वीकार की जा चुकी हैं। महादेवीजी के चित्रों की रेखाएँ बहुत अधिक स्पष्ट और प्रभावोत्पादक हैं। **श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी** ('रामलाल पंडित', 'बन्दर की शिक्षा', 'शौर्य की एक कथा' आदि निबंध), **श्री रामवृक्ष बेनीपुरी** ('लाल तारा', 'माटी की मूरतें', 'गेहूँ और गुलाब', 'मील के पत्थर'), **श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त** ('पुरानी स्मृतियाँ और नये स्केच'), **श्री देवेन्द्र सत्यार्थी** ('रेखाएँ बोल उठीं'), **श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ० प्रेमनारायण टण्डन** आदि के प्रयत्न इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन रेखाचित्रों की प्रवृत्तियों को देखते हुए हमें इनके निम्नलिखित विभाग स्पष्टतः दिखाई पड़ते हैं—

१. संवेदनात्मक, २. स्नेहिल, ३. श्रद्धाभक्ति-समन्वित, ४. मनोवृत्तिमूलक, ५. प्रकृतिसौन्दर्यमूलक, ६. तथ्यात्मक, ७. ऐतिहासिक, ८. राष्ट्रीय तथा ९. व्यक्ति-प्रधान।

संस्मरण—हिंदी में संस्मरण-साहित्य का वास्तविक उद्भव **आचार्य चतुरसेन शास्त्री** की रचनाओं से माना जा सकता है। 'साहित्य का मोड़', 'उत्तप्त जलकण', 'मुबलिग पाँच रुपए' आदि इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। **श्री रामवृक्ष बेनीपुरी** की 'जंजीरें' भी एक सफल संस्मरण है। **महादेवी वर्मा** ('पथ के साथी'), **श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** ('ज्यादा अपनी कम पराई' तथा 'मंटो मेरा दुश्मन'), **कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर** ('जिन्दगी मुस्कराई'), **बनारसीदास चतुर्वेदी** ('संस्मरण'), **बच्चन** (नए पुराने झरोखे), **राहुल सांकृत्यायन** (जिनका मैं कृतज्ञ हूँ), **जगदीशचन्द्र माथुर** (दस तस्वीरें), **आचार्य शिवपूजन सहाय** (वे दिन, वे लोग), **श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी, श्री विनयमोहन शर्मा, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, श्री मोहनसिंह सेंगर** आदि के संस्मरण विशेष उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। **डॉ० प्रभाकर माचवे** ने अनेक महत्त्वपूर्ण संस्मरण लिखे हैं। **नलिनविलोचन शर्मा** का संस्मरण 'जैनेन्द्र कुमार' विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य शिवपूजन सहाय ने संपादकीय टिप्पणियों के रूप में अनेक महत्त्वपूर्ण संस्मरण लिखे हैं।

यात्रा-साहित्य

यात्रा-साहित्य ऐतिहासिक साक्ष्यों के रूप में तथा इतिहास की सामग्री के रूप में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। दुर्भाग्यवश संस्कृत-साहित्य में किसी स्वतंत्र साहित्य-विधा के रूप में इसका अस्तित्व नहीं पाया जाता। हाँ, दूतों की यात्राओं के नाम पर अनेक प्रसिद्ध रचनाएँ उपलब्ध हैं। हिंदी में भी पशु-पक्षियों की यात्राओं का प्रसंगवश उल्लेख मिलता है। 'पद्मावत' में हीरामन तोता की यात्रा प्राप्य है। पर इसे हम यात्रा-साहित्य की कोटि में नहीं रख सकते। संस्कृत में मेघ भी यात्रा करता है। कालिदास का मेघदूत मेघयात्रा का उत्तम उदाहरण है।

विषयानुसार हिंदी-यात्रासाहित्य को हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. पशु-पक्षियों की यात्राएँ, २. धार्मिक यात्राएँ, ३. शिकारियों की यात्राएँ, ४. सांस्कृतिक यात्राएँ, ५. साहित्यिक यात्राएँ, ६. ऐतिहासिक यात्राएँ, ७. भौगोलिक यात्राएँ तथा ८. राजनीतिक यात्राएँ।

पशु-पक्षियों की यात्राओं एवं उनके विवरणों पर कुछ साहित्य कुँवर सुरेश सिंह कालाकाँकर ने लिखा था पर उनका साहित्य उपलब्ध नहीं है। सन् १९०६ ई० में श्री सीताराम शाह ने 'दिलचस्प सच्ची कहानियाँ' लिखीं जिसमें पशु-पक्षियों का विवरण तथा उनकी यात्राएँ दी गईं। पं० श्रीराम शर्मा ने इस दिशा में कुछ सफल प्रयत्न किए।

धार्मिक यात्राओं पर हिंदी में अनेक लेखकों ने रचनाएँ की हैं, इनमें सर्वश्री दामोदर शास्त्री, कल्याणचन्द्र, देवीप्रसाद खत्री, सत्यदेव परिव्राजक, श्रीराम शर्मा, प्रो० मनोरंजन, लक्ष्मीनारायण टंडन, रामानंद ब्रह्मचारी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

शिकारियों की यात्राओं से संबद्ध साहित्य के प्रमुख निर्माता हैं सर्वश्री श्रीराम शर्मा, श्रीनिधि सिद्धांतालंकार, कर्नल सज्जनसिंह आदि।

सर्वश्री सत्यदेव परिव्राजक तथा सत्यभक्त ने **सांस्कृतिक यात्राओं** का विवरण प्रस्तुत किया है।

साहित्यिक यात्राओं का यात्रा-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। सौभाग्यवश कुछ प्रसिद्ध लेखकों ने यह साहित्य लिखा है। सर्वश्री रामनरेश त्रिपाठी, बनारसीदास चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा, बाबूराम सक्सेना, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, माखनलाल चतुर्वेदी, ब्रजकिशोर नारायण आदि ने अपनी यात्राओं का विवरण प्रस्तुत करके यात्रा-साहित्य की अभिवृद्धि की है।

ऐतिहासिक यात्राओं में रायसाहब सोहनलाल, श्री केदारनाथ, पं० मंगलदेव शर्मा, पं० सूर्यनारायण व्यास, श्री संतराम, श्री बनारसीलाल आर्य की रचनाओं की गणना आदर के साथ की जा सकती है।

इसी प्रकार **भौगोलिक यात्राओं** में श्री साधुचरण प्रसाद, स्वामी प्रणवानंद तथा महापंडित राहुल की रचनाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं।

सर्वश्री रामआसरे, यशपाल तथा गोविंदसिंह की राजनीतिक यात्राओं से संबद्ध रचनाओं से भी यात्रा-साहित्य में अभिवृद्धि हुई है।

सतीश कुमार की दो पुस्तकें 'बिना पैसे दुनिया का पैदल सफर' तथा 'आदमी दर आदमी' यात्रा-साहित्य की सर्वाधिक सशक्त वर्तमान शृंखला है। अज्ञेय की 'एक बूंद सहसा उछली' यात्रा-साहित्य को गौरव देनेवाला ग्रंथ है।

अंतर्वीक्षा-साहित्य

इस साहित्य-विधा का सूत्रपात भी आधुनिक युग एवं अँग्रेजी-साहित्य के प्रभाव की देन है। **डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'** ने 'मैं इनसे मिला' से इसका प्रारंभ किया। इसमें विभिन्न साहित्यिकों से साक्षात्कार का विवरण दिया गया था। तत्पश्चात् 'नई धारा' नामक पत्रिका में 'हम इनसे मिले' शीर्षक एक पृथक् स्तंभ चलाया गया, जिसमें अनेक लेखकों की अंतर्वीक्षाएँ प्रकाशित हुईं जिसके अंतर्गत डॉ० कुमार विमल, निशांतकेतु, डॉ० स्वर्णकिरण, डॉ० महेशनारायण तथा श्री नंदकुमार कोहिली के लेख रुचि से पढ़े गये। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आज भी भेंटों का विवरण देखने को मिलता है। प्रगति संतोषप्रद न होते हुए भी आशामय है।

रिपोर्ताज या सूचनांकन

रेडियो के साहित्य-क्षेत्र में प्रवेश के बाद से ध्वनिरूपक, रिपोर्ताज आदि साहित्य की नई विधाओं का उदय हुआ है। रिपोर्ताज में एक ही व्यक्ति किसी विशेष सूचना को नाटकीय ढंग से प्रस्तुत करता है। इसीलिए कुछ लोग इसे नाटकीय विधा के रूप में स्वीकार करना चाहते हैं, पर यह नाटक नहीं है। यह समाचारपत्रों की रिपोर्टों से भी भिन्न है। यह साहित्य अभी पुस्तकाकार नहीं आया है। हिंदी में रिपोर्ताज लिखनेवाले रचनाकारों में फणीश्वरनाथ रेणु, अज्ञेय, नामवरसिंह, ठाकुरप्रसादसिंह, जितेंद्रसिंह इत्यादि नाम उल्लेख्य हैं।

पत्र-साहित्य

पत्र-लेखन स्वयं एक कला है। इसका उद्देश्य व्यापक और सीमित दोनों हो सकता है। पर साहित्यिक दृष्टि से हम उन्हीं पत्रों के संग्रहों को महत्त्व देंगे जो सर्वजन्‌हिताय हों। हिंदी में **नेहरूजी** की पुस्तक के अनुवाद के साथ इसका आरंभ होता है। **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी** की मृत्यु के पश्चात् उनके पत्रों का संग्रह 'द्विवेदी-पत्रावली' के नाम से प्रकाशित हुआ। **स्वामी दयानन्द** के पत्रों का संग्रह भी प्रकाश में आया। श्री हरिशंकर शर्मा ने **पद्मसिंह** के पत्रों का संग्रह प्रकाशित किया। **गाँधीजी** के पत्रों के संग्रह का अपना राष्ट्रीय महत्त्व है।

दैनिकी-लेखन

इसे हम अभी ठीक-ठीक साहित्य-विधा के रूप में तब तक स्वीकार नहीं कर सकते जब तक वास्तव में डायरी के पृष्ठ बिना किसी बनाव-बिगाड़ के अपने मूल रूप में हमारे सामने आयें। दैनिकी या डायरी प्रतिदिन लिखी जानेवाली वस्तु है। यदि इस प्रतिदिन के लेखन या अंकन को ही कालान्तर में ज्यों का त्यों प्रकाशित कर दिया जाय तब तो इसे हरएक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकार कर सकते हैं, अन्यथा यह अन्य गद्यविधाओं की एक शैली बनकर रह जायगी।

सर्वप्रथम तोलस्तोय की सुप्रसिद्ध डायरी का हिंदी अनुवाद प्रकाश में आया। इसके बाद **श्री नरदेव शास्त्री** ने इस दिशा में प्रयत्न किया। **श्री इलाचंद्र जोशी** की 'मेरी डायरी के नीरस पृष्ठ' एक सुप्रसिद्ध रचना सिद्ध हुई। डॉ॰ धर्मवीर भारती, श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, डॉ॰ जगदीश गुप्त आदि के तत्संबद्ध प्रयास भी अभिशंसनीय हैं। निधनांतर डायरी के कुछ पन्ने जो प्रकाश में आये हैं उनमें नलिनविलोचन शर्मा तथा राजकमल चौधरी के नाम उल्लेख्य हैं।

● ● ●